देवयान, संस्कृति का विकास और वेद

डा० अरुणकुमार

२५/५

बहिन मैथा को
सस्नेह समर्पित

[illegible]
22.8.96

देवयान , संस्कृति का विकास और वेद

डा० अरुणकुमार

प्रकाशक-
'श्यामा – यदुवंश न्यास' की
ओर से कोषाध्यक्ष,
वसु विक्रम, ६७१ लाल बाग,
फैजाबाद, उ०प्र०, २२४००१

मूल्य - रू० 120/- मात्र

प्रथम संस्करण - ५०० प्रति

लेज़र कम्पोज़िंग - दिशा कम्प्यूटर कैम्पस,
बछड़ा रोड, फैजाबाद, उ०प्र०,
फोन नं० 814193

मुद्रक - रघुवंशी आफसेट प्रेस,
गद्दोपुर, फैजाबाद, उ०प्र०,
फोन नं० 812194

देवयान , संस्कृति का विकास और वेद

(अन्तरिक्ष से आये हुए देव संज्ञक वैज्ञानिकों द्वारा पृथिवी पर पुरुष —पशु को, आलम्भन—संज्ञपन की विधि से ,मनुष्य बना कर संस्कृति का बीजारोपण करने के सम्बन्ध में वैदिक प्रमाण)

कीर्तिशेष और यशः काय
स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक,
पं० भगवद्दत्त
तथा
पिता श्री यदुवंश सहाय
की
पावन और प्रेरक स्मृति में
सादर समर्पित

विषय सूची

प्रस्तावना

'देवयान, संस्कृति का विकास और वेद' नामक इस लघु पुस्तिका को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए जहां हर्ष हो रहा है, वहीं पिता श्री यदुवंश सहाय जी के बहुत चाहने पर भी उनके जीवन काल में ही इसे पूर्ण न कर पाने के लिए विषाद और अपने पर क्षोम भी हो रहा है। पर 'ईश्वर की ऐसी ही इच्छा थी', यह मान कर सन्तोष तो करना पर ही पड़ेगा।

इस पुस्तक में वेदों में वर्णित अति उन्नत वैज्ञानिक विकास का विहंगम चित्र प्रस्तुत करते हुऐ यह दिखाने का प्रयल किया गया है कि आज तक किए गए पुरातात्विक और भूगर्भ सम्बन्धी अनुसंधानों से ज्ञात प्रागैतिहासिक युग के किसी भी कालखण्ड में इनके विकास की कोई भी सम्भावना नहीं हैं। यह विकास अति सूक्ष्म और विकसित उपकरणों के अभाव में असम्भव था। गैलीलियो और हर्षल द्वारा विकसित दूरवीक्षण यंत्रों की उपलब्धियों का अन्तर मात्र एक उदाहरण है। लेखक को इस अन्तर की एक ही तार्किक परिणति दिखाई देती है। कभी किसी दूसरे ग्रह से आए हुए वैज्ञानिकों ने इस पृथिवी पर उद्योग और श्रम करते हुए ही कुछ प्रयोग भी किए थे, जिनके फलस्वरूप ही मनुष्य का विकास सम्भव हो सका था। जब ये वैज्ञानिक वापस जाने लगे थे तो वे अपने समस्त ज्ञान विज्ञान के मूलमंत्र के रूप में वेद और भावी जीवन की संभ्रमात्मक परिस्थितियों से निपटने के लिए उदाहरण बन सकने योग धर्मशास्त्र स्वरूप अपना इतिहास — पुराण दे गये थे। परवर्ती परम्परा में इन्हीं वैज्ञानिकों को 'देव' कहा गया है।

इस पुस्तक में पूर्वसूरियों द्वारा खिलाए जा चुके पुष्पों में कुछ को चुन कर ग्रथित की गई इस माला में लगा सूत्र—श्रम ही हमारा है, शेष सब उन्हीं का है। कुछ लोग इसे भूत—कथा कह कर हंसी उड़ायेंगे। हमें उनकी कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि लोग जिन बातों को नहीं समझ पाते हैं, उसकी हंसी उड़ाते ही हैं। कुछ लोग उपेक्षा भी करेगें, परन्तु हम भी जानते हैं कि उपेक्षा अज्ञान से ही उपजती है। कहा भी गया है कि अहंमन्यता और अज्ञान की सीमा रेखा अति सूक्ष्म और निरन्तर परिवर्तनशील होती है। कुछ लोग अपनी आस्था और विश्वास का विरोध देख कर रुष्ट भी होंगे, पर हम उनसे इतना ही कहना चाहेंगे कि आस्था के अनुबन्ध और विश्वास ज्ञान का आदि नहीं, उसका अन्त होते हैं। इस शताब्दी के मूर्धन्य वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन ने कहा था। कि "कैसी दुखद स्थिति है। हम अणु का विखण्डन तो कर चुके हैं पर अभी भी दुराग्रह पूर्ण पूर्वाग्रहों का खण्डन करने में समर्थ नहीं हो सके हैं"। हमें पूर्वाग्रहों का त्याग कर, सभी अनपेक्षित सम्भावनाओं का परीक्षण तर्क बुद्धि से ही करना होगा।

इसके पूर्व कि पाठक पुस्तक को पढ़ना प्रारम्भ करें हम अपने मनो—मस्तिष्क में हुए इसके विकास के सम्बन्ध में कुछ बताना आवश्यक समझते हैं। जहां तक स्मरण आता है, ईस्वी सन १९४९ में हाई स्कूल की परीक्षा के बाद ग्रीष्मावकाश, में मुझे स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत सत्यार्थप्रकाश पढ़वाया गया था। दिन भर मैं पढ़ता और माता जी सुनती थीं। उसके पढ़ चुकने के बाद 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' स्वयं पढ़

ली थी। किन्तु ध्यान ईश्वर द्वारा आदि में वेद को तीन ऋषियों को दिए जाने पर अटक गया और इस विषय में मेरी बालबुद्धि की पिता जी द्वारा दिए गए उत्तरों से सन्तुष्टि नहीं हुई होगी क्योंकि उसके बाद बहुत दिनों तक मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों से हठ पूर्वक दूर रहा था।

काल क्रम से ईस्वी सन् १९५५ में एम. ए. करके गुरुवर डा. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के निर्देशन में मुझे महाभारत पर शोध करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तभी उन्हीं के प्रेरणा से ही जर्मन और फ्रेन्च भाषाएं पढ़ी और शोध के सम्बन्ध में तमाम ब्राह्मण और पुराण साहित्य का पारायण किया था। महाभारत में उल्लिखित राजाओं के नामों को ढूढ़ने के लिए शब्द सूचियों और सायण तथा अन्य अनुवादों के सहारे संहिताएं भी देखीं पर तभी दैववशात् पिताजी के परिचित पं. गंगा प्रसाद उपाध्याय से पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत "देवापि और शन्तनु के आख्यान वा वास्तविक स्वरूप" नामक लघु पुस्तिका मिली थी। उसे पाकर तो वेद में इतिहास सम्बन्धी मेरी दृष्टि ही बदल गई। इस बीच गुरुवर डा. पाण्डेय गोरखपुर और फिर वहां से जयपुर चले गए और मुझे श्री गोवर्धन राय शर्मा का निर्देशन स्वीकार करना पड़ा था। मेरी बदल चुकी इतिहास दृष्टि और विश्वविद्यालय की राजनीति, दोनों ने ही मुझे शोध नहीं पूरा करने दिया और मुझे ईस्वी सन् १९६० के प्रारम्भ में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की मानचित्र शाखा में नियुक्ति स्वीकार करके नागपुर चला जाना पड़ा था।

नागपुर में पुरातात्विक मानचित्रावली के लिए तथ्य संग्रह करते हुए हमें पुरातत्व के सभी विभागों की आधिकारिक पुस्तकें पढ़ने का सुअवसर मिला था। वहीं जर्मन भाषा में लिखित पुरातात्विक मानचित्रावली का अनुवाद करते समय योरोपीय पुरातत्व से प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित हुआ था। इसी बीच अपने तत्कालीन अधिकारी द्वारा किए गए कुनत्तूर के बृहत्शिला शवगृहों के उत्खनन की आख्या के लिए वैदिक साहित्य में उत्तरक्रिया सम्बन्धी संदर्भो का संग्रह भी करना, पड़ा था। उन्हीं की प्रेरणा से "वेदों की भौतिक संस्कृति" शीर्षक के अन्तर्गत तथ्य संग्रह का कार्य भी प्रारम्भ किया था। बाद में भाई डा० भगवान सिंह की पुस्तक के प्रकाशित हो जाने से इस विषय पर मुझे कुछ और लिखने की आवश्यकता नहीं रही। उन्होंने सभी पक्षों को लगभग उसी तरह समझा—समझाया है, जिस तरह मैं सोच रहा था।

शीघ्र ही ईस्वी सन् १९६५ में मुझे उत्खनन शाखा से संबद्ध कर दिया गया। वहां रहते हुए मुझे भारत में उपलब्ध इस विद्या के श्री ब्रजवासी लाल तथा श्री बालकृष्ण थापर जैसे अन्यतम गुरुओं से उत्खनन सीख कर श्री जगत्पति जोशी और श्री कृष्णमुरारी श्रीवास्तव जैसों के साथ अभ्यास करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसी अवधि में हमने भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा स्थापित 'स्कूल (अब इंस्टीच्यूट) आफ आर्क्यालाजी' से डिप्लोमा तथा डा० शान्ताराम भालचन्द्र देव के निर्देशन में सारस्वतोत्तर कांस्ययुगीन संस्कृतियों पर ईस्वी सन् १९७० में शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करके पी. एच. डी. की उपाधि भी अर्जित कर ली थी। इस उपाधि के मिलते ही मुझे भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला से आमंत्रण मिला था, परन्तु वहां हम सुरकोटड़ा के उत्खनन से प्राप्त मृत्भाण्डखण्डों का अध्ययन—विश्लेषण पूरा करके ही जा सके थे।

ईस्वी सन् १६७३–७५ की अवधि में शिमला प्रवास हमारे बौद्धिक क्षितिज के विस्तार की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कहा भी गया है कि *"एकं शास्त्रमधीयानो न याति शास्त्र निर्णयम्"* (सुश्रुत संहिता, आरम्भ) अर्थात एक ही विषय को पढ़ने वाला शास्त्र के गूढ़ तत्व का निश्चय करने में असमर्थ होता है और *"भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति"* (यास्क १.६.१३.१२) अर्थात अनेक विषयों का ज्ञाता ही प्रशंसा पाता है। वहां रहते हुए हमें वेदज्ञ डा० सिद्धनाथ शुक्ल (अब दिवंगत), गणितज्ञ डा० कायन्दे, नृतत्वज्ञ डा० सुभाष मलिक, मध्यकालीन इतिहास के अरबी और फारसी स्रोतों के अन्यतम जानकर डा० शमूम तथा दर्शन के डा० राम चन्द्र गांधी और डा० प्रताप चन्द्र जैसे विविध विषयों के ज्ञाताओं से चर्चा करने और सीखने– समझाने का अवसर ही नहीं मिला, वरन् ज्ञान–विज्ञान की आधुनिक स्थापनाओं के अनेक छिद्र भी प्रकट होने लग गये थे।

ईस्वी सन् १६६१ के दिसम्बर मास में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के शताब्दी समारोह में दिल्ली जाकर रहने की अवधि में हमारा परिचय श्री सत्यश्रवा से हुआ था। संयोगवश उनके घर जाने पं० भगवद्दत्त जी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं उनका 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' तथा सद्यः प्रकाशित 'भारत का बृहद् इतिहास' पढ़ चुका था। अतः उन जैसे अगाध पाण्डित्य के धनी व्यक्ति द्वारा मुझ जैसे अल्पपठित व्यक्ति की बालिश शंकाओं का उत्तर देने से मेरी आचार्य पूजन की वृत्ति को प्रोत्साहन मिला। उसके बाद तो मैं जब भी दिल्ली जाता, उनसे मिलकर अपने अध्ययन में उठने वाली शंकाओं का समाधान प्राप्त करने अवश्य जाता था। मैंने उन्हीं से लेकर 'भाषा का इतिहास' और 'The Story of Creation' पढ़ी थी, तात्कालिक आवश्यकता के अनुरूप कुछ तथ्यों को लिख भी लिया था। यद्यपि अब वे मेरे पास नहीं हैं, परन्तु उनके स्मरण से ही मुझे बहुत से उपयोगी संदर्भो को खोजने में सहायता मिलती रही है।

ईस्वी सन १६६३ में पिताजी ने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया और ज्वालापुर में स्थाई रूप से रहने लगे थे। उनसे मिलने जाना होता रहता था। वहीं स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक से मिलने का भी सौभाग्य मिला। मैं उनकी पूर्वाश्रम में लिखित पुस्तक 'यमपितृपरिचय' पढ़ चुका था। अब तो कार्यवश दिल्ली जाने अथवा अवकाश में ज्वालापुर जाने पर इन दोनों महापंडितों से मिलना और मिल कर अपनी जिज्ञासाएं शान्त करना मेरा स्वभाव बन चुका था। ये दोनों ही विद्वान अनेक बार मेरे तर्को से असहमत होते हुए भी, यदा कदा मेरे तर्को की पुष्टिकरने वाले संदर्भ दिखला और उनकी मेरे मन्तब्यानुकूल व्याख्या बताकर, मुझे सदा प्रोत्साहित ही किया करते थे।

ईस्वी सन् १६७५ के मध्य में शिमला से लौटने पर शीघ्र ही मेरी प्रोन्नति हो गई और दो–तीन स्थानों पर भटकने के बाद मई सन १६७७ में आगरा आंकर कुछ स्थायित्व मिला था। वहीं से देहरादून जाते समय मार्ग में पढ़ने के लिए कुछ न होने के कारण Erich von Daniken की 'Chariots of the Gods?' ले ली थी। उसके पढ़ते ही अब तक पढ़ी हुई कितनी ही अबोधगम्य बातें एकाएक स्पष्ट होती चली गईं। मैंने ज्वालापुर में पिताजी से चर्चा की परन्तु वे अधिक प्रभावित नहीं हुए थे। बाद में मैं उन्हीं के साथ स्वामी ब्रह्ममुनि से मिला। उन्होंने von Däniken की स्थापनाओं के

आधार पर मेरा भारतीय इतिहास और परम्परा का विश्लेषण ध्यान से सुना ही नहीं, मुझे कुछ आवश्यक संदर्भ ग्रन्थों का निर्देश देते हुए, आशीर्वाद स्वरूप स्वसम्पादित और संद्यः प्रकाशित 'बृहत् विमान शास्त्र' देकर कार्य को बढ़ाने का आदेश भी दिया था। मैंने भी उत्साह में ऐसा करने का आश्वासन दे दिया था।

पर एसा आश्वासन देते समय मुझे क्या पता था कि भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के मंडलों में नियुक्ति स्वाध्यायशील व्यक्ति के लिए अभिशाप है। वहां के प्रशासनिक उत्तरदायित्वों की चक्की में पिसती अपनी जिज्ञासा को बचाने के लिए मैंने किस किस की प्रार्थना नहीं की, परन्तु मुक्ति मिली केवल ईस्वी सन् १९९३ के अन्त में अवकाश प्राप्त करने पर ही। यहां तक श्री शशांक भूषण राय के आग्रह पर 'हस्तिनापुर की स्थिति' के संबंध में छोटा सा लेख लिखने के लिए भी मुझे ४५ दिनों का अवकाश लेना पड़ा था।

अस्तु! अवकाश प्राप्त करने के उपरान्त मैं फैज़ाबाद आ गया था। विचार था कि यहां एक विश्वविद्यालय, दो दो स्नातकोत्तर महाविद्यालय, एक गुरुकुल तथा अनेक संस्कृत पाठशालाएं होने से मुझे सभी आवश्यक ग्रन्थ सुविधा पूर्वक मिल जाएंगे। परन्तु एसा कुछ भी नहीं हो सका और मुझे अवकाश प्राप्त करने के उपरान्त मिली धनराशि में से कई सहस्त्र रुपए व्यय करके अनेक महार्घ ग्रन्थ जुटाने पड़े हैं। तथापि सभी वाञ्छित और आवश्यक ग्रन्थ नहीं उपलब्ध हो सके हैं। परन्तु अब मेरी दृष्टि जो बचपन से ही अत्यन्त दुर्बल रही है, —१९ से —२० हो गई है और विशेषज्ञ का कहना है कि आंख का अत्यधिक जर्जर हो चुका पर्दा कभी भी फट सकता है और उसका कोई उपचार भी नहीं है। ऐसी स्थिति मेरा अन्य संदर्भो के लिए रुकना घातक हो सकता है। मेरी अन्य दो अधूरी पुस्तकों In defence of Manu and Manuvada और Archaeology and Indian Historical Tradition — को तो मेरा कनिष्ठ पुत्र चि. भुवन विक्रम तथा पुत्रवधू सौ. सुश्री, जो दोनों ही पुरातत्व में विशेष योग्यता अर्जित कर चुके हैं, मेरे द्वारा संकलित तथ्यों और प्रारूप के आधार पर पूरा कर सकते हैं परन्तु उन दोनों के ही संस्कृत के आवश्यक ज्ञान के अभाव में प्रस्तुत पुस्तक तो मुझे ही पूरी करनी होगी। अतः जो कुछ भी जितना उपलब्ध था, उसी के आधार पर, अनेक स्थानों पर मात्र संकेत करके ही, यदि किसी प्रकार इस पुस्तक को पूरी कर सका हूं, तो इसे ईश्वर की कृपा ही मानना होगा। आशा करता हूं कि इससे सुविज्ञ पाठकों की जिज्ञासा अवश्य जाग्रत हो सकेगी और उन्हीं में से कोई समानधर्मा अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों का संकलन—समायोजन कर लेखक द्वारा प्रस्तुत तर्कों में आवश्यक सुधार कर, उसके कार्य को पूर्णता प्रदान करेगा। अब यह पुस्तक आपके सामने है।

इसके **प्रथम अध्याय** में प्रजापति, असुरों और देवों के कहीं और से आने और पृथिवी पर अधिकार करने के लिए उनेक आपसी संघर्ष आदि के प्रमाण एकत्र किए गए हैं। इसके अनन्तर देवों द्वारा किए गए पशुबन्ध, फिर पुरुष के आलम्भन— संज्ञपन की चर्चा करते हुए, *आलम्भन—संज्ञपन के नए अर्थ सुझाए गए हैं*। इन संज्ञप्त पुरुषों के लालच, उनकी मांगें और उनसे त्रस्त हुए देवों के छिप कर संज्ञप्त पुरुषों की परीक्षा लेने के संदर्भो का उल्लेख हुआ है। इसी अध्याय के दूसरे खण्ड में देवों के प्राचीन

निवास स्थान—स्वर्ग—की स्थिति और वहां वापस पहुंचने के याज्ञिक साधनों का उल्लेख करते हुए, यज्ञ और मेध शब्दों की पुरानी व्याख्या को नए परिवेश में प्रस्तुत किया है।

दूसरे अध्याय में यज्ञ स्थल, उसकी परिधि, संस्थित चितियों और असंस्थित चितियों का उल्लेख करके उनका पार्थक्य दिखलाते हुए दूसरी को देवयान बतलाया गया है। आगे वेदि, अग्नि के त्रिविध रूप और उसके विविध स्रोत और देवयान में प्रयुक्त होने वाले इष्टका, चमस, महावीर, प्रवर्ग्य तथा शिवलिङ्.ग आदि रूपों का वर्णन किया गया है। इसके बाद चिति अर्थात देवयानों के श्येन, यूप—वज्र आदि रूपों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसी अध्याय के दूसरे खण्ड में ऋक् संहिता में वर्णित यानों, उनमें प्रयुक्त होने वाले अश्वों, देवयान के आकाशीय मार्ग, मार्ग में और गंतव्य पर पहुंचने के बाद पृथिवीवासियों से संवाद स्थापित करने की व्यवस्था, देवों के मुखौटे, विकिरण से होने वाली क्षति की चिकित्सा, काल विस्फारण के सिद्धान्त और सदेह स्वर्ग पहुंचने के प्रंसगों का उल्लेख और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अन्त में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि याज्ञिक कर्मकाण्ड में अन्तरिक्ष यात्राओं के विस्मृत हो जाने पर उस अबोधगम्य सत्य का अभिनय ही किया जाता है।

तीसरे अध्याय में वेदों और वैदिक साहित्य में उपलब्ध सृष्टि—उत्पत्ति सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण संकेतों का आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं से साम्य रेखांकित करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि दोनों में आज जो थोड़ा अन्तर दिखता है वह आधुनिक विज्ञान की सीमित पहुंच के कारण ही है। यहीं वेदों में आए *इन्द्र और वृत्र के संघर्ष की एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत की गई है।*

चौथे अध्याय में वेद मूलक कल्प, मन्वन्तर जैसी सुदीर्घ काल गणना और गणित का प्राचीनता, ज्योतिर्विज्ञान तथा दीर्घ कालीन इतिहास की परम्पराओं का उल्लेख और यथावसर उनकी अन्यान्य देशों की अनुश्रुतियों से तुलना की गई है। यहीं जलप्लावन की सुविदित घटना के साथ ही *सोमाहरण के आख्यान की ओर सम्भवतः प्रथम वार ही ध्यान आकर्षित करते हुए,* उनके विदेशों में प्रचार—प्रसार की समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पांचवे अध्याय में वेदों में वर्णित शरीर विज्ञान, औषधि, आयुर्विज्ञान, शल्य क्रिया, पश्वायुर्वेद तथा कृन्तकीकरण के ज्ञान के प्रसंगों का उल्लेख करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि हमारी स्थापनाओं के सत्य होने की सम्भावना वेद में ज्ञात तथ्यों से पुष्ट होती है। यहीं *पश्वायुर्वेद के संदर्भ में अश्वमेध की नई व्याख्या का सुझाव* भी दिया गया है और ब्रह्मा की मानसी सृष्टि को कृन्तकीकरण की विधि ही बताया गया है।

छठे अध्याय में जीव की उत्पत्ति, पुरुष और मनुष्य की उत्पत्ति सम्बन्धी वैदिक और आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं—स्थापनाओं का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए, ज्ञान और ज्ञान का प्रचार—प्रसार करने वाले आद्य ऋषियों की उत्पत्ति की वैदिक अवधारणाओं को यथातथ्य दिखाने का प्रयास किया गया है।

सातवें और अन्तिम अध्याय में आधुनिक विज्ञान की नवीनतम स्थापनाओं के

आधार पर एतिहासिक विकासवाद का खोखलापन दिखाते हुए, पुरातत्व और नृतत्व विज्ञान द्वारा संयोजित इतिहास को गति देने में देवों और असुरों की महत्वपूर्ण किन्तु अप्रज्ञात भूमिका की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लेखक के अपने अनुमान प्रस्तुत किए गए है। यद्यपि वहीं पर इन अनुमानों की पुष्टि करने वाली अन्य अनुश्रुतियों के प्रमाण भी प्रस्तुत किए गए हैं, तथापि हम यह बता देना चाहेगें कि *इन अनुमानों के प्रति हमारा कोई आग्रह नहीं हैं। इन अनुमानों के स्वीकार अथवा अस्वीकार से हमारी देवयान संम्बन्धी मूल स्थापना की सिद्धि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता*। आगे, भारतीय और अनेक भारतेतर अनुश्रुतियों के आधार पर देवों के अवतरण स्थल और उनकी कृन्तकीकरण की प्रयोगशाला के हिमालय के ऊंचे क्षेत्र में होने की पुष्टि की गई है। यहीं से मनुष्यों की क्रमशः विकसित होने वाली अनेक प्रजातियां समस्त भूमण्डल में फैली थीं। आगे मिस्र, योरोप तथा दक्षिण अमरीका में मिलने वाले स्थापत्य को पृथिवी पर देवों के पहले ही स्थापित हो चुके असुरों की कृति बताकर प्रमाणों के विश्लेषक तर्क और अनुमान प्रस्तुत किए गए हैं। आगे, कुछ अन्य अप्रत्यक्ष किन्तु पुष्ट प्रमाणों के आधार पर प्राचीन काल में न्यूनातिन्यून १३ सहस्र वर्ष पूर्व पृथिवी पर देवयानों के अस्तित्व की सम्भावना पर विचार किया गया है। तदुपरान्त, आदर्शोन्मुखी आन्दोलनों से अप्रभावित कुछ संस्कृतियों की उन अनुश्रुतियों का उल्लेख किया गया है जिनसे आर्ष परम्परा की अवधारणाओं और हमारी स्थापनाओं का समर्थन होता है। इसके बाद भारतीय इतिहास लिखने में मिलने वाली असफलताओं के कारणों का संक्षिप्त विश्लेषण करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि पौराणिक इतिहास के दैवी और मानुषी अंशों के श्रम पूर्वक पृथक करनें के बाद ही पृथिवी का इतिहास लिखा जा सकेगा। अन्तिम पृष्ठों में आधुनिक विज्ञान के अनुसंधानों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर असुरों के मंगलवासी होने और देवों के सप्तर्षि लोक के पास के किसी अन्य ग्रह से आने की सम्भावनाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है।

उपसंहारात्मक आठवें अध्याय में वेद और विज्ञान के लोप होने के कारणों, प्रक्रिया और कालक्रम पर विचार करते हुए, उसकी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा सुझाए गए उपायों को दुहराया गया है।

इस पुस्तक को लिखने में दृष्टि Erich von Daniken की अनेक पुस्तकों तथा प्रोत्साहन स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक से मिलने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हमारे स्वाध्याय में पं. भगवद्दत्त के व्यक्तित्व और उनके तथा पं. युधिष्ठिर मीमांसक के ग्रन्थों का अत्यधिक योगदान रहा है। इधर स्वामी विद्यानन्द सरस्वती के ग्रन्थों से भी बहुत सहायता मिली है। एक अंश तो उन्हीं के आधार पर ही लिखा गया है। हम इन सब महान विद्वानों का अभार स्वीकार करते हैं और यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इस पुस्तक के सभी गुण इन्हीं के कारण है और जो दोष हैं वे उन्हें ठीक से न समझ पाने के कारण ही हुए होंगे। कहा गया है कि प्रत्येक पक्षी अपनी शक्ति भर ही उड़ पाता है— *'पतन्ति खे ह्यात्मसमं पतत्रिणः'*।

इस पुस्तक को लिखने में हमारी मति और शक्ति की सीमा थी। एक सीमा और थी, उसका उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है। गत ४० वर्षों माता—पिता और

पत्नी को लिखे गए पत्रों के अतिरिक्त हमें कभी मातृभाषा हिन्दी में लिखने का अवसर नहीं मिला था। मगर पौत्रों, चिरन्जीवि *चारु विक्रम* और *अनघ विक्रम* का मुंह देखकर ही इस पुस्तक को हिन्दी में लिखने का विचार आया ताकि वे इसे यथा शीघ्र पढ़ सकें। इस कार्य में अर्थात भाषा को पठनीय बनाने में हमें अपनी पत्नी *श्रीमती कुमुद* का बहुत सहयोग मिला है। वे हमारी धन्यवाद की पात्र हैं और फिर धन्यवाद देने में कृपणता क्यों करूं। वे हमारी अर्धांगिनी हैं अतः आधा हमें लौट ही आएगा!

एक त्रुटि की ओर सहृदय पाठकों का ध्यान आकर्षित करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूँ। मरे भरसक प्रयत्नों के बाद भी जहां बिन्दु और हलन्त् चिन्हों के सम्बन्ध में अत्यधिक असावधानी हो गई है, वहीं कम्प्यूटर के कारण ऊर्ध्वरिफ के साथ का अनुस्वार चिन्ह, बिन्दु , विलुप्त हो गया है इन ज्ञात दोषों के अतिरिक्त भी त्रुटियो का रह जाना असम्भव नहीं है। आशा करता हूँ कि सुविज्ञ पाठक ऐसी सभी त्रुटियों को क्षमा करते हुए, कथन के दोष को अनुमान से सुधारते हुए, कथ्य पर अधिक ध्यान दें।

हम जानते है कि कुशल से कुशल अनुमान भी अन्य विद्वानों द्वारा समय आने पर अन्यथा कर दिया जाता है — '*यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यथैवोपपाद्यते*' (भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १.३४)। हम तो उतने कुशल भी नहीं है। यदि इस पुस्तक से लोगों को कुछ सोचने की प्रेरणा मिलेगी, चाहे वह हमारी स्थापनाओं के खण्डन के लिए ही क्यों न हो, तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे।

श्रावण शुक्ला सप्तमी, संवत् २०५३. अरुणकुमार
(तदनुसार २१ अगस्त, १९९६)

सन्दर्भ ग्रन्थ संकेत सूची

अथर्व	—	अथर्ववेद
ऐ .आ.	—	ऐतरेय आरण्यक
ऐ .ब्रा.	—	ऐतरेय ब्राह्मण
ऋ.	—	ऋग्वेद
यजु	—	यजुर्वेद
क. उ.	—	कठोपनिषद
क. क. सं.	—	कपिष्ठल कठ संहिता
का. ब्रा.	—	काठक ब्राह्मण
का .सं.	—	काठक संहिता
कौ. ब्रा.	—	कौषीतकि ब्राह्मण
कौ. ब्रा. उ.	—	कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद
गो: ब्रा.	—	गोपथ ब्राह्मण
छां .उ.	—	छान्दोग्य उपनिषद
जै. ब्रा.	—	जैमिनीय ब्राह्मण
ता. ब्रा.	—	ताण्डय ब्राह्मण
तै. आ.	—	तैत्तिरीय आरण्यक
तै. उ.	—	तैत्तिरीय उपनिषद
तै ब्रा.	—	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. स.	—	तैत्तिरीय संहिता
बृ .उ.	—	बृहदारण्यक उपनिषद
बृह द्देवता		
म. ना. उ.	—	महानारायणोपनिषद
मु. उ.	—	मुण्डकोपनिषद
मै .सं.	—	मैत्रायणी संहिता
श. ब्रा.	—	शतपथ ब्राह्मण
शां. आ.	—	शांखायन आरण्यक
अ. शा.	—	कालिदास विरचितम् अभिज्ञान शाकुन्तलम्
आ. ध. सू.	—	आपस्तम्ब धर्म सूत्र
का. श्रौ. सू.	—	कात्यायन श्रौत सूत्र
कौ. अ. शा.	—	कौटिलीय अर्थशास्त्रम्
गीता	—	चरक संहिता
धम्मपद	—	
धातुपाठ		
न्यायसूत्र		

नाट्यशास्त्र — भरत मुनि विरचितम्
पतञ्जलि कृत व्याकरण महाभाष्य
बृ.स. — वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता
भा. पु. — श्रीमद् भागवत पुराण
मनुस्मृति —
म. भा. — महाभारत
यास्क — निरुक्त
योगसूत्र — पतञ्जलि मुनिकृत
वा .पु. — श्री वायु पुराण
विष्णु धर्मोत्तर पुराण
वि.पु. — श्री विष्णु पुराण
शुक्रनीतिसार
सुश्रुत संहिता
सूर्यसिद्धान्त

हिन्दी - संस्कृत :

अग्रवाल, डा० वासुदेव शरण, १९५३, *मेघदूत*, दिल्ली.
उपाध्याय, पं० गंगा प्रसाद, १९४६, *ऐतरेय ब्राह्मण* (हिन्दी), प्रयाग.
    १९५६, *वैदिक संस्कृति*, दिल्ली.
    १९६७, *शतपथ ब्राह्मणम्* (सानुवाद),दिल्ली.
गुरुदत्त , १९६३, *इतिहास की भारतीय परम्पराएं*, दिल्ली.
गंगा प्रसाद, १९७२, *धर्म का आदि स्रोत*, अजमेर.
चतुर्वेदी, पं० गिरिधर शर्मा, १९६०, *वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति*, पटना.
जगदीश्वरानन्द सरस्वती, स्वामी, १९८३, *शुक्रनीतिसार*, बहालगढ.
जोशी, पं० लक्ष्मण शास्त्री, १९५७, *वैदिक संस्कृति का विकास*, बम्बई .
तिवारी, डा० भोलानाथ, १९६२, *भाषा विज्ञान*, इलाहाबाद .
त्रिपाठी, डा० श्री कृष्ण मणि,१९८०, *पौराणिक राजार्षिवंश वर्णन समीक्षा* (संस्कृत), वाराणसी.
दयानन्द सरस्वती, स्वामी, १९५८, *ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका* ,दिल्ली .
    १९७०, *सत्यार्थ प्रकाश*, दिल्ली.
    १९७१, *चतुर्वेद विषय सूची*, अजमेर.
    १९७४, *संस्कार विधि*, बहालगढ़.
    १९७५, *भागवत खण्डनम्* (मीमांसक, बहालगढ़).
        ऋग्वेद भाष्यम्, अजमेर.

यजुर्वेद भाष्यम्, अजमेर.
द्विवेदी, डा० कपिल देव, १६६३, *वेदों में आयुर्वेद*, ज्ञानपुर.
ब्रह्ममुनि परिव्राजक, स्वामी, १६७७, *भरद्वाज मुनि कृत बृहद् विमान शास्त्र*, दिल्ली.
भगवद्दत्त, १६६४, *निरुक्तशास्त्रम* (हिन्दी भाष्य), बहालगढ़.
१६७४, *वैदिक वाङ्मय का इतिहास*, ब्राह्मण और आरण्यक, दिल्ली.
१६७८, *वैदिक वाङ्मय का इतिहास, अपौरुषेय वेद और शाखा*, दिल्ली.
१६६४, *भारतवर्ष का बृहद इतिहास ,भाग १*, दिल्ली.
भगवान सिंह,१६६१,(१६८७), *हड़प्पा सभ्यता ओर वैदिक साहित्य*, दिल्ली.
मीकांसक, पं० युधिष्ठिर, १६५७, *वैदिक स्वर मीमांसा*, अजमेर.
१६६५,(सं.), *काशकृत्स्न धातु व्याख्यानम्*, अजमेर.
१६७३, (सं.), *स्वामी दयानन्द विरचितम् ऋग्वेद भाष्यम्, ३ भाग*, बहालगढ़
१६७५,(सं.), *दयानन्दीय लघुग्रन्थ संग्रह*, बहालगढ़,
१६७७, *जैमिनीय मीमांसा शाबर भाष्यम्, भाग—१*, बहालगढ
१६७६, *वैदिक छन्दोमीमांसा*, बहालगढ़,
१६८३, *स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास* , बहालगढ़
१६८४, *संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग—१*, बहालगढ़.
१६८५,(सं.), अज्ञात कर्तृक *श्रौत पदार्थ निर्वचनम्* (संस्कृत), बहालगढ़.
१६६१—६२, *वैदिक सिद्धान्त मीमांसा*, २ भाग, बहालगढ़,
१६६३, *जैमिनीय मीमांसा, शाबर भाष्यम्*, भाग ७, बहालगढ़,
यदुवंश सहाय, १६६२ (१६७१), *महार्षिदयानन्द*, इलाहबाद .
विद्यानन्द सरस्वती, स्वामी, का १६८८, *भूमिका भास्कर*, बम्बई.
१६८६, *सृष्टि विज्ञान और विकासवाद*, बम्बई.
१६८६, *आर्यो का आदि देश और उनकी सभ्यता*, बम्बई.
१६६२, *सत्यार्थ भास्कर*, बम्बई.
विद्यालंकार, पं० विश्वनाथ, १६७५—६२, *अथर्ववेद भाष्यम्*, ६ भाग, बहालगढ़.
विद्यासागर, पं० मदनमोहन, १६८०, *संस्कार समुच्चय* , दिल्ली.
विशुद्धानन्द, आचार्य, १६६१, 'ह्रदय मीमांसा', *दयानन्द संदेश*, जनवरी, दिल्ली.
शर्मा,डा० अभयदेव, १६६४, *वेद में सृष्टिविचार*, दिल्ली.
शर्मा डा०रामविलास, १६६४, *पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद*, दिल्ली.
शास्त्री, आचार्य उदयवीर,१६८४, *वैशेषिक दर्शनम्*, गाजियाबाद.
१६८४, *पातञ्जल योगदर्शनम्*, गाजियाबाद.
१६८७, *सांख्यदर्शनम्*, गाजियाबाद.
१६६१, *न्यायदर्शनम्*, दिल्ली.
१६६२, *सरस्वती की खोज और महाभारत युद्ध काल*, अजमेर.
शास्त्री, वीरेन्द्र,१६७८, वैद सृष्टि संवत्सर,' *वेदज्योति*, २.१—११.
सिद्धान्त शास्त्री, पं० व्रतपाल, १६७८, *वैदिक सृष्टि विज्ञान*, हैदराबादं.
सूर्यकान्त, डा०, १६६३, *वैदिक कोश*, वाराणसी.

English:

Atkinson, R.J.C; 1960, *Stone Henge*, Pelican.

Atkinson, R.J.C; Piggott,S; and Stone, J.F,C, 1952, "The Excavations of two additional holes at stone henge, *Antiquaries Journal*, 32.

Baity, E., 1973, Archaeoastronomy and Ethnoastronmy so for," *Current Hnthropology*, oct.

Bertitz. C; 1977, *The mystery of Atlantis*, Panther.

Bhagavaddatta, n.d. *Western Indologists-A Study in motives*, Delhi.

Bhargava, P.L., 1971 (1956), *India in the Vedic Age*, Lucknow.

Bible, The Holy (Hindi), n.d., Bangalore.

Blavatsky, Madam, *Secret Doctrine*, London.

Braidwood, R.J., 1959. *Prehistoric Men*, Chicago.

Caland, W., 1931, *Pancavims'a Brah mana* (Tr.), Calcutta,.

Carring ton, R., 1958, *A Guide to Earth History*, Pelican.

Charon, J.E., 1979, *Geist der Materie*, Vienna-Hamburg.

Clark, J.C., 1959, *The Pre-history of Southern Africa*, Pelican.

Cole, Sonia, 1954, *The Prehistory of East Africa*, Pelican.

Collin Maine, 1985, *The Bible: What It Says*, Delhi.

Cottrel, L., 1953, *The Bull of Minos*, Pan.

Danielson, B., 1957, *Forgotten Islands of the South Seas*, London.

Daniken, Erich von, 1975, The Gold of the Gods, Corgi.

1976-1, *Chariots of the Gods?*, Corgi.

1976-2, *Return to the Stars*. Corgi.

1981-1, *Signs of the Gods*, Corgi.

1981-2, *In Search of Ancient Gods*, Corgi.

1983, *Pathways to the Gods*, Corgi.

1986, *The Gods and their Grand Designs*, Corgi.

Dikshitar, Dr. R., 1955, *The Matsys Purana - A study*, Delhi.

Eiseley, Loren, 1969, *Von der Entstehung des lebens und der Naturgeschichte des Menschen*, Fisher Bucherie.

Elst, Koenraad, 1993, *Psychology of Prophetism- A seculor look at the Bible*, Delhi.

E.R.E., *Encyolopaedia of Religion and Ethics.*

Fairservis, W.A.Jr., 1969, *The Origins of Oriental Civilisation*, Mentor.

Fast, Howard, *Spartacus*.

Forsyth, F., 1994, *The Fist of God.*

Frawley, David, 1993, *Gods, Sages and Kings- Vedic Scerets of Ancient Civilisation,* Delhi.

1994, *The Myth of the Aṛyan Invasion*, Delhi.

Goel, Sitaram, 1991, *Hindu Temples- What happened to them: The Islamic Evidence*, Delhi.

Gordon- Childe, V., 1951, *Social Evolution*, London.

Man Makes Himself, *Thinkers lib*.

1954, *New Light on the Most Ancient East*, London.

Gould, F.G., 1912, *Youths Noble Path*, London.

Graves, R., 1962, *The Greek Myths*, 2 vols, Pelican.

Grimble, A., 1970, *A Pattern of Islands*, London.

Hagen, Victor W, von, 1958, *The Aztec: Man and Tribe,* Mentor,

Hapgood, Ch.H., 1976, *Maps of Ancient Seakings*, Philadedlphia,

Hawkins, G.S., 1963, *Nature*, oct.

1965, *Stone Henge Decoded,* Newyork.

Herodotus, 1954, *The Histories*, Penguin.

Hoyle, Fred, 1966, "Speculations on Stone Henge", *Antiquity*, 40.

1972, *From Stone Henge to Modern Cosmology*, Sanfrancisco.

Hutchinson, R.W., 1968. *Prehistoric Crete*,. Pelican.

Kak, Subhash, 1993, "The Structure of the Rgveda (astronomical Code)", *I.G.H.S.*, 28.2.

1994, *The Astronomical Code of the Rgveda,* Delhi.

1994-95, *"The Astronomical Code of the Rgveda"*,

Puratattva, 25:1-20.

Keith, A.B. 1967 (1914), *The Vedas of the Black Yajus School, entitled Taittiriya Samhita*,2, Delhi.

Kerenyi, Carl, 1958, *The Gods of the Greeks*, Pelican.

King, L.W., 1919, *A History of Baloylon*, London.

Kirbiti- Aspects of History, 1979, Tarowa.

Krishna macharlu, C.R., 1947, *The Cradle of Indian Civilisation*, Madras.

Maerth, Oskark., 1971, *Der Anfang war des Edne*, Dusseldorf.

Majum dar, R.C. 1960, *The Classical Accounts of India*, Calcutta.

Majumdar, R.C., and A.D. Pusalkar (Ed.), 1952, *The Vedic Age*. London.

1953, *The Age of Imperial Unity*, London.

Manias, Theophanis, 1969, *The Invisible Harmony of The Ancient Greek World and Apocrypal Geometry of the Greeks (The Geometric and Geodetic Triangulation)*, Athens.

Manorama Year Book. 1992.

Marschak, A., 1972, "Cognitive Aspects of the upper palaeolithic engraavings", *Current Anthro pology*, 13: 445-61.

1974, "Lunar Notations on upper palaeolithc remains,", *Science*, 1946: 743-45.

Montague, A., 1962, *Man and his First Million Years*, Signet.

Max Miiller, F., 1859, *History of Ancient Sankrit literature*, London.

1890, *Collected Works*, London.

Narang, G.C.; *Real Hinduism*, Delhi

Nesturkh, M., n.d., *The Races of Mankind*, Mosco

Oakley, K.P., 1961, *Man the Tool Maker*, London.

Ohashe, Y., 1993, "Development of Astronomical observations in Vedic and post- vedic India," *I.J.H.S.*, 28.3: 185-22*l*.

Ovid, 1955, *Metamorphosis*, Penguin.

Paramatma Saran, 1986. "Qutub Minar as Vijaya Stambha." *Rtambhara* (Ed), K.C. Varma V.154-157, Ghaziabad.
Pargiter, F.E., 1904, *Markandeya Purana* (Tr), Calcutta.
1972, (1922), *Ancient Indian Historical Tradition*, Delhi.
Piggott, S., 1966, *An Approoch to Achaeology*, Pelican.
Playfair, John, 1790, "Remarks of on the Astronomy of Brahmins," Edinburg Review, 2.1:135-190 in Dharma Pal (Ed) *Indian Science and Technology in the 18 th Century*, Delhi, 1971: 9-69
Pusalkar, A.D., 1953, "Traditional History from the Earliest Times to the Accession of Parikshit" in *The Vedic Age* (Ed.), Majumdar and Pusalkar,. 267-332.
Puzo, M., 1984, *The Sicilions*,
Rajaram, N.S., 1993-94, "Vedic and Harappan Culture. New Findings," *Purattava*, 24:171.
1995, *The Politics of History*, Delhi.
Rand, Ayn, 1957, *Atlas Shrugged*.
Raux, G., 1968, *Ancient Irag*, Pelican.
Robins, L.V., 1977, *The Rollright Stones and their Folk Lore*., London.
1979, "The Dragon Stirs", *Alpha*, July-Aug.
Roy, S.B., 1975, Ancient India. *A Chronological Study*. Delhi.
1976, *Prehistoric Lunar Astronomy*, Delhi.
1989, *Early Aryans in India*, Delhi.
Sachau, E., 1910, *Alberunis India*, 2 vols, London
Sanders, N.K., (Tr.) 1960, *The Epic of Gilgamesh*, Penguim.
Sarkar, B.K., (Tr.) 1914, *Sukranitisara*, Allahabad.
Sasson, G., and R. Dale, 1978, *The Manna Machine*, London.
Sathe, Sriram, 1991, *Aryans: Who were they? My sore*
Seiden berg, A., 1978, ' The Origin of Mathemetics ', *Archiv for History of Exact Sciences*, 18:301-42.

Sengupta, R.C., 1947, *Ancient Indian Chronology*, Calcutta.

Sethna, K.D., 1989, *Ancient India in a New light*, Delhi.
1992, *The Problem of Argan Origins*, Delhi.

Shafer, R., 1954, *Ethnography in Ancient India*, Wiesbaden.

Shembavnekar, K.N., 1948, "The Genesis of root 'rabh' 'labh' and 'lab' " *A.B.O.R.I.*, 29:278-82.

Shivadayalu, n.d., *Thomas Paine on Christianity*, Lucknow.

Shlovsky, I.S., and Carl Sagan, 1966, *Intelligent life in the Universe*, San Francisco.

Shourie, Arun, 1994, *Missonaries in India (Continuity, Changes, Dilemmas)*, Delhi.
1995, *The World of Fatwas, or the Shariah in action*, Delhi.

Singhal, G.D. and D.S. Gaur, 1963, *Surgical Ethics in Ayurveda*, Varanasi.

Sircar, D.C., 1942, *Select Insciptions*, Culcutta.

Smith, Charles P., 1864, *Our Inheritence in the Great Pyramids*, London.

Speiser, E.A., *Anceint Near Eastsrn Texts*; 5th Tablet

Spencer, E.W., 1962, *Basic Principles of Historical Geology*, New york.

Swift, J., 1963 *Gulliver's Travels*, London.

Swinnerton, H.H., 1958, *The Earth Beneath Us*, Pelican.

Tacitus, 1956, *On Imperial Rome*, Penguin.

Talageri, S.K., 1993, Aryan Invasion theory and Indian Nationalism, Delhi.- Vol.
1993, *The Aryan Invasion Theory- A Reappraisal*, Delhi- Aditya,

Temple, R.K.G., 1976, *The Sirius Mystery*, London.

Thom, A., 1967, *Megalithic sites in Brittain*, London.
1977, "Megalithic Astrononmy", *The Journal of Navigation*, 30.1.

Tilak, B.G., 1925, *Vedic Chrono logy and Vedanga Jyotisha*, Poona.

1956 (1903), *The Arctic Home in the Vedas*, Poona.
1972 (1893), *The Orion or Researches into the Antiquity of the Vedas*, Poona.

Urwick, J., 1920, *The Message of Plato*, London.

Vaidyanath Sastri, Acarya, 1970, *Sciences in the Vedas* Delhi.

Varma, K.C., 1971, *Some Western Indologists and Indian Civilisation*, Delhi.
1984, *The Aryans, The Vedas and the Kaliyuga Era of 3102 B.C.*, Varanasi .

Velikovsky. E., 1952, The Worlds in Collision, Victor Gollancz.

Waida, M., 1978, "Birds in the Mythology of Sacred kingship", *East and West* 28: 283-88.

Wallis- Budge, E.A., 1932, *The Queen of Shepa and her only son Menyelek (Kabra Nagast)*, London.

Waradpande, N.R., 1989, *Aryan Invasion- A Myth*, Nagpur.

Weber, A., 1914, *A History of Indian Literature*, London.

William, C.A., 1941, *Qutlines of Chinese Symbolisim and Art Motives*, Shanghai.

Wilson, A.C. and Mary C. King, 1975, Durch Gen Rutsch zum nachten Affen,' *Der Spiegel*, 18

Wooley, L., 1954, *Digging up the Past*, Pelican.

Zend Avesta (Tr.)- various volumes in Sacred Books of the East (S.B.E.) series, esp. iv., London.

१: देवावतरण

---

१. देवावतरण

१. देवावतरण :

(१) प्रजापति द्वारा पृथिवी की खोज:

वेदों में अघ्न्या पृथिवी, जिसके इक्कीस नाम – गुणों का उल्लेख हुआ है – *त्रिः सप्त नामाघ्न्या विभर्ति* (–ऋ.७.८.४–आगे ऋग्वेद के अंकों का ही उल्लेख किया जायेगा), को ढूंढ कर देवों के यहां आ पहुंचने का उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि सारे जगत के प्रजापति ब्रह्मा ने पृथिवी को प्रथम बार खोजा था–*यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्* (१.१०१.५)। अन्यत्र, पदार्थ–विद्या के ज्ञाता अंगिरा आदि पूर्व–पितरों द्वारा भी पृथिवी के ढूंढे जाने का उल्लेख हुआ है – *येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अंगिरसो गा अविन्दन्* (१.६२.२)। किन्तु प्रजापति के स्वर्ग लोक को जीत लेने की कामना और फिर उसे सायास जय करने (तै.ब्रा.,३.१.५.६, तै. सं., ७.४.४.१) तथा "इस प्रकार हम उस द्यौलोक को जान लेंगे जहां से हम आए हैं और हम भटक न सकेंगे" (श. ब्रा.,३.६.२.२२) जैसे उल्लेखों से प्रतीत होता है कि पृथिवी की यह प्रारम्भिक खोज, योजना पूर्वक होते हुए भी, आकस्मिक ही थी। प्रजापति और उसके दल के अन्य अनुयायी यहां अकस्मात् ही कभी आ पहुंचे होंगे।

(२) असुरों और देवों का आना :

प्रजापति की इस प्राथमिक खोज और देवों के पुनः यहां पहुंचने के बीच समय का यथेष्ट अन्तराल रहा होगा। इस अवधि में असुर यहां आकर स्थापित होने का अवसर पा गए थे। कहा गया है कि इस पृथिवी पर असुर पहले से ही स्थापित थे और देव बाद मे पहुंचे थे। असुरों ने उनका प्रतिरोध किया था परन्तु अन्ततः देव बलात् अपना वर्चस्व स्थापित करने में सफल हुए थे (तै.ब्रा.,३.२.६.६, ता.ब्रा.,८.६.२., जै.ब्रा., ३.११७)। ये दोनों ही 'प्राजापत्य' अर्थात् 'प्रजापति के पुत्र कहे गए हैं (श. ब्रा. ११.८.१.२., तै.ब्रा.१.४.१.१.; जै ब्रा., २.१५०)। यद्यपि अनेक स्थलों पर देवों, असुरों और मनुष्यों, इन तीनों को ही 'प्रजापति की प्रजा' कहा गया है (मै., सं.,१.५.११., श., ब्रा. ,१४.८.२.१ बृ.उ., ५.२.१), किन्तु प्रतीत होता है कि योनि–जननी अथवा जन्मभूमि–की दृष्टि से असुर और देव एक तरह के तथा मनुष्य दूसरी तरह के थे। यद्यपि देवों (और असुरों) की उत्पत्ति परम्परागत रूप से योनिज ही कही गई है (४.१८.१,७.२०.५) परन्तु अन्यत्र देवों और मनुष्यों की दो पृथक् योनियां और इनमें भी देवों को पहले और मनुष्यों को बाद में उत्पन्न–*द्वौ वै योनी इति ब्रूयाद् देवयोनिन्यो मनुष्ययोनिरन्यः प्राचीन प्रजनना वै देवा प्रतीचीन प्रजनना मनुष्याः* (श. ब्रा. ७.४.२.४०) – कहा गया है। और भी, मनुष्यों के आदि पूर्वजों को ब्रह्मा–प्रजापति का मानस अर्थात् कृत्रिम रूप से उत्पन्न पुत्र कहे जाने से (म. भा., १.६५.१०.,१२.१६६.२०७.२०८.) मनुष्य की आदि उत्पत्ति कृत्रिम साधनों से तथा उनमें योनिजप्रजनन व्यवस्था का निकट भूत में ही प्रतिष्ठित किया जाना ही अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

असुरों और देवों में भी असुर अधिक और बड़े तथा देव संख्या में कम

और छोटे कहे गए हैं — *देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेर्द्वयाः पुत्रा आसंस्तेऽसुरा भूयांसो बलीयांस आसन् कनीयांसो देवा* (ता.ब्रा. १८.१.१) तथा असुरो *यथौजीयांसो बलीयांस एवमिति* (ऐ.ब्रा., २.७.६. जै.ब्रा., १.१६८)। अतः इसमें कुछ भी असम्भव नहीं है कि प्रजापति द्वारा पृथिवी की खोज के बाद ही असुरों ने किसी अन्य ग्रह से आकर पृथिवी पर उपनिवेश बनाने प्रारम्भ कर दिए हों और देवों के आने पूर्व ही यहां पूर्णतः स्थापित हो गए थे। कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में अनेकत्र उल्लिखित है कि कभी यह पृथिवी असुरों की ही थी, देवों ने उन्हें ढूंढ निकाला और फिर उन्हें यहां से निष्कासित कर दिया था (ता.ब्रा., ८.६.२.तै.ब्रा., ३.२.६.६-७ इत्यादि) ऐसा भी सम्भव प्रतीत होता है कि असुरों ने अपने स्वभाव के अनुरूप ही यहां आकर, स्थानीय विकास की ओर किंचित भी ध्यान न देकर, मात्र ससाधनों का दोहन ही किया था। इसके विपरीत 'जैसा कि हम आगे देखेंगे, देवों ने पृथिवी पर आकर पुरुष—पशु को मनुष्य बनाने में अत्यधिक श्रम पर किया थां। प्रजापति के इन दोनों—असुरों और देव—पुत्रों में बहुत स्पर्धा हुई थी (श. ब्रा., ११.१.८.१.६.८.१.१., ज. ब्रा., २.१०४६.१२५,१७८., ऐ.ब्रा.,५.२२.६)। इसकी कथा ब्राह्मणों में बार—बार दुहराई गई है और इतिहास ग्रन्थों में तो द्वादश देवासुर संग्रामों का पूरा इतिहास ही विस्तार से वर्णित हुआ है (त्रिपाठी १९८०.पृ ६४-६५)

असुरों की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि देवों के आने के बहुत पहले से ही असुर घर बना कर रहने लगे थे और स्थायित्व ग्रहण कर चुके थे—*देवाश्चक्रमचरञ्छालमसुराऽसंस्ते* (श.ब्रा.६.८.१.१)। उनके इस निश्चिन्त स्थायित्व ने निश्चय ही उनकी जिज्ञासा की मूल प्रवृति को शान्त कर दिया होगा। छान्दोग्य उपनिषद में आई असुर विरोचन और देव इन्द्र के प्रजापति के पास अध्ययन के लिए जाने की आख्यायिका में विरोचन के स्वयं चिन्तन — मनन न करके, गुरु के कथन मात्र पर विश्वास करके ही सन्तुष्ट होकर लौट जाने की घटना से इस पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है (छा.उ. ८.७)। असुर स्थाई रूप से रहते हुए अतिशय समृद्ध होकर यहीं पृथिवी पर रम गए थे और अन्ततः अतिमान से ग्रस्त हो गए थे। कहा गया है कि वे अतिमान के कारण किसी को कुछ भी न समझाते हुए, केवल अपने — अपने मुख में ही आहुतियां देने लगे थें— *ततोऽसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः* (श.ब्रा.,११.१.८.१)। उनका तेज, बल, इन्द्रिय और वीर्य केवल अहंकार की तुष्टि का साधन बन कर रह गया था और इस प्रकार 'केवलाघो भवति केवलादी' (१०.११७.६), की वैदिक उक्ति चरितार्थ हो रही थी। अपने इसी अतिमान के कारण ही वे पराभूत भी हुए थे— *अतिमानेनैव पराबभूवुः* (श.ब्रा., ११.१.८.१)। इनकी भोगवादी संस्कृति पर चरक संहिता के साक्ष्य से भी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उसमें कहा गया है कि जो महत्व देव संस्कृति में अमृत को प्राप्त हुआ था, वही असुर समाज में सुधा को मिला था (चि. स्था., १.७७—देखें, पं० भगवद्दत १९६४.पृ.१४८)। सुधा—सुरा अन्न का मल है — *अन्नस्य वा एतच्छमलम् यत्सुरा—* (तै.ब्रा.,१.३.३.३) और सभी सच्छात्रों में इसकी निन्दा करते हुए, इसके सेवन का निषेध किया गया है (मनुस्मृति ११.६५-६७)।

इसके विपरीत, देवों के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनमें समान जाति का भाव एवं बंधुत्व है (८.२७.१०)। उनमें न कोई छोटा है, न बड़ा है और न मध्यम है,

तेज में वे सभी बड़े है (५.५६.६)। वे सौभाग्य के लिए भ्रातृप्रेम के साथ बड़े हुऐ हैं (५.६०.५) और फिर, यह भी कहा गया है कि 'प्राचीन देव जिस प्रकार सम्मिलित होकर यज्ञ का भाग प्राप्त करते थे, उसी प्रकार हमें भी मिल कर सम्पत्ति का भोग करना चाहिए '(१०.१९१.२) देवों की एक दूसरे का सम्मान करते हुए सद्भाव और सहयोग की इस प्रवृत्ति से ही प्रसन्न होकर प्रजापति ने अनुग्रह करके अपने आप को उन्हें ही सौप दिया था— *अथ देवाः। अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुस्तेभ्यः प्रजापतिरात्मानंप्रददौ* (श.ब्रा., ११.१.८.२)

कहा गया है कि पहले प्रजापति भी आधा अमृत और आधा मर्त्य था। उसके प्राण तो अमृत थे किन्तु शरीर मनुष्यों की तरह ही मरणधर्मा था। एक स्थान पर तो उसे 'पुरुष' ही कह दिया गया है (कौ.ब्रा., २३.४)। उसने विशेष कर्म और वृत्त के द्वारा एक एक करके अपने शरीर को भी अजर —अमर बना लिया था (श.ब्रा.,१०.१.४.१)। सम्भवतः इसे ही अन्यत्र प्रजापति मनु कहा गया है (वही ६.६.१.१६)। इसी तरह पहले देव भी मनुष्यों की तरह ही मर्त्य थे। वे मृत्यु से डरे थे और उन्होंने इच्छा की थी कि वे पापिष्ठ मृत्यु के भय से मुक्त हो जाए और दैवी संसद में स्थान पा जाएं। उन्होंने देखा—विचारा, समझा और फिरं उस कर्म को करके वे मृत्यु के भयसे मुक्त होकर दैवी संसद को पहुंच सके थे (तै.सं.,७.४.२१,ता. ब्रा., २४.१६.२)। अनेक स्थलों पर "अशनाया"—भूख को मृत्यु कहा गया है। भूख का ही एक रूप अभाव है। सम्भवतः यहां मूल ग्रह, जहां से देव आए थे, पर संसाधनों के क्रमशःहोते अभाव और फिर उसकी खोज और उसकी पूर्तिके लिए की जाने वाली अन्तरिक्ष यात्राओं से देवों के अमर अर्थात् दीर्घजीवी होने की ओर संकेत किया गया है। उनके मर्त्य होने का उल्लेख करते हुए एक स्थान पर कहा गया है कि ब्रह्म से व्याप्त होकर ही वे अमृत हो सके थे (श.ब्रा.,११.२.३.६)। 'हे मेधावी इन्द्र, जिस कर्म से तुमनें इन्द्रलोक में देवत्व प्राप्त किया है, तुम्हारे वे कर्म महान है' (३.५५.१७)। ऋभुओं के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि तुम प्राचीन काल में अपरिपक्व ज्ञान वाले एवं मेरे जातीय बन्धु थे। तुमने शीघ्र यज्ञ, दान आदि कर्म करके मरण धर्मा होते हुए भी अमरत्व प्राप्त किया था— *मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः*, तमने जगत पालक सूर्य के समान संसार को पार करने की कुशलता एवं स्वर्ग लोक का अन्न प्राप्त किया था (१.११०.२४.६)। वे अपने शुभ कर्मो के द्वारा ही देव बने थे—*ये देवासो अभवता सुकृत्या श्येना इवेदधिदिवि निषेद* (४.३५.८)। मरुत गण भी पहले मर्त्य ही थे और अपने शुभ कर्मो से ही देव बने थे (१०.७७.२)। उन्होंने अपनी शक्ति के सहारे ही वृद्धि प्राप्त की थी एवं अपने ही महत्व से स्वर्ग में स्थान पाया था — *तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना नाकं तस्थुरुरु चक्रिरे सदः* (१.८५.७)। एक स्थान पर तो मनु से उत्पन्न देवों का उल्लेख हुआ है जो मनोयोग पूर्वक कार्य करते हुए सुदक्ष हो गए थे— *ये देवा मनुजाता मनोयुजः सुदक्षा* (क.क.सं. १.१६)। अन्यत्र कहा गया है कि पहले देव और मनुष्य पितरों के साथ ही पीते (?) थे। पहले प्रत्यक्ष रूप से पीते थे परन्तु अब परोक्ष रूप से ही पीते हैं—*उभये देव मनुष्याः पितरः सम्पिबन्ते. ... दृश्यमाना एव पुरा सम्पिबन्तऽ उतैतर्ह्यदृश्यमानाः* (श.ब्रा.३.६.२.२६)। देवों को सत्य से जुड़ा हुआ — *सत्य संहिता वै देवाः*—भी कहा गया है (वही १.१.१.४, ऐ.ब्रा.,१.६)

(३) असुरों और देवों की प्रतिस्पर्धा और संघर्ष :

देव नए नए ही इस पृथिवी पर आए थे और यहां की खनिज सम्पदा से अनभिज्ञ थे। इसी लिए वे (रथ) चक्रों की सहायता से कुछ खोजते हुए दूर—दूर तक की यात्राएं करते रहे होगें — *ते देवाश्चक्रेण चरन्तऽ एतत्कर्मापश्यंएचक्रेण* — (श.ब्रा. ,६.८.११)। स्थायित्व के धनी असुरों को उनके आने और फिर घूम घूम कर कुछ खोजते रहने से चिन्ता हुई होगी और उन्होनें देवों पर पहरा बैठा दिया होगा। उनकी गतिविधियों और कार्यकलापों की निरन्तर जानकारी प्राप्त करने के लिए उनकी खोज यात्राओं पर उनका पीछा किया—कराया होगा। अपनी इन अन्वेषण—यात्राओं में जिस जिस भी स्थान पर जाकर देवों ने जो कुछ किया होगा, असुरों ने भी उसका औचित्य जानने समझने के लिए वहीं—वहीं जाकर उस क्रिया को दुहराया होगा। इसी लिए अनेकत्र कहा गया है — *यद यद वै देवा यज्ञेऽकुर्वत, तद् तद् व एवासुरा अन्वकुर्वत* —(क.क.सं., ३१.८. १५.,जै.ब्रा., ३.४१., ऐ.ब्रा., २.६.७.,तै.ब्रा., १.५.६.१) यज्ञ में जैसा —जैसा देव करते थे, वैसा वैसा ही असुर भी अनुकरण करते थे।

प्रतीत होता है कि असुरों की देवों से इस अघोषित युद्ध की लुकाछिपी बहुत समय तक चलती रही थी। बृहस्पति देवों का पुरोहित था और कवि का पुत्र उशना असुरों का। अब जैसा जैसा ब्रह्मा—बृहस्पति करता था; वैसा ही उशना भी करता रहता था (जै.ब्रा.१.१२५)। इस प्रकार वे दोनों ही समान रूप से बलशाली हो गए थे और किसी को भी निर्णायक विजय नहीं मिल पाई थी (ऐ.ब्रा.२.६.७)। एक बार तो देवों और असुरों ने इन लोकों में झगड़ा किया। देवों ने छठे दिन के कृत्य से असुरों को इन लोकों से निकाल दिया था। भागते हुए असुरों ने, जो कुछ भी हस्तगत हो सका, उसको समुद्र में फेंक दिया था। देवों ने उनका पीछा किया और जो कुछ भी असुरों ने समुद्र में छिपा दिया था, उसे इस छन्द द्वारा निकाल लिया था (ऐ.ब्रा., ५.२२.६)। कुछ संदर्भो से ऐसा भी प्रतीत होता है कि एक समय देवों में भी कुछ समय के लिए 'अतिमान' आ गया था। कहा गया है कि वे अपने सहायकों द्वारा स्वेच्छा से दी गई आहुतियों—भेटों—से निर्वाह होता न देखकर, छीन कर भी खाने लग गये थे और जब तक वे ऐसा करते रहे थे, वे हारते रहे थे—*यावन्तो वै देवा अहुतमादन्ते पराभवन्* (तै.ब्रा..२.१.५.३)। एक बार तो देवों को भाग कर वापस स्वर्ग जाना पड़ गया था। उस समय, कहा गया कि असुरों द्वारा पीछा किए जाने के भय से, अग्नि को स्वर्ग का द्वार नीचे—पृथिवी की ओर— से बन्द करना पड़ गया था (ऐ.ब्रा.,३.१४.४)।

इन देवासुर संघर्षों में हुई विभीषिका अत्यधिक भयानक बताई गई है। कहा गया है कि "तब असुरों ने दोनों प्रकार से ओषधियों को—उनको भी जिनके सहारे मनुष्य रहते हैं और उनको भी जिनके सहारे पशु रहते हैं —कुछ अपनी चालाकी से—'कृत्यया'—और कुछ को विष के द्वारा नष्ट कर दिया था कि इस प्रकार हम देवों पर विजय पा लेंगे। इस पर न मनुष्य कुछ खा सके और न पशु और भोजन के अभाव में ये सब पराजित होकर भाग खड़े हुए। अब देवों ने सुना कि भोजन के बिना यह सब प्रजा पराजित हो रही है। उन्होंने कहा, 'इस सब—विष और कृत्या— को हटाना चाहिए, 'कैसे'? 'यज्ञ के द्वारा'। देव जो कुछ भी करना चाहते थे, वह उन्होंने यज्ञ के

द्वारा किया और ऋषियों ने भी। यज्ञ करके देवों ने उन सब ओषधियों को, जिनके सहारे मनुष्य रहते हैं या पशु रहते हैं, असुरों की कृत्या और विष के प्रभाव से मुक्त कर दिया। इसीलिए मनुष्य भोजन करने लगे और पशु चरने लगे।" "अब वह जो यज्ञ करता है, या तो इसलिए करता है कि कोई चालाकी से या विष से वनस्पति को बिगाड़ने न पाए या केवल इस लिए कि देवों ने ऐसा किया था और जो भाग देवों ने अपने लिए निकाला था, वह भी उनके लिए निकाल देता है," (श.ब्रा.२.४.३.२–३और११–१२)। कपिष्ठल कठ संहिता में भी यही बात दुहराई गई है किन्तु वहां विषाक्त जड़ें खोद कर गोबर की खाद डालने का अतिरिक्त उल्लेख भी मिलता है (३६.१)। इस विभीषिका की तुलना शिव द्वारा त्रिपुरदाह (म.भा.,८. ३३–३४ इत्यादि) और स्कन्द द्वारा तारकासुर वध (वही६.४६और१३.८५–८६इत्यादि) के आणविक युद्धों की विभीषिका का स्मरण दिलाने वाले वर्णनों से सहज ही की जा सकती है।

२. देवों का लौटने की व्यवस्था करना :

(१) अन्न की खोजः

यज्ञ द्वारा देवों ने स्वर्ग लोक लौट जाने के लिए व्यवस्था की थी। इसके लिए सम्भार एकत्र करने में बहुत समय लगा होगा। इस सुदीर्घ अवधि में देवों को अपने निर्वाह के लिए खाद्य सामग्री का जुगाड़ करना पड़ा होगा। अतः पहले तो देवों ने वर्ष भर में फलने और पकने वाली ओषधियों — *वर्ष वृद्धा वा ओषधयः* (तै.ब्रा., ३.२.१५.,३.२.५.१०इत्यादि) में से अपने लिए उपयोगी और पोषक खाद्यान्न का चुनाव और फिर उनका संग्रह किया होगा। कहा गया है कि "बृहस्पति ने अनेक अन्नों में से नीवार को ही सर्वाधिक उपयोगी और पोषक पाया था—*स(बृहस्पतिः,)नीवारन्निरवृणीत ।.... नैवारश्चरुर्भवति । एतद्वै देवानां परममन्नम्* (तै.ब्रा. १.३.६.७–८)। दूध में नीवार—तण्डुल को पका कर चरु अर्थात् खीर बनाई जाती थी—*"चरुं श्रपयति, चरुरु ह्येव स यत्र क्व च तण्डुलानावपन्ति,..... तस्मात्क्षीरौदनौ भवति"* (श.ब्रा.,२.५.३.४.,११.१.४.३ इत्यादि)। इसलिए कहा गया है कि "पहले ओषधियों से प्राप्त ऊर्जा पर ही प्रजा निर्वाह करके जीवनयापन करती थी—*अथोअग्राद्वा ओषधीनामूर्जं प्रजा उपजीवति*"(तै.ब्रा. ,३.३.१४)। ऋग्वेद में तो बहुत स्पष्ट शब्दों में मनुष्यों के खाने के लिए ओषधियों के उत्पन्न किए जाने की बात कही गई है— *अजीजन ओषधिर्भोजनाय* (५.८३.१०) और अथर्ववेद में दांतो का भाग व्रीहि, यव, माष,और तिल आदि ओषिधियां ही कही गई हैं (६.१४०.१०)।

(२) पशुबन्ध :

एक बार भोजन की समस्या का यत्किंचित समाधान हो जाने के उपरान्त ही वे देव अपने यज्ञ के लिए सम्भारों की खोज में निकल सके होंगे। इन खोज यात्राओं में उन्हें अनेक प्रकार के वन्य पशु दिखे होंगे। कुछ समय तक उनका निरीक्षण—अध्ययन करने के पश्चात् ही उन्हें पुरुषाकार वानर ही आकार में अपने अत्याधिक सन्निकट प्रतीत हुआ होगा क्योंकि 'पुरुष ही प्रजापति के निकटतम हैं— *पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टम्* (श.ब्रा., ५.१.३.८.,५.२.१.६ इत्यादि)। जिज्ञासा वश उन्होंने उसका 'आलम्भन' किया होगा

पकड़ा होगा। बताया गया है कि "देवों ने सर्व प्रथम पुरुष का ही आलम्भन किया था। पशुओं में पुरुष प्रथम है {पशुओं में पुरुष निश्चय ही श्रेष्ठ है। शेष सारे पशु अनुपशु ही हैं (वही ३.८.४१) } फिर अश्व का, क्योंकि पुरुष के पीछे अश्व है। फिर क्रम से गौ, अवि और अज का। इस प्रकार उनका यथाक्रम अर्थात् श्रेष्ठता के अनुसार ही आलम्भन होता है" (वही ६.२.११०)। यही बात अन्यत्र भी दुहराई गई है (तै. ब्रा.३.६. ८२-३)। वहीं यह भी बताया गया है कि शीघ्र ही मेध पुरुष से निकलकर क्रम से अश्वादि में जाते हुए अन्ततः पृथिवी में चला गया अर्थात् अब उनको पकड कर संग्रह करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। वे पालतू बना लिए गए थे और अब घर पर ही प्रजनन करते हुए उनकी संख्या वृद्धि होने लग गई थी (ऐ.ब्रा.२.६.८.श.ब्रा.१.२.३.६)। यह भी बताया गया कि गोन्दुग्ध पुष्टिकारक, अवि दुग्ध वीर्यवर्धक और अज–क्षीर तेजवर्धक होता है (६.२८.६.तै.ब्रा. ३.४.६.४)। इसीलिए अमेध्य हो चुके पालतू पशुओं का मांस नही खाना चाहिए– *त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात्* (ऐ.ब्रा. २. ६.८) और अपने पालतू पशुओं को न मारने का आदेश भी दिया गया है– *पशूनस्माकं मा हिंसीः* (तै.ब्रा. ३.३.२.५)।

आवश्यक न रहने पर भी, आधिकाधिक पशुओं की लालसा से इन उपयोगी पशुओं का आलम्भन जारी रहा था। कहा गया है कि "पशुओं से ही पशुओं को 'खेदा' करके पकड़ा जाता है"– *पशवः पशूनेवावरुन्धे* (तै.ब्रा. ३.६.१४.२४)। पहले सम्भवतः पकड़े गए पशु घरों के निकट बाड़े में खुले छोड़ दिए जाते थे। स्यात् इसीलिए कहा गया है कि एक बार खाने की कमी से भूखे होने का कारण पशु भाग खड़े हुए थे। उन्हें भोजन दिखा कर ही वापस लौटाया जा सका था (ता.ब्रा.६.७.१८–१९)। तब देवों ने यूप गाड दिया और वे डर कर वापस लौट आये थे –उसमें बांध दिए गये थे। इसी लिए आज भी पशु यूप की ओर मुंह करके खड़े होते हैं (ऐ.ब्रा.२-६.३)। साधारणतः आज भी चराई से संध्या काल लौटे पशु अपने–अपने खूंटे पर ही खड़े होते हैं। यह बात पालतू हो चुके पशुओं के बारे में तो सत्य हो सकती है परन्तु तुरन्त पकड़े गए जंगली पशुओं का साधारण यूप गाड़ देने मात्र से ही लौट आना कुछ समझ में नहीं आता है। क्या यह 'यूप' कोई बन्दूक जैसा अस्त्र था जिसे भागते पशुओं के आगे की ओर दाग देने से वे पीछे लौट पड़े हों? यद्यपि आज हम उस प्रागैतिहासिक युग में बन्दूक के अस्तित्व को असम्भव मान रहे हैं किन्तु ऐसा है नहीं। रूस की राजधानी मास्कों के पुराप्राणिशास्त्रीय संग्रहालय में सुरक्षित, ईसा पूर्व आठ सहस्त्र वर्षों से भी अधिक प्राचीन, नव पाषणयुगीन वृषभ के कंकाल के मस्तक में बना पूर्णतः गोलाकार छिद्र उस समय के लिए आनुमानित किसी अस्त्र–शस्त्र के आघात से न बन कर, बन्दूक की गोली से ही बना हो सकता है (डानिकेन,१९७५,१११ पर चित्र देखें)। ऊपर कहे गए चार पशुओं को मिला कर कुल सत्रह प्रकार के पशुओं को खेदा करके पकड़ने की चर्चा हुई है (तै ब्रा. १.३.४.३)। पशुबन्ध की आवश्यकता बताते हुए कहा गया है कि इससे सृष्टि का धारण– पोषण होता है –*सृष्टस्य धृत्यै* (वही २.२.२.४)। इसी से यह लोकयात्रा भी सफल होती है– *इममेव लोकं पशुबन्धेनाभिजयति* (वही ३ १२५.६.३.६.३०)। इसी लिए पशुओं को 'क्षेम' भी कहते ही है – *एते वै पशवः क्षेमो नाम* (वही ३.६ १४)। भूख मृत्यु

ही है— *अशनया मृत्युरेव,* इन पशुओं से क्षुधा—मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है (वही ३. ६.१५.१-२)। इसीलिए अधिक मात्रा में पशुबन्ध किया जाता है क्योंकि आधिक्य में ही पुष्टि—समृद्धि है— *आलभते भूम्ने । अथो पुष्टिर्वै भूमा* (वही ३.६.८.३)।

इन नए नए पकड़े गये पशुओं को आने पर आरती उतार कर बाड़े में खुला छोड़ दिया जाता था ताकि वे अनभ्यस्त बन्धन को तोड़ कर मुक्त होने के प्रयत्न में घायल न हो जाएं— *पर्याग्निकृतानुत्सृजत्ययज्ञ वैशसाय* (वही ३.६.१.४), *'अहिंसायै'* (वही ३.६.३.३) और *अव्रस्काय* (वही ३.६.६..३)। ऋग्वेद में भी पशुपालक की भांति अग्नि द्वारा तीन बार पशुओं की परिक्रमा किए जाने का उल्लेख हुआ है— *पर्यग्निः पशुपा न होता त्रिविष्ट्येति* (४.६.४)। 'पर्याग्निकृत' का अर्थ पं० युधिष्ठर मीमांसक ने आग्नि के चारों ओर घुमा कर" किया है (१९७७.१.१३०–१३१) किन्तु विवाह संस्कार में की जाने वाली सप्तपदी के अतिरिक्त किसी अन्य अवसर पर विशिष्ट अभ्यागत को अग्नि के चारों ओर घुमाए जाने की कोई विधि अभी तक हमारी जानकारी में नहीं आ पायी है। इसके विपरीत थाल में दीप प्रज्वलित करके अक्षत पुष्प आदि से देवमूर्तियों की ही नहीं, वरन अतिथियों का भी स्वागत किए जाने की सामान्य और सुप्रतिष्ठित प्रक्रिया है। अतः पर्याग्निकरण से आरती उतारने का अर्थ ग्रहण किया जाना ही उचित प्रतीत होता है।

खेदा करके पशु पकड़ने की एक घटना का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि वत्स के पुत्र सर्पि ने सुबल के लिए बहुत से पशु पकड़ लेने पर सोचा था कि अब उसके भाग में बहुत से पशु आयेंगे (ऐ.ब्रा..६.२६.६)। इससे समझा जा सकता है अनेक व्यक्ति सम्मिलित रूप से पशुबन्ध का आलम्मन किया करते थे। पशुबन्ध करने के उचित समय की विवेचना करते हुए कहा गया है कि "इससे पशुओं की प्राप्ति होती है। यह यज्ञ घर में ही होता है ताकि घर में पशु बंध जाएं। कृषि कर्म में अच्छी उपज होने पर यह यज्ञ किया जाता है अर्थात् खान—पान की अच्छी सुविधा होने पर पशु घर में बांध कर खिलाए जा सकें" (श.ब्रा..११.७.१.१)

(३) पुरुष—पशु का आलम्भन और संज्ञपन :

ऊपर कहा जा चुका है कि देवों ने सर्वपथम पुरुष पशु का "आलम्भन" किया था। हमने आलम्भन का अर्थ 'पकड़ना' ही किया है। इसका धात्वर्थ है "प्राप्त करना"— *आ डुलभष प्राप्तौ* (धातु १.७०२)। उपनयन और विवाहादि संस्कारों में *'हृदयमालभते'* आदि के प्रयोग में सर्वत्र ही 'स्पर्श करना' अर्थ ही अभि प्रेत है। परन्तु याज्ञिक पशुयाग विधायक वाक्यों में 'आलभेत' या 'आलभते' का अर्थ 'आलम्भन कुर्यात्' करके 'पशु को मारना' ही समझा जाता है। इस पर भी, 'आलभते' विधि की अनदेखी करके, समस्त याज्ञिक पशुओं को मारते नहीं हैं। अपितु इनका पर्याग्निकरण संस्कार करके उत्सर्जन ही कर देते हैं—*तेष्वारण्याः सर्वे उत्स्रष्टव्याः, न तु हिंस्याः* (यजु २४.४०पर महीधर भाष्य—देखें -मीमांसक १९७७.१३०–१३१)। इसी तरह, कहा गया है कि मनु ने पत्नी से यज्ञ किया था— उसका आलम्मन किया था और फिर उसका पर्याग्निकरण करके—आरती उतार करके, घर में मुक्त भाव से रख लिया था। ऐसा करके पत्नी को जीवित रखने

से (न कि मारने से) उसे सभी प्रकार की समृद्धि प्राप्त हुई थी— *इन्द्रः पत्निया मनुमवायजत तां पर्याग्निकृतामुदसृजत तया मनुराध्नोत* (तै.ब्रा.६.६.६.१) ।

यद्यपि पाणिनि से भी पूर्ववर्ती आचार्य काश्कृत्स्न ने "डुलभष प्राप्तौ" तथा "लभि धारणे" कह कर इन दोनों को स्वतंत्र धातु मानते हुए अर्थ निर्देश किया है (काशकृत्स्न धातु पाठ १.५६४ तथा ३६२), चरक संहिता के प्रमाण— *आदि काले ,खलु यज्ञेषुपशवः समालभनीया बभूवुः नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म* (चि.स्था.१९.४) के आधार पर पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने इनके क्रमशः 'प्राप्त करना' तथा 'मारना ' अर्थ स्वीकार किए हैं (मीमांसक १९७७:१३१–१३५) । इनसे भी बहुत पहले आचार्य शेम्बनेकर ने 'रभ','लभ' और 'लव' धातुओं का पाणिनि से बहुत पूर्व ही लोप हो जाना स्वीकार किया था (१९४८:२७८–८२) । धातु ह्रास के विपरीत, क्या यहां अर्थ का विस्तार नहीं स्वीकार किया जा सकता ? आलम्भन के साथ साथ यज्ञ में पशु को मारने का बोध कराने के लिए एक अन्य क्रियापद का भी बहुधा प्रयोग मिलता है । सम् पूर्वक (ज्ञा) ज्ञपि णिजन्त धातु से ल्युट प्रत्यय करके सिद्ध होता है'संज्ञपन' शब्द । मारने की क्रिया से दूर दूर तक का भी सम्बन्ध न होने पर भी, 'ज्ञान देना' जैसे धात्वर्थ को प्रकट करने वाले इस क्रिया पद की व्याख्या 'विशसन' छुरे से काट कर अलग करना' पद से की गई है (६.१८.४,ऐ ब्रा. ७.३३.१६) । 'प्राप्त करना' 'धारण करना' तथा'ज्ञान देना' अर्थात् प्रशिक्षित करना जैसे मूल अर्थ के द्योतक शब्दों का मारना, काटना अर्थ देख कर आश्चर्य होता है और फिर धातु ह्रास की कल्पना कर ली जाती है । परन्तु क्या ऐसा नहीं हो सकता कि प्रारम्भ में मारने काटने की प्रत्यक्ष क्रिया कें होने पर भी फलितार्थ ज्ञान देना ही रहा हो और इसी से उन्हीं परिणाम वाची शब्दों के उद्देश्य के विस्मृत हो जाने पर, धात्वर्थ के विपरीत होने पर भी, उन्हें स्पष्ट दृश्यमान क्रिया से जोड़ कर, ही मारने काटने के अर्थ में ही प्रयोग किया जाने लगा हो?

प्रतीत होता है कि देवों ने जब पुरुष— पशु अर्थात् वानर को आकृति में अपने समान पाकर उसका आलम्भन किया तो उसे निरा पशु ही पाया था । इसी लिए पुरुष को पशु और अन्य पशुओं को अनुपशु कहने की सार्थकता भी समझी जा सकती है । द्युलोक में स्थित स्वर्गलोक तक आ—जा सकने में समर्थ यानों के निर्माण की योग्यता रखने वाले देव निश्चित ही जीव विज्ञान में भी उन्नति के उच्चतम् शिखर तक पहुंच चुके होंगे, इसमें सन्देह का अवकाश नहीं है । उन्होंने ही 'जीन' में छेड़ छाड़ करके, भ्रूण प्रत्यारोपण और इसी प्रकार की विविध शल्याक्रियाओं द्वारा पुरुष—पशु में बुद्धि और ज्ञान का आधान किया होगा । इस प्रकार काट—छांट करके ज्ञान देने के कारण ही पकड़ कर ज्ञान प्रदान किए जाने के अर्थ का बोध कराने वाले क्रियापद में ही मारना, काटना का अर्थ भी घुल मिल गया होगा । इस प्रकार प्रारम्भिक युग की उपलब्धियों के विस्मृत हो जाने पर, वेद—मूलक संस्कृति के शुभ कर्मों—अध्वर—यज्ञ में हिंसा के लिए कोई स्थान न होने पर भी— *अध्वर इति यज्ञनाम । ध्वरतिहिंसा कर्मा । तत्प्रतिषेधः* (यास्क १.८) — संज्ञपन क्रिया पद से 'विशसन'का अर्थ, उत्सुकता का विषय होकर अनेक भ्रामक विसंगतियों को जन्म देने पर भी, धुंधली स्मृति स्वरूप ही चिपटा रह गया है । अनेक संस्कृतियों में उपलभ्यमान नरबलि जैसी जघन्य और अमानुषी प्रथा का धार्मिक

कृत्यों में सम्मिलित किया जाना भी इसी प्रकार बोधगम्य हो जाता है। सम्भवतः यह प्रथा देवों के द्वारा अंग–प्रत्यारोपण आदि कर्मों के लिए की जाने वाली शल्य क्रिया की विकृत स्मृति के आधार पर मनुष्यों ने अपने अज्ञान अथवा आधे–अधूरे ज्ञान में देवों का अनुकरण करने की अपनी प्रतिबद्धता के कारण ही प्रारम्भ की होगी। दक्षिणी अमरीका की प्राचीनतम माया संस्कृति में जीवित पुरुष का वक्षस्थल विदीर्ण करके उसके स्पंदित हृदय को निकाले जाने का अकंन भी इसी प्रकार के किसी देव कृत्य के अनुकरण पर ही आधारित प्रतीत होता है (डानिकेन १९७६.१००.१०१ पर दिया गया चित्र)। शतपथ ब्राह्मण में उद्धृत एक श्लोक में देवों द्वारा तीक्ष्ण शस्त्रों से मनो (मस्तिष्क) के समुद्र को खोद कर विद्या निर्वपण किए जाने का उल्लेख — *येसमुद्रानि रखनन्देवास्तीक्ष्णाभिराभ्रिभिः सुदेवोऽअद्य तद्विद्या यत्र निर्वपणं दधुः* (७.५.२.५२) — भी शल्य क्रिया द्वारा ही समस्त ज्ञान–विज्ञान के रोपे जाने की सम्भावना की ओर संकेत करता प्रतीत होता है।

३. संस्कृति का बीजारोपण :

(१) भाषा:

ब्रह्माण्ड में तैरती हुई विद्युत–आविष्ट ध्वनि तरंगों को ग्रहण करने की सामर्थ्य उसके समनुरूप रेडियों में ही होती है। इसी प्रकार ज्ञान को ग्रहण करने के लिए भी विशेष रूप से विकसित मनोमस्तिष्क अनिवार्य होता है। अब इस निर्वपण के द्वारा विकसित मस्तिष्क में भाषा का ज्ञान भी देवों द्वारा ही मिला होने के संकेत भी मिलते हैं। कहा गया है कि "हे बृहस्पति, बच्चे सबसे पहले पदार्थों का नाम मात्र जानते हैं। यह उनकी भाषा की पहली सीढ़ी है। बालकों का जो निष्पाप वेदार्थ ज्ञान है, वह गुहा में छिपा हुआ है। वह ज्ञान सरस्वती की कृपा से ही प्रकट होता है...बुद्धिमान मनुष्य यज्ञ द्वारा भाषा का मार्ग जानते है। उन्होंने ऋषियों के मन में प्रविष्ट वाणी को जान लिया है। उस भाषा को प्राप्त करके उन्होंने अनेक देशों में फैलाया है" (१०.७१.१–३)। हमारी परम्परा में माना जाता है कि भाषा का यह ज्ञान वाक् के परा, पश्यन्ती और मध्यमा जैसे अव्यक्त रूपों को मनोमस्तिष्क में संप्रेषित करके ही कराया गया था। जो कुछ भी हो, इतना तो माना ही जा सकता है कि आदि में देवों द्वारा दी गई और फिर विभिन्न भूभागों में प्रचारित भाषा अपने मौलिक रूप में एक ही रही होगी।

(२) कृषि :

इसके भी संकेत मिलते है कि प्रारम्भ में देवों ने स्वर्गलोक से लाकर ही मनुष्यों को विविध प्रकार के अन्न (और उनके बीज भी) दिए थे (–१.२.४)। प्रार्थना की गई है कि जो देव गण धरती, स्वर्ग और अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुए हैं वे हमें और हमारी सन्तान को रात–दिन जीवन भर अन्न दें (६.५२.१५)। बाद में उन्हें कृषि कर्म के द्वारा अन्न उत्पन्न करना भी देवों ने ही सिखाया था। कहा गया है कि "हे अश्विनी कुमारों, तुमने प्राचीन काल में राजा मनु को द्युलोक का जल देकर हल द्वारा यव की खेतीं करना सिखाया था" (८.२२.६)। मनु के लिए हल द्वारा जुते खेतों में जौ बुवाए थे और अन्न को उपजाने के लिए वर्षा की थी"(१.११७.२१)।

(३) वास्तु :

इसी प्रकार स्थापत्य की शिक्षा देने के पूर्व देवों ने ही मनुष्यों को रहने के लिए घर बना कर भी दिए होगें। ऐसे मंत्र बहुत हैं जिनमें विभिन्न देवों से गृह प्राप्त होने अथवा मांगने का उल्लेख मिलता है। अग्नि से तीन कमरों वाला—'त्रिधातु' (८.४०.१२) तथा वरुण से तीन भूमियों वाला— *'शर्म त्रिवरूथं'* (८.४२.२)— मकान मांगते हुए, अन्यत्र कहा गया है कि दक्षिणा देने वाले को देवालय के समान विचित्र और परिष्कृत — *वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्* (१०.१०७.१०)— प्राप्त होते हैं।

(४) प्रजा :

देवों से पुत्र तथा पौत्र आदि भी मांगे जाते थे। वेदों में नियोग प्रथा सर्वमान्य थी (स्वामी दयानन्द ५९७०४.११०.११७) और बाद तक प्रचलित रही थी। महाभारत में अग्नि देव के महिष्मती नरेश नील की पुत्री सुदर्शना पर मोहित होने (२२१-२७) तथा विभिन्न देवों द्वारा कुन्ती के गर्भ से पाण्डवों को उत्पन्न करने की कथा तो सर्वविदित है ही। परन्तु वेदों में देवों के किसी ऐसे कृत्य का उल्लेख न होने से यहां सम्भवतः कृत्रिम रूप से श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न कराए जाने की प्रार्थना ही अभिप्रेत है।

(५) आयुष्य :

आयु वृद्धि के लिए भी की गई प्रार्थनाएं अनेक हैं। "हे आदित्यों, जो लोग मृत्यु के बहुत समीप हैं, उनके जीवन के लिए उनकी आयु बढ़ाओं" (८.१२२२) जैसे कुछ सन्दर्भों में, जहां चिकित्सा का प्रकरण स्वीकार करना सहज है, को छोड़ कर, अनेक स्थानों पर आयु बढ़ाने की किसी विशेष विधि की ओर ही संकेत किया गया प्रतीत होता है। "मेरे दीर्घ जीवन की इच्छा करो और मुझे विस्तीर्ण स्वर्ग ले चलों" (६.४७.८.१०) क्योंकि "बृहस्पति जिस जिस यजमान को मित्र के रूप में स्वीकार कर लेतें हैं (और अपने साथ ही स्वर्ग लोक ले जाते हैं) वह अपने पुत्रों—पौत्रों से भी अधिक दिन जीवित रहता है" (२.२५.२)। लोक में पिता के सामने पुत्र की मृत्यु अत्यत्न गर्हित और दुःखद मानी गई है और फिर पौत्र की मृत्यु का तो कहना ही क्या है। अतः बृहस्पति आदि देवों की मित्रता और कृपा से प्राप्त होने वाला दीर्घ जीवन साधारण रूप से बढ़ा हुआ दीर्घ जीवन न होकर निश्चय ही स्वर्ग को यात्राओं के परिणाम स्वरूप बढ़ा हुआ दीर्घ जीवन ही रहा होगा।

४. मनुष्य का लोभ :

१. ज्ञान :

अन्यत्र प्रार्थना की गई है कि "हे सविता देव हमें लज्जा रहित बनाओ — *कृधी नो अह्रयो*— ताकि हम बेहिचक देवों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की मांग कर सकें" (१०.६३.६) "हे श्रेष्ट अग्नि, जिस प्रकार पिता पुत्र को, भाई भाई को

और मित्र मित्र को अभीष्ट वस्तुएं देता है उसी प्रकार तुम भी इच्छित वस्तुएं दो" (१. २६.३)। वे इन्द्र हमारे अभावों को पूरा करें, हमें दान दें, अनेक प्रकार की बुद्धि दें और भांति भांति के अन्न को लेकर हमारे पास आएं" (१५.३)। *"सत्या सन्तु यजमानस्या कामाः"* की प्रार्थना करने वाले पुरुष पशु से मनुष्य बने इन लोगों के सम्बन्ध में अन्यत्र कहा गया है कि "न लजाने वाले लोगों ने इस अग्नि के सनातन प्रकाश युक्त शुद्ध दुग्ध को सहस्त्रों देने वाले ऋषियों से दुहा"– *अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रेऽअह्नयः। पयः सहस्त्रसामृषिम्* (यजु ३.१५.श.ब्रा. २.३.४.१५.क.क.स.४.८)।

(२) मनुष्यों की भेटें :

सहस्त्रों देने वाले देवों और ऋषियों से विविध अभीष्ट वस्तुएं दुहने वाले इन लोगों द्वारा देवों के लिए मात्र पशु ही लाए जाने का उल्लेख मिलता है। प्रतीत होता है कि अब देव स्वयं खेदा करके पशुओं को पकड़ने जैसे समय साध्य कार्य से मुक्त होकर अन्य क्षेत्रों में अपनी शक्ति नियोजित करने के लिए स्वंतत्र हो गए थे। अब आलम्भन करके संज्ञप्त किए गए पुरुष स्वयं खेदा करके देवों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे सक्षम हो चुके थे। कहा गया है कि "हे पशुपति अग्नि तुम्हारे पुण्य क्षेत्र में आज इस पशु को बांधता हूँ। आप इस कृत्य का अनुमोदन करें। हमारे भली प्रकार अर्पित किए हुए इस हव्य को देव यज्ञ के लिए स्वीकार करें। जिन चतुष्पाद और द्विपाद पशुओं पर पशुपति शासन करते हैं, वे यजमान को उऋण करते हुए उसकी समृद्धि को बढ़ावे।" आगे कहा गया है कि "ये पशु जीवित ही देवों को प्राप्त हों और यजमान की कामनाएं पूर्ण हो"। और भी "घी से ही तुम अपने शरीरों का पोषण–संवर्धन करो और देव तुम्हारी भेटों का भोग करें" (तै.सं. ३.१.४.२.४.८तथा अन्तिम मंत्र)। यहां भी जीवित पशु की भेंट तथा घी आदि गव्य पदार्थो से शरीर पोषण की चर्चा से यज्ञ में हिंसा न होने की ही पुष्टि होती है और यज्ञ में पशु हिंसा का प्रयास बाद के धूर्तो का योगदान ही प्रतीत होता है।

(३) मनुष्यों का बढ़ता लोभ–देवों का छिप जाना :

देवों के द्वारा उत्परिवर्तन विधि से विकसित किए गए ये मनुष्य प्रारम्भ में देवों के आश्रय स्थल के आस पास ही बसते गए होगें। कहा जाता है कि "पहले देव और मनुष्य दोनों ही साथ साथ रहते थे। जो वस्तु इन मनुष्यों के पास नहीं होती थी, उसको वे देवों से मांग लाते थे। 'हमारे पास यह वस्तु नही है इसे हमको दे दीजिए।' उनकी यह निर्लज्ज याचना इतनी बढ़ गई थी कि एक बार तो देवों को इनकी बढ़ती हुई मांगों से बचने का और कोई मार्ग नही दिखा तो वे छिप गए थे – *ते तस्याऽएव याञ्चायै द्वेषेण देवास्तिरोभूताः"* (श.ब्रा. २.३.४.४)। एक ओर से बढ़ती जाती हुई मांगों से त्रस्त होकर दाता में रोष उत्पन्न होने पर, दूसरी ओर भी मनोमालिन्य होना स्वभाविक है। जब प्राप्त कर्ता की बढ़ी हुई लालसाओं और स्वार्थपूर्ति का अन्य कोई स्त्रोत न हो तो यही मनोमालिन्य दाता के प्रति आक्रोश का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रतीत होता है कि भले ही लोभवश किन्तु स्वेच्छा से देवों को मिलने वाली भेंटें बन्द न भी हुई

हो तब भी कम अवश्य हो गई होंगी। ऐसी स्थिति में देवों को निर्वाह के लिए 'हुताद' से'अहुताद' बन जाना पड़ा होगा और जनता के असहयोग के फलस्वरूप हुए उनके पराभव का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

(४) देवों की सहायता :

देवों ने जो यज्ञ का सम्भार एकत्र किया था और अपने प्राचीन निवास स्थान वापस जाने के लिए जिस यज्ञ का आयोजन किया था, उसमें नव उत्परिवर्तित मनुष्यों का संहयोग भी प्रचुर मात्रा में लिया होगा। इसी लिए कहा गया है कि "देवों की साधरण जनता भी होनी चाहिए। क्योंकि जब देवों की जनता होगी तो मनुष्यों की भी होगी। जब सब जनता मिल जाती है तो यज्ञ तय्यार हो जाता है। जिस जनता में इस रहस्य को जानने वाला 'होता' होता है, उसके लिए यह यज्ञ तय्यार हो जाता है"। (ऐ.ब्रा. .१२३) और "जो प्रजा यज्ञ में भाग नहीं लेती है, वह पराभूत अर्थात् दलित–पतित हो जाती है"– *या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः पराभूता वै ताः* (श.ब्रा., १.५.२.४) कह कर 'प्रजाओं' को यज्ञ करने के लिए उत्साहित किया जाता है। इस प्रकार प्रजा के लोग यज्ञ, अर्चना और श्रम करते रहते हैं– *ता एवैतद्यायजूकाः करोति ता इमाः प्रजा यजमाना अर्च्चन्त्यः श्राम्यन्त्यश्चरति* (वही १.७.३.१४)।

(५) मनुष्यों द्वारा देवों का अनुकरण :

देवों द्वारा संज्ञप्त होकर विकसित हुए मनुष्यों ने, उनके सतत सम्पर्क में रह कर, उन्ही के निर्देशन में यज्ञ को सकुशल सम्पन्न करने के लिए श्रम करते हुए, बहुत कुछ सीखा और समझा होगा। इनमें से अनेक शुद्ध और प्रतिभा सम्पन्न सक्षम व्यक्तियों को देव वापस जाते समय अथवा बाद की अनेक यात्राओं में अपने साथ स्वर्ग लोक ले गए होंगे। मगर अधिसंख्य लोगों ने जो थोड़ा ही समझ पाए थे और बहुत कुछ ऐसा था जिसे वे नहीं समझ पाए थे, देवों के चले जाने के बाद यहीं पृथिवी पर रह कर उनका अनुकरण करते हुए, देव कृत्यों को दुहराना प्रारम्भ कर दिया होगा। इस अन्तिम तथ्य की ओर संकेत करने वाले अनेक उल्लेख मिलते हैं। कहा गया है कि "जैसा देवों ने किया था वैसा ही यह भी करता है। वे राक्षस तो देवों द्वारा भगा दिये गए थे, परन्तु वह तो यह सोच कर ही करता है कि जैसा देवों ने किया था वैसा ही मैं भी करूँ" (श.ब्रा., ६.२.३.४)। इसी प्रकार एक अन्य क्रिया के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि "देवों ने पापी वृत्र को मार कर पाप रहित होकर यह कार्य किया था। यह यजमान भी पापी वृत्र को .... पापी मृधों को.... मार कर निष्पाप हो कर वैसा ही करता है" (वही ६.५.२.४–५)। यज्ञ की अनेक क्रियाओं के औचित्य को बार–बार *'एवं ही देवा अकुर्वत। इति देवा अकुर्वत। इत्यु वै मनुष्यः कुर्वते, इति'* (तै.ब्रा., १.५.६.४)– कह कर सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

(६) यज्ञ की खोज–१ :

कहा गया है कि "देवों ने यज्ञ से ही इस स्वर्गलोक को जीता था। जब वे

इसे जीत चुके अर्थात् जब स्वर्गलोक पहुंचने के साधनों से सम्पन्न हो गए तो कहने लगे कि इसको मुनष्यो द्वारा न प्राप्त करने योग्य कैसे बनाया जाय। उन्होंने यज्ञ के रस को ऐसे चूस लिया जैसे मधुमक्खी मधु को चूसती है (आज की शब्दावली में कहना होगा कि ऊर्जा के स्रोत को निकाल कर यानों को खाली कर दिया)। यज्ञ को दुह कर अर्थात् अपना इष्ट सिद्ध कर, यज्ञ को यूप से छिपा कर (अर्थात् छिपाने के स्थान पर संकेत चिन्ह लगा कर) स्वयं अन्यत्र चले गए।..... अबऋषियों ने सुना... ऋषि लोग उनको ढूंढने लगे। उन्होंने अर्चना करते हुए श्रम करना प्रारम्भ किया। श्रम से ही देवों ने जो कुछ जीतना चाहा था, जीता था। और ऋषियों नेभी। या तो इनको देवों ने आकर्षित किया था या वे स्वयं ही चले थे। उन्होंने कहा, 'आओ, उस स्थान पर चले जहां से देवों ने स्वर्ग लोक के लिए उत्क्रमण किया था'। वे यह कहते हुए घूमने लगे कि 'यह क्या चमकता है, यह क्या चमकता है'। पुरोडाश को कूर्म के रूप मेंरेगते हुए देख कर उन्होंने समझा कि यही यज्ञ है। उन्होंने कहा, 'अश्विनों के लिए ठहर जाओ, सरस्वती के लिए रुक जा, इन्द्र के लिए ठहर जा' लेकिन वह चलता ही गया। जब उन्होंने कहा, 'अग्नि के लिए रुक जा' तो वह ठहर गया। यह समझ कर कि यह अग्नि के लिए ठहर गया है, उन्होंने उसे अग्नि में लपेट कर सबकी आहुति दे दी। क्योंकि वह आहुति देवों के लिए थी, उनको यह यज्ञ रोचक प्रतीत हुआ। उन्होंने इस यज्ञ को किया, उसको फैलाया। यह यज्ञ परम्परा से कहा जाता है। पिता ब्रह्मचारी पुत्र के लिए इसका उपदेश करता है' (श.ब्रा.१.६.२.२-४)।

(७) यज्ञ की खोज—२ :

स्वर्ग जाते समय देवों द्वारा, मनुष्यों को न जानने देने की इच्छा से, यज्ञ को छिपा कर चले जाने की बात अनेक स्थानों पर कही गई है (तै.सं.६.३.४.७)। एक स्थान पर कहा गया है कि देवों के स्वर्ग लोक जय कर लेने अर्थात् उनके स्वर्ग लोक चले जाने के बाद "मनुष्य और ऋषि देवों को यज्ञ स्थल की ओर इस उद्देश्य से गए कि यज्ञ के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करें। उन्होंने इधर उधर घूम फिर कर देखा कि एक पशु मरा पड़ा है जिसकी अंतड़ियां निकली हुई हैं। तब उन्होंने समझ लिया कि यज्ञ में पशु की वपा का होना आवश्यक है" (ऐ.ब्रा.२.७.३)।

(८) यज्ञ की खोज—३ :

अन्यत्र कहा गया है कि स्वर्ग जाते समय देवों को भय हुआ कि हमारे चले जाने के बाद, इस यज्ञ को देख कर मनुष्य और ऋषि लोग पीछे से जिज्ञासा करेंगे। उन्होंने यज्ञ को भूमि में छिंपा कर यूप के द्वारा उसको ढांप दिया था। उन देवों ने स्वर्ग जाते हुएयूप को भूमि में इस प्रकार गाड़ा था कि सिरा नीचे की ओर रहे। तब मनुष्य और ऋषि भी देवों के यज्ञ करने के स्थान पर आकर सोचने लगे कि हमको भी यज्ञ के विषय में कुछ ज्ञान हो जाए। उन्होंने केवल यूप को पृथिवी में नीचे की ओर सिर किए हुए गड़ा पाया। उन्होंने जान लिया कि इससे ही देवों ने यज्ञ के रहस्य को छिपा दिया है। उन्होंने यूप को उखाड़ लिया है और उसका सिरा ऊपर को कर

दिया । इससे उन्होंने यज्ञ को जान लिया और स्वर्ग (जाने के साधन)को देख लिया था" (वही २.६.१) । पुनः " ऋषियों ने देवों के चले जाने की बात सुनी । उन्होंने यज्ञ को इकठ्ठा किया जैसे वह इकट्ठा किया गया था । इसी प्रकार जो पुरुष दीक्षित हो जाता है, वह भी यज्ञ को इकठ्ठा करता है"(श.ब्रा.३.१४.३.से ३.७.१.२७) ।

(६) यज्ञ स्थल तीर्थ स्थान हो गया :

कहा गया है कि जिस स्थान से देवों ने स्वर्ग के लिए उत्क्रमण किया था वहं स्थान पृथिवी पर बचे रह गए लोगों के लिए पवित्र स्थान हो गया था । अंगिरसों के चले जाने के बाद उनमें पीछे रह गए हविष्मत और हविष्कृत ने उनके उत्क्रमण स्थल पर तपस्या की थी (ता.ब्रा.. २०.११.३) । अन्यत्र भी कहा गया है कि देवों के चले जाने के बाद उनके अनुयायी व्रात्य होकर जीवन यापन करते हुए उस स्थान पर आए जहां से देवों ने स्वर्गारोहण किया था (वही १७.१.१) । आगे कहा गया है कि "यज्ञ से ही देवों ने द्युलोक प्राप्त किया था किन्तु उनके पशुओं का अधिष्ठाता यहीं छोड़ दिया गया था"(श.ब्रा.. १.७.३.१) ।

५. स्वर्ग :

(१) स्वर्ग की स्थितिः

ऊपर देवों के प्राचीन निवास स्थान के रूप में स्वर्ग लोक का अनेक बार उल्लेख आ चुका है । जिज्ञासा होना स्वाभविक ही है कि वह कौन सा स्थान था, कैसा था और कहां था, जिसे स्वर्ग लोक कहा गया है । वैदिक साहित्य में मूलतः तीन ही लोक माने गए है– *त्रय इमे लोका* (तै.सं., २.५.११.६. ,२.६.५.३.१.७.११.११.,क.क.सं., ४०.१. श. ब्रा., १.२.४.२०–२१)– पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक । इन तीन के आधार पर ही यास्क ने निरुक्त में देवों का वर्गीकरण किया है । इनमें से अगला पिछले से बड़ा कहा गया है (ता.ब्रा.१६.१०.३) । यह स्वर्ग लोक अन्तरिक्ष के पार, द्युलोक में कहीं स्थित कहा गया है (वही २०.१.३,ऐ. ब्रा.,६.२८.२,तुलना करें–ऋ. ३.५६.२) । अनेक स्थानों पर ' *सप्त वै देवलोकाः* (ऐ. ब्रा. २.७.७.,४.१६.३जै.ब्रा., १.३३३) और *'नव वै स्वर्गलोकाः'* (तै.ब्रा., १.२.२.१) कह कर द्युलोक में देवों के अन्य उपनिवेशों के रूप में स्वर्गो की संख्या भी बताई गई है । सात और नौ की ये संख्याएं सौर मंडल के इतने ही ग्रहों, उनके प्रदक्षिणा पथों और कक्षाओं की ओर भी संकेत कर सकती हैं । प्रतीत होता है कि देव इन्हीं या इन्हीं जैसे किसी अन्य ग्रह पर स्थित अपने प्राचीन निवास स्थान–स्वर्ग लोक–से पृथिवी पर आए रहे हों । स्वर्ग लोक को सबसे ऊपर– *उपरीव हि सुवर्गो लोको*– बताया गया है । कुछ स्थलों पर बृहस्पति के उत्तम स्थान तक आरोहण करने (श.ब्रा., ५.१.५.२.,यजु ६.१०) अथवा सप्तर्षियों तक जाने (ता.ब्र., १.५.५) का भी उल्लेख मिलता है । यहां भी हमें उसी अद्यावधि अज्ञात ग्रह का ही संदर्भ ग्रहण करना चाहिए जहां से प्रजापति और देव यहां आए थे और जो उनका मूल अभिजन था और जहां वापस जाने के लिए वे इतने प्रयत्नशील थे । असुर, जिन्हें देवों से पूर्व ही आकर यहां स्थापित बताया गया है, को साहित्य में कभी भी स्वर्ग का निवासी न कहे जाने से, यही प्रकट होता है कि वे किसी अन्य ग्रह

से ही आए रहे होंगे।

(२) स्वर्ग की दूरी:

इस स्वर्ग लोक की यहां पृथिवी से दूरी का भी उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि स्वर्ग लोक पृथिवी से एक के ऊपर एक — *उत्तराधर* (ता.ब्रा. १६.८.६),—रखते हुए सहस्त्र 'गौ' की दूरी पर है (वही २१.१.६)। 'गौ' से यहां पृथिवी लोक का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। यूनानी भाषा में भी पृथिवी के लिए प्रयुक्त शब्द 'गैया'—Gaia—इसी गौ की प्रतिध्वनि ही है। और भी, पृथिवी कहने से मात्र पृथिवी गोलक का ही ग्रहण न करके, उसके सम्पूर्ण गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र के विस्तार का आकलन करना चाहिए। सहस्त्र की संख्या भी अनेक बार अपरिमित का बोध कराती है। इसीलिए तो अनेक बार '*सहस्त्रसंमितः स्वर्गो लोकः*' (तै.ब्रा. ३. ८.६.१.,३.६.४.६.,३.१२.५.८.,श.ब्रा.,१३.१.३.१) ' कह कर तुरन्त ही '*अपरिमितो स्वर्गो लोकः*' (तै.ब्रा., ३.८.६.२) भी कह दिया गया है। प्रजापति अर्थात् ब्रह्माण्ड का विस्तार मापने के लिए भी सहस्त्र संख्या का प्रयोग मिलता है। कहा गया है कि "प्रजापति जितना ऊंचा है, उतना ही चौड़ा भी है। उतने ही लम्बे ओर चौड़े ये लोक भी है। निश्चय ही जो वाजपेय करता है, वह प्रजापति को पा लेता है—प्रजापति के लोक— स्वर्ग लोक— को पहुंच जाता है" (ता.ब्रा., १८.६.२)। इस 'सहस्त्र' शब्द की व्याख्या करते हुए यह भी कहा गया है कि यहां से स्वर्ग लोक की दूरी सहस्त्र योजन अथवा सहस्त्रदिनों में रथ, अश्व अथवा पदाति के यात्रा जितनी है— *सहस्त्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोक :* (ऐ. ब्रा.२.७.७.,ता.ब्रा., २१.१.६)।

(३) स्वर्ग पहुंचने का साधन:

अन्यत्र कहा गया है कि "अब क्षत्रिय वेदी के उत्तर की ओर सत्रह तीर *प्रव्याधान*— फेंकता है। जितनी दूर तक एक तीर जाता है उतनी प्रजापति की चौड़ाई है और जितनी दूर तक एक के बाद एक, सत्रह तीर जाते है, उतनी प्रजापति की लम्बाई है" (श.ब्रा., ५.१.५.१३)। अन्यत्र कहा गया है कि यह स्वर्ग लोक "देवरथ की गति से बत्तीस दिनों के मार्ग की दूरी पर स्थिति है" (वही १४.६.३.२)। यह भी कहा गया है "निश्चय ही मनुष्य सात या नौ स्वर्ग लोक को पूरी तरह नहीं जान सकता है— *न वै मनुष्यः सुवर्ग लोकमञ्जसावेद। अश्वो वै सुवर्ग लोकमञ्जसा वेद, इति* (तै.ब्रा., ३.८.२२.१)— केवल अश्व ही वहां पहुंच कर उसे पूरी तरह जान पाता है"। यहां 'प्रव्याधान', 'देवरथ' और 'अश्व' आदि जिन साभिप्राय और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनका स्पष्टीकरण आगे हो सकेगा।

(४) स्वर्ग की पृथिवी पर पहचान:

इन सभी सन्दर्भों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि जब देव अपना यज्ञ— देवयान निर्माण कार्य— पूरा करके, कुछ को पृथिवी पर छिपा कर और कुछ के साथ अपने प्राचीन निवास स्थान को चले गए तो उन्हीं के साथ काम कर चुके लोगों से सुनी—सुनाई बातों की अनुश्रुतियां ही अब एक दूसरे में घुल मिल कर उपलब्ध होती है। धीरे—धीरे देवों के ऊंचे यज्ञ स्थल से उतर कर नीचे आए लोगों ने, उसी यज्ञ स्थल

को, जहां से देवों ने उत्क्रमण किया था, देवभूमि मान लिया और, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उसे पवित्र स्थान मान कर तीर्थयात्राएं करनी प्रारम्भ कर दी थीं। इस कथन की पुष्टि ताण्ड्य ब्राह्मण से भी होती है। वहां बताया गया है कि मरुस्थल के बालुकार्णव में, जहां सरस्वती लुप्त हो जाती है, वहां से घोड़े या रथ से यात्रा करने पर चालीस दिनों की दूरी पर प्लक्ष प्रस्रवण है (ता. ब्रा. २५.१६.१६. तै. सं. ७.२.१४)। वहां से उतनी दूरी पर स्वर्ग लोक है। सरस्वती के साथ–साथ चलते हुए– *सरस्वती संमितेनाध्वना*–ही स्वर्ग लोक पहुंच जाता है (ता.ब्रा. २५.१०.१६)। यहां स्वर्ग लोक से निश्चित ही हिमालय की ऊंचाईयों पर सरस्वती आदि नदियों के उद्गम क्षेत्र मानसरोवर का ही ग्रहण किया गया है (उदयवीरशास्त्री १९६२:३–१५, शाफेर १९५५:३५–४५)। अन्यत्र सरस्वती के स्थान पर यमुना के मार्ग से भी स्वर्ग पहुंचने का उल्लेख हुआ है – *एष वै स्वर्गो लोको यद् यमुना! स्वर्गमिव तल्लोकं गच्छन्ति स्वर्ग लोकं प्रत्यस्मिन लोके तिष्ठति* (जै. ब्रा., २.३००, २९७)। यहां भी स्वर्ग लोक की स्थिति नदी के उद्गम स्थल–मानसरोवरक्षेत्र– में ही कही गई है। इन संदर्भो में स्वर्ग की न्यून और अधिक दूरी इन ब्राह्मण ग्रन्थों की मूल शाखाओं के प्रसार क्षेत्र से ही आंकी गई प्रतीत होती है (भगवद्दत्त १९७४:२०४)।

हिमालय के मानसरोवर क्षेत्र को देव लोक मानने का कारण यह भी था कि देवों के यज्ञ स्थल से उतर कर नीचे आए मनुष्यों की उत्पत्ति पर्वत की मूर्धा पर उत्तम शिखर में होना सर्वस्वीकृत सिद्धान्त था– *उत्तम शिखरे जाते भूम्या पर्वतमूर्धनि* (म.ना. उ.१५.५)। चरक संहिता मे भी कहा गया है कि ऋषि लोग कभी घूमते हुए नीचे उतर आए थे किन्तु ग्राम्यौषध के आहार के कारण मन्द चेष्ट हो गए थे। उन्होंने अपने को कर्तव्यों में असमर्थ होने का कारण ग्राम्यवास जैसे आत्मदोष को मान कर, अपने पूर्व निवास स्थान, अमराधिपति द्वारा रक्षित हिमवान को लौट गए थे। (चि.स्था. ४.३–स्वामी विद्यानन्द सरस्वती बम्बई १९८६:१८६)।

६. स्वर्गारोहण :

(१) स्वर्ग पहुंचना कठिन है :

स्वर्ग लोक को 'असमायी' कहा गया है अर्थात उसे सब नहीं प्राप्त कर सकते। स्वर्ग लोक को कोई विरला ही पहुंच पाता है– *असमायी वै स्वर्गोलोकः कश्चिद्वै स्वर्गो लोको समेति* (ऐ.ब्रा., ६.२६.१०, ६.३०.१०)। स्वर्ग लोक 'दुरोहण' है, वहां कठिनाई से आरोहण किया जाता है। जो इस रहस्य को जानता है, जो आने वाली कठिनाईयों का पूर्वानुमान करके उन्हें दूर करने की उचित व्यवस्था कर लेता है, वही वहां पहुंच पाता है (वही ४.१८.४)। मार्ग में आने वाली बाधाएं तो दूर, कभी–कभी यहीं यज्ञ प्रक्रिया में भूल हो जाया करती थी। कहा गया है कि एक बार जब अंगिरस स्वर्ग जाने के लिए यज्ञ कर रहे थे, तब षळह के दूसरे दिन का कृत्य करते समय बार–बार भूल कर जाते थे। जब यदु के पुत्र शर्यात् ने इस भूल की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हुए 'यज्ञस्य रथं' वाला सूक्त पढ़वाया अर्थात् उसमें कही गयीं प्रक्रियाएं पूरी करवाई, तब वे यज्ञ को जान पाये थे और स्वर्ग लोक को पहुंच सके थे (वही ४.२०.४., ऋ१०.६२और

१.११) । कहा गया है कि यज्ञ की समृद्धि ही इसमें है कि क्रियामाण कर्म कहने वाली ऋचा या यजुष पढ़ी जाए— *एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूप समृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति* (यास्क१.१६) । और भी अन्तरिक्ष होकर स्वर्ग जाते हुए ध्यान लक्ष्य से हटाना नहीं चाहिए (तै.सं. ५.६.१.६.) क्योंकि अनेक बार लक्ष्य पहचानने में भ्रम भी हो सकता है (वही ७.४.६.१. ता ब्रा. ५.७.११) । स्वर्ग जाते हुए न दक्षिण समझ में आता है और न उत्तर, पूर्व ही और न पश्चिम । अन्तरिक्ष में पहुंच कर दिशाएं अपना अर्थ खो देती हैं— *देवानां वै स्वर्ग लोकं यतां दिशः समब्लीयन्त* । तब वसुओं से मार्ग दिखाने की प्रार्थना की जाती है कि यात्री निर्भय होकर स्वर्ग पहुंच सकें (तै सं. ५.३.२.२.१. ११.५–६. देखे –ऋ २.२७.११) अर्थात् तब नक्षत्रों की सहायता से ही गंतव्य तक पहुंच ने का मार्ग निर्धारित करना पड़ता है । स्वर्ग के मार्ग में मरुत भी बाधा उत्पन्न करते थे । कहा गया है कि "मरुत देवों के वैश्य हैं और अन्तरिक्ष में रहते हैं । जो स्वर्ग लोक जाता है वह उनको निवेदन करके ही जा पाता है (वायु के अनुकूल ही चलते हुए जाना होता है), वे उसको रोक या नष्ट भी कर सकते हैं" (ए. ब्रा. १.२.४) । आकाश में उत्पन्न होने वाले— *ते जज्ञिरे दिव* (१६४.२) — मरुतों को *'ईशान कृतो'* (१.६४.५) अथवा 'ईशान मुख'— *ततो मरुतोऽसृजत ईशानमुखान* (जै. ब्रा. ३.३८१) — कहा गया है । यहां स्मरण करा देना समीचीन होगा कि अभी कुछ दिनों पूर्व जब भारतीय प्रक्षेपण असफल हुआ था, तो एक वैज्ञानिक ने उत्तर–पूर्वी प्रक्षेपण के मार्ग में होने वाले वायु प्रकोप को ही इसके लिए उत्तर दायी बताया था ।

(२) स्वर्ग पहुंचने में कठिनाईयाः

अनेक अन्य बाधाओं का भी उल्लेख हुआ है । कहा गया है कि एक बार जब देव स्वर्ग जा रहे थे, तब उन्हें असुरों ने अन्धकार से घेर दिया । वे असुरों और अन्धकार को दूर करने के लिए 'सत्त्र' करने लग गए, मगर सत्त्र ठीक से नहीं हो पा रहा था । जब उन्होंने प्रजापति से 'आप विद्वान और बुद्धिमान हैं । हम मूढ़ हैं । हमको यज्ञ की विधि बताइए' कहते हुऐ सहायता चाही थी । तब प्रजापति ने उनसे कहा था कि अपना पीछाकिया जाना समझ कर एक 'महाअहि' मार्ग मे चला आया है और इसी लिए सत्त्र नहीं हो पा रहा है (श. ब्रा.. ११.५.५.१-८) । वेद में सामान्य रूप से 'अहि' शब्द का अर्थ मेघ होता है । (नि.घ १.१०, १.१२, में इसका अर्थ उदक भी दिया गया है) । परन्तु यदि 'अहि' को सर्प मान लिया जाए और स्मरण रखा जाए कि पृथिवी को *'सर्पन्ति गच्छन्तीति देवा सर्पाणां देवानां राज्ञी भूमिः'* कह सर्प राज्ञी भी कहा जता है (तै.ब्रा. २.२.६) तो स्पष्ट हो जाएगा कि यहां देवयान के मार्ग में धूमकेतु जैसे किसी ग्रह–पिण्ड के आ जाने का ही परोक्षकथन हुआ है । अन्यत्र इसी जैसी किसी घटना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अंगिरसों का किसी 'तिरश्ची' संज्ञक दानवी ने पीछा किया था (८.६५.४. .ता.ब्रा. १२.६.१२) । पृथिवी के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र की सीमा का अतिक्रमण करने की अपनी ही विशेष प्राविधिक कठिनाईयां भी रही होंगी । बताया गया है कि चाहे सीधे जाएं या तिरछे, पृथिवी अपनी परिधि के बाहर आसानी से नहीं निकलने देती — *न वाऽइमां कश्चन तिर्यनोर्ध्वोऽत्येतुमर्हति* (श.ब्रा.. १३.१४.२) । वेदों में घेरनी वाली परिधियों के घेरे से मुक्त

कराने की प्रार्थना की गई है— *मामव परिधीं रति तां इहि* (६.१०७.९६)।

अनेक बार स्वर्ग जाते हुए, मार्ग में प्राविधिक कठिनाईयां भी उठ खड़ी होती थीं। एक बार स्वर्ग जाते हुए अंगिरसों की मेखला ही गिर कर बिखर गई थी— *अंगिरसों वै स्वर्ग लोकं यन्तस्ते मेखला संन्यकिरन्* (क.क.स. ३६.१)। इस लिए विस्तृत अन्तरिक्ष जिसकी गोद है, उस अदिति से रक्षा करने की प्रार्थना की जाती थी (तै.स. ३.३.०७ ४)। इस प्रकार सब भांति सज्जित और सब ओर से सुरक्षित होकर ही साहसी और सतत् यत्नशील यात्री, मार्ग की बाधाओं को पार करते हुए, अन्ततः स्वर्ग लोक पहुंचने में सफल हो ही जाते थे। कहा गया है कि "देव स्वर्ग लोक की ओर चल दिए परन्तु असुरों— राक्षसों ने उन्हें रोका था। देवों ने असुरों से कहा कि विरूप हो जाओ, कुरूप हो जाओ। अब जब असुर विरूप होने लगे—छिन्न भिन्न होने लगे— तो देव स्वर्ग को चले गए थे"(ऐ.ब्रा. ५. २१.१)।

प्रतीत होता है कि स्वर्ग लोक के पास पहुंच कर भी उसे पहचान पाना सरल नहीं था— वहां उतरने की अपनी विशिष्ट कठिनाइयां रही होंगी। कहा गया है कि शक्ति के पुत्र गौरवींति स्वर्ग लोक के पास पहुंच कर भी, इस विशेष सूत्र का दर्शन करने—स्मरण करके उसमें विहित क्रियाओं को सम्पादन करने के— बाद ही स्वर्ग लोक प्राप्त कर— पहुंच सका था— वहां कुशल सकुशल उतर सका था। आगे बताया गया है कि यह निविद स्वर्ग लोक को चढ़ने की सीढ़ी हैं। जैसे सीढ़ी पर ठहर ठहर कर चढ़ते हैं, वैसे ही इसको भी रुक रुक कर पढ़ते हुए— सावधानी पूर्वक सभी कृत्यों को करते हुए ही, स्वर्ग लोक का आरोहण करना चाहिए (ऐ.ब्रा. ३.१२.८)। अन्यत्र भी, स्वर्ग आरोहण की तुलना एक एक शाखा को पकड़ कर सरकते हुए वृक्ष पर चढ़ने से की गई है (तां. ब्रा., ३.६.२.१८.१०.८, ऐ. ब्रा., ४.१८.७)। यह भी कहा गया है कि स्वर्ग आरोहण के सभी प्रयास सर्वदा सफल ही नहीं होते थे। स्वर्ग से सोम लाने के प्रथम दो प्रयासों का असफल हो जाने की कथा तो सर्व विदित है ही (ऐ.ब्रा. ४.१८.६., तै.सं., ६.१.६. १—३., क.क.सं., ३७.१. श. ब्रा., ३.२.४.१., १.८.२—१०.,)।

स्वर्ग जाते हुए इधर—उधर भी नहीं देखना चाहिए, ध्यान बट जाने से लक्ष्य पहचाने में चूक हो सकती थी —*एतया लोकान्त्समारोहति सुवर्यन्तो नावेक्षन्त* (तै.सं. ५ ४.७.१)। फिर भी स्वर्ग जाते समय अनन्त विस्तार वाले दो समुद्रों के देखे जाने का संकेत मिलता है। समुद्र में उठने वाली महाकाय लहरों के कारण ही ये दोनों समुद्र एक दूसरे की परिक्रमा करते हुए से दिखाई दे रहे थे। यात्री गण एक को तो देखते देखते पार कर गए थे परन्तु दूसरे को दूर चले जाने के कारण नहीं देख पाए थे (तै. सं. ३.२.२.१)। स्वर्ग पहुंचते हुए उन्होंने अन्धकार को प्रकाश से हटाते हुए सूर्य के दोनों ओर से देखा था— *सूर्यमभुयतो ददर्शाहं* (वही ३.५.५.१)।

(३) स्वर्गारोहण की याज्ञिक प्रक्रियाः

द्युलोक के किसी ग्रह विशेष से पृथिवी पर आ पहुंचे प्रजापति और देव अपने प्राचीन निवास स्थान *'प्रत्नस्यौकसो'* — स्वर्ग लोक(१.३०.६.८.६६.१८) वापस जाने की इच्छा रखते हुए भी गंतव्य तक पहुंचने के प्रति अपने अज्ञान के कारण शंकालु थे —

अज्ञानादविभयु : (तै. ब्रा ५.७ ०१) । स्वर्ग लोक उनसे तिरोहित हो चुका था (तै ब्रा. ३ ०२२१) । परन्तु जैसा कि बार–बार दुहराया गया है ,वे अन्ततः अपने ग्रह–लोक पहुंचने में सफल ही हो गए थे । कहा गया कि प्रजापति ने स्वर्गलोक को पा लिया था किन्तु देवों ने एक एक करके सभी छन्दों का प्रयोग करने पर भी स्वर्ग लोक प्राप्त करने में सफलता नहीं पाई थी । तब उन्होंने इस विशेष क्रिया को देखा विचारा । इससे देवों ने स्वर्ग लोक को जीतने में सफलता पाई थी (तै. सं.७.४.४१) । "अब पाप रहित देवगण लोगों के कल्याण के लिए स्वर्ग के उन्नत प्रदेशों में रहते हैं । अपने तेज से भली भांति सुशोभित एवं भली प्रकार उन्नत देव अब किसी प्रकार की हिंसा की आशंका से मुक्त होकर स्वर्ग मे रहते हैं और वहीं से यज्ञ में आते हैं" (१०.६३४–५) । " हे स्वर्ग के स्वामी इन्द्र, तुम स्वर्ग को दीप्ति शाली बनाने गए थे" (८.८७०३–६) । बृहस्पति को पुरोहित बना कर ही देव स्वर्ग लोक पहुंचे थे (ऐ. ब्रा. ३१२.६) । सभी छन्दों से इष्ट साधन करते हुए –'*इष्ट्वा*'–देवों ने स्वर्ग लोक जीता था (वही १.२.३, ता. ब्रा.. ५.५.४) । स्वर्ग पहुंचने की कामना से साध्यों ने भी इस विशेष क्रिया को देखा–विचारा था और फिर उसे संयोजित करके यज्ञ किया था और स्वर्ग लोक जा पहुंचे थे । जो यह जानता है वह साक्षात देवों के पास चढ़ जाता है (तै स. ७.२.९.१) । इसी से देवों ने स्वर्ग लोक को जीता था, इसी से ऋषियों ने तथा इसी इसी से यजमान भी स्वर्ग लोक प्राप्त कर लेता है । इसी से वसिष्ठ ने भी इन्द्र के प्रिय धाम की प्राप्त कर लिया गया था, परम लोक पाया था (ऐब्रा. ६.२६.४) । कहा गया है कि "हे इन्द्र, जो देवों को बुलाने वाले प्रमुख लोग तुम्हारी कृपा से अलग अलग स्वर्ग लोक में गए हैं, उन्होंने अन्यों द्वारा किए गए यज्ञ के कार्य किए थे" (१०.४४.६) । " हमारे पितरों ने अपनी शक्तियों से सारे लोकों की परिक्रमा की है तथा उन स्थानों पर गए थे जहां दूसरे नहीं जा सकते थे । उन्होंने अपने शरीर को सभी लोकों में नियमित किया था "(१०.५६.५) । पितर भी तपस्या से स्वर्ग लोक गए थे और तपस्या से ही अपराजेय बने थ (१०.१५४.२) । बुद्धिमान लोग अपने कर्मों के द्वारा आकाश और पृथिवी के बीच भी घी की तरह जल पीते हैं (१ २२१४) । प्रियमेध के परिवार के लोगों ने देवों के पुराने स्थान अर्थात् स्वर्ग लोक को प्राप्त किया था (८.६९ १८) । राजा तिरिंदर ने भी स्वर्ग प्राप्त किया था (८.६.४८) । अन्यत्र, इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि "मैं उन लोगों को देखना चाहता हूं जो पूर्वकाल में किए गए यज्ञों द्वारा स्वर्ग लोक को प्राप्त हुए हैं । वे मन के संयम और शुभकर्मों की सहायता से ही स्वर्ग लोक प्राप्त कर सके थे"(३.३८.१ -२) । और फिर "हे यजमान और यजमान पत्नी, हम तुम दोनों के उस लोक में जाने की अभिलाषा करते हैं"(१०५४.६) । अन्यत्र बताया गया है कि आदित्यों और अंगिराओं में स्वर्ग लोक पहुंचने की स्पर्धा थी । इनमें आदित्य पहले स्वर्ग लोक पहुंच गए थे, और उसके साठ वर्ष बाद ही अंगिरा (ऐ.ब्रा. .४.१८.३, ता.ब्रा.१६.१२. १) ।

और भी,कहा गया है कि दीक्षा और तप से ही देव अग्रगामी हुए थे । तप से ही ऋषियों ने भी स्वर्ग लोक प्राप्त किया था (तै.ब्रा.३.१२३.१..३.७७.१.४) । देवों ने यज्ञ से, श्रम से और तप पूर्वक दी हुई आहुतियोंसे ही लोक को प्राप्त किया था (श.ब्रा. १ ६.२.२.३.१.४.३.,ऐ.ब्रा., २७.३.,ता. ब्रा.. ५.५.५ इत्यादि) । ऋग्वेद के एक मंत्र की व्याख्या करते

हुए कहा है कि 'अग्नि द्वारा ही अग्नि में यज्ञ करके देव स्वर्ग को गए थे। वे महिमावान देव उसी स्वर्ग को प्राप्त हो गए थे, जहां साध्य पहले से ही पहुंच हुए हैं। उन्होंने भी अग्नि द्वारा अग्नि में ही यज्ञ किया था। वे स्वर्ग लोक पहुंच गए थे"(१.६४.५०. ऐ.ब्रा.१.३५)। अन्यत्र भी, '*युक्त्वाय मनसा*', '*युक्तेन मनसा*, और '*धिया*'— मनोयोग पूर्वक बुद्धि के प्रयोग से अर्जित '*शक्त्यै* से '*सुवर्गेयाय*' प्रकाशमान द्युलोक या स्वर्गलोक पहुंचने (तै.सं. ४.१.१.१) में सफलता प्राप्त करने का भी उल्लेख मिलता है।

प्रजापति ने 'धाय्यों' की सहायता से इन लोकों में जिस जिंस भी वस्तु की कामना की, उसको प्राप्त कर लिया था, (ऐ.ब्रा. ३.१२.७)। इस 'प्रायणीय' इष्टि से स्वर्ग लोक को जाया जाता है (वही १.२.१. क.क.सं. ३६.५)। 'दर्श पूर्णमास' को निश्चय पूर्वक 'देवरथ' कहा गया है— *एष वै देवरथो यद्दर्शपूर्णमासौ* (तै.स. २.५.६.१)। यज्ञ के पूर्ण होने पर देव सम्पूर्ण यज्ञ के साथ—*सर्वेन वै यज्ञेन, यज्ञस्य वै समृद्धेन*— ही स्वर्गलोक चले गए थे (वही १.७.१.३ और १.६.१०.२)। देवों ने सम्पूर्ण शक्ति में यज्ञ में श्रम किया और यज्ञ से चिपटे रहे थे (वही ४.६.३.२-३)। इसी से इष्ट साधन करते हुए देवों ने प्रजाति—समृद्धि और श्री— पाई थी (श.ब्रा. २.५.४.११)। यज्ञ ही हमारी कामनाएं पूर्ण करता हुआ देवयान के पथ से हमें प्रकाशमान लोक को ले जाता है— *पथिभिर्देवयानै रिष्टापूर्ते तेनेमं यज्ञं नो वह सुवर्देवेषु गन्तवे* (तै.सं. ५.७.७.२)। देवों ने चार होताओं की सहायता से यज्ञ को ताना था और स्वर्ग लोक को पहुंचे थे (तै.ब्रा. २.२.८.१)। 'अभीवर्त' की सहायता से देवों ने अपने (यान) को मोड़ा था"(तै.ब्रा. ४.३.२)। 'यज्ञायज्ञीय' से यज्ञ को समाप्त करते हुए देवों ने स्वर्गारोहण किया था (वही १५.६.४), वे 'सफ' की की सहायता से स्वर्ग पहुंचे थे (वही ४.११.५.१५.११.८)। "सतोबृहती" के द्वारा इन लोकों से होते हुऐ देव अन्ततः स्वर्ग लोग पहुंच गए थे (वही १६.११.६.१६.१२.७)। इसी प्रकार 'आहवनीय' से '*अन्तरिक्ष एवैने आक्रमयति.... स्वर्गमेवैनं लोकं गमयति*' (क.क.सं. ४०.१) तथा '*बार्हस्पत्य चरु*' से '*ऊर्ध्वा दिशं समारोहयति*' (श.ब्रा. ५.५.१.७) भी कहा गया है। देवों ने 'अग्निष्टोम से यह लोक, 'उक्थ्य' से अन्तरिक्ष और 'इस' से उस लोक पर विजय—अधिकार—प्राप्त की थी (ता.ब्रा. २०.१३)। 'पराक' से देव स्वर्ग गए थे। पृथिवी से मुड़ कर इससे स्वर्ग लोक पहुंच जाता है। और फिर लौटता नहीं है— *स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते तुष्टुवानः* (वही २१.८.२.२.६.२)। इस कर्म से देव स्वर्ग लोक पहुंच गए थे—*नाकसद्भिर्वै देवा..... सुवर्गलोकमायन्* (तै.सं. ५.३.७.१)। देव स्वर्गीय ओर अनिरुक्त — दोनों ही प्रकार के छन्दों के द्वारा स्वर्ग लोक पहुंचे थे (क.क.सं. ३१.१७)। देव वस्तुतः मार्ग पाने वाले हैं (श.ब्रा. १.६.२.८. यजु. २.२१)। इस कर्म से देव स्वर्ग लोक में एकत्र होकर मिल गए थे (ता.ब्रा. २३.१६.२)।

इसी प्रकार, आदित्य और अंगिरा (तै.ब्रा. २.२.३.५-६.१.३.६.१-५. ता.ब्रा. १६.१२.१.२५.२.२. तै.सं. ७.१.४.१), कालकंज असुर (तै.ब्रा. १.१.२.४-५), प्लात का पुत्र गय (ऐ.ब्रा. ५.२१.२) और ऋषियों के भी (जै.ब्रा. ३.२७६-२७७) 'इध्मवाह' की सहायता से स्वर्ग पहुंचने का उल्लेख मिलता है। गृत्समद ने भी इन्द्र के प्रिय धाम पहुंच कर के परमधाम प्राप्त किया था (ऐ.ब्रा. ५.२१.२)। ऋषियों ने श्रम, तप और ब्रह्मचर्या से स्वर्ग लोक जय किया था (जै.ब्रा. १२.२७)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में '*एकवदेव सुवर्ग लोकमेति*' (३.८.१६.२)

पर सायण ने *प्रयत्नेन प्राप्नोति*—प्रयत्न से स्वर्ग प्राप्त करने का व्याख्यान किया है। इस प्रकार लगभग सभी यज्ञ—सामान्य—*यो वै वाजपेयः स राजसूयो स वरुणसवोऽथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः* (ता.ब्रा., १६.१३.१), अथवा पितृयज्ञ जैसे असामान्य (तै.ब्रा. १.६.६ २) अथवा उनमें प्रयुक्त विविध याज्ञिक कर्मकाण्ड प्रक्रियाएं सभी को स्वर्ग लोक तक ले जाने वाला 'देवरथ' ही कहा गया है— *देवरथो वा एष यद्यज्ञस्तस्यैतावन्तरोरश्मी यदाज्य प्रउगे* (ऐ.ब्रा..२.१०.५)

अन्यत्र कहा गया है कि "मैत्रावरुण के नौ मंत्रों से यजमान को इस लोक से अन्तरिक्ष को ले जाता है और दसवें से अन्तरिक्ष से भी ऊपर, क्योंकि अन्तरिक्ष लोक ज्येष्ठ है। नौ अन्य मंत्रों से उस लोक से भी ऊपर स्वर्ग लोक को ले जाता है। जो सात ही मंत्र पढ़ते हैं वे यजमान को स्वर्ग लोक में नहीं ले जाना चाहते — *न ह वै स्वर्ग लोकमभिवोळुमर्हन्ति ये सप्त सप्तान्याहु* —इसी लिए पूरे का पूरा सूक्त ही पढ़ना चाहिए" (ऐ.ब्रा. ६.२.८.२)।

यह भी कहा गया है कि 'बालखिल्य' ईटों की सहायता से ही देव इन लोकों को गए थे। यहां से ऊपरकी ओर और वहां से नीचे की ओर। यह चढ़ान इस लोक से परे था। परन्तु प्रतिष्ठा — पैर टिकाने का स्थान तो पृथिवी ही थी। वे देव इस पृथिवी को लौटे। इसी प्रकार यजमान भी पृथिवी को लौटता है (श.ब्रा. ८.३.४.७)। जैसे पेड़ पर चढ़ते हैं और फिर उतरते हैं, उसी प्रकार स्वर्ग लोक का आरोहण करके उतरते हैं और इस लोक में प्रतिष्ठा पाते हैं (ता.ब्रा. ४.७.१०)। छन्दों से भी स्वर्ग लोक तक चढ़ने और फिर उन्हीं से उतरने का भी उल्लेख हुआ है (वही ५.५.४–५)। ब्रह्मवादियों का कहना है कि देवों तक इन्हीं छन्दों से चढ़ते—उतरते हैं (वही १५.७.६)। राजसूय यज्ञ से स्वर्ग लोक तक आरोहण करनें को कह कर बताया गया कि जो वहां से वापस नहीं लौटते हैं, वे या तो मर गए होते हैं या फिर विक्षिप्त हो जाते हैं—*यदिमं लोकं न प्रत्यवरोहेयुरुद्वा माद्येयुर्यजमानाः प्र वा मीयेरन्* (तै.सं.७.३.१०.२–३.,ता.ब्रा. १८.१० १८)। जो पुराने समय में वाजपेय यज्ञ किया करते थे, वे ऊर्ध्वलोक को चढ़ जाते थे। वहां से औपावि जानश्रुतेय नीचे उतर आया था। तब से आज कल के लोग नीचे उतर आते है" (श.ब्रा. ५.१.१.४–५.६.१.१.२७–३४)। यह भी कहा गया है कि एक विशेष 'विष्टुति' से लौटना होता है। परन्तु यह लौटना फिसलन भरा है और कभी—कभी लौटते समय पशु — देवयान के वाहक अश्व—नष्ट हो सकते हैं मगर भल्लावि इसका सफलता पूर्वक प्रयोग करते थे (ता.ब्रा. २.२.२.–४)। इसी 'विष्टुति' से देव स्वर्ग लोक गए थे और इसी का प्रयोग करके ही लौटे भी थे (वही २.६.२.,२.१.२.२.,२.१५.२.,३.२.२.,३.५.२ इत्यादि)।

(४) यज्ञ का अर्थः

द्युलोक के किसी अज्ञात नामा ग्रह से पृथिवी पर उतर आए देवों ने अपने मूल निवास स्थान को वापस लौट जाने के लिए जो कुछ भी प्रयास किए गए थे, उन्हें यज्ञ का नाम दिया गया है। देव जो कुछ भी करना चाहते थे, उसे वे यज्ञ के द्वारा ही किया करते थे—*यज्ञेन ह स्म वै तद्देवाः कल्पयन्ते यदेषां कल्पमास्* (श.ब्रा.२.४.३.३)।

यह भी कहा गया है कि "देवों ने जो यज्ञ को जाना था, वह इसी पृथिवी पर ही जाना था। इसी पृथिवी पर यज्ञ का सम्भार एकत्र किया था। इसी पृथिवी पर यज्ञ ताना था। इसी लिए पृथिवी पर ही यज्ञ किया जाता है" *यद्वै तद्देवा यज्ञं प्रजानन्नस्या वाव तत्प्राजानन्नस्यां सम्भरन्नस्यै वै यज्ञस्तायते* (ऐ.ब्रा.१.२.८)। इस यज्ञ द्वारा पृथिवी लोक से ऊपर उठकर स्वर्ग लोक जाने की व्यवस्था बनाई गई थी। अतः निश्चित ही यह यज्ञ आज होने वाले साधारण यज्ञों जैसा नहीं रहा होगा। आज तो याज्ञिक कर्मकाण्ड में '*देवतोद्देशेन द्रव्यस्य त्यागो यज्ञ*' अर्थात् देवता के प्रति समर्पण के उद्देश्य से प्रज्वलित अग्नि में द्रव्य के त्याग अर्थात् अग्निहोत्र को ही यज्ञ जाना—माना जाता है। श्रौतसूत्रों में यज्ञ की परिभाषा करते हुए '*द्रव्य देवता तयागः*' कहा गया है। इस परिभाषा के अनुसार जिस कर्म में द्रव्य, देवता और त्याग— इन तीनों का ही सहभाव हो, उस ही कर्म को यज्ञ कहा गया है (कात्या.श्रौ.सू.,१.२.२. —पं. युधिष्ठर मीमांसक १९७७:८८)।

किन्तु परिभाषाएं तो कर्म को देखकर, उसके सामान्य लक्षणों के आधार पर ही बाद में बनाई जाती हैं। संस्कृत शब्दों का मूल अर्थ जानने के लिए उनकी धात्वर्थ योजना का ही आश्रय लिया जाना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि 'यज्ञ' शब्द की सिद्धि 'देवपूजा', 'संगतिकरण' और 'दान'—इन तीन अर्थों को प्रकट करने में समर्थ 'यज्' धातु में भाव अर्थ म 'नङ' प्रत्यय करके होती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है— "धात्वर्थ के अनुसार यज्ञ शब्द के तीन अर्थ होते हैं,(१) विद्या, ज्ञान और धर्म के अनुष्ठान में बढ़े हुऐ देवों— विद्वानों को अपने लौकिक और पारमार्थिक सुखों के सम्पादन के लिए सत्कृत करना, (२) सम्यक रूप से पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान की संगति से शिल्पादि विद्या का प्रत्यक्षीकरण और विद्वानों के समागम का नित्य अनुष्ठान तथा(३) विद्या,सुख धर्म आदि शुभगुणों का नित्य दान—प्रचार प्रसार करना"(यजुर्वेदभाष्यम्. भाग,१पृ. ६.१–२ के संस्कृत भाग का स्वतंत्र अनुवाद)। इसी प्रकार मेध शब्द भी '*मेधृ संगमे च*' धातु सूत्र में, भाव अर्थ में ही 'घञ्' प्रत्यय लगा कर सिद्ध होता है। इस धातु सूत्र में 'च' के प्रयोग से पूर्व सूत्र में पठित '*(मिदृ मेदृ) मेधा हिंसनयोः*' की अनुवृति होने से मेध शब्द संगति करण, मेधा जनन और हिंसा— इन तीन अर्थों को प्रकट करने में समर्थ है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने तो किसी अन्य धातुपाठ के आधार पर इसका गति अर्थ में भी प्रयोग स्वीकार किया है (१९९२:४३२)। इन दोनों ही शब्दों का समभावी सामान्य अर्थ है 'संगतिकरण'। यजुर्वेद के प्रथम मंत्र मेंआए '*श्रेष्ठतमाय कर्मणे*' की व्याख्या करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है— *यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म* (श.ब्रा. १.७.१.५.,तै.ब्रा.,३.२.१४., का. स.,३०.१०., क.क.सं., ४२.८) अर्थात् 'श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है'। श्री मद्भगवद्गीता में भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए —*योगः कर्मसु कौशलम्*(२.५०) अर्थात् 'कुशलता पूर्वक कर्म करना ही योग है' कहा गया है। अन्यत्र, गीता में ही यज्ञ से ही नए नए पदार्थों को उत्पन्न करते हुए समस्त कामनाओं को पूरी करने की सम्मति दी गई है— *अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्*(३.१०)। इस प्रकार धात्वर्थ और व्याख्या, दोनों ही आधारों पर देवों द्वारा अपने प्राचीन निवास स्थान वापस जाने के लिए देवयान का निर्माण करना भी यज्ञ कहा जा सकता है। ऋग्वेद में स्पष्ट ही कहा गया है कि "हे इन्द्र, तुम्हारे स्वर्ग लोक के उद्देश्य से यज्ञ

करने के इच्छुक लोग किसी की हिंसा नहीं करते हैं"(६.२१.३)। आज कल किए जाने वाले यज्ञ तो मात्र देवों को प्रसन्न करने के लिए – *देवान्वाऽएष प्रीणाति या यजत्* (श.ब्रा.. १.६.१.३)—किए जाने वाले देवकृत्यों का अनुकरण ही हैं – *देवा अकुर्वन्निति* (वही ३.७.१.२६) —अभिनय ही हैं।

• • • • • • • • •

२. देवों का उत्क्रमण

२. देवों का उत्क्रमण

अभी तक यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि अति प्राचीन काल में देवों द्वारा यज्ञ का सम्पादन करके, उसी की सहायता से अपने प्राचीन निवास स्थान— स्वर्गलोक— वापस लौट जाने की मान्यता अत्यन्त सुदृढ़ थी। अब आगे उसी यज्ञ और उसके विविध अंगों के मूल स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली सूचनाओं को प्रस्तुत करते हुए उनका विश्लेषण किया जायेगा।

१.यज्ञ का स्वरूप :

(१) यज्ञ स्थल :

यज्ञ के सम्पादन के लिए यज्ञ स्थल का प्राथमिक महत्व है। अतः यज्ञ स्थल के चयन की व्यावहारिक सावधानियों के निर्देश अत्यधिक महत्व पूर्ण हैं। ऋग्वेद में 'यज्ञ के ऊंचे स्थान'—'*सुकृतस्य योनौ* (१०.६१.६) के साथ ही ' विस्तृत पृथिवी पर पर्वत के शिखर के समान उठी हुई वेदी' (१.१४६.२) का भी उल्लेख हुआ है। इसी सम्बन्ध में ब्राह्मणों में विस्तार से चर्चा मिलती है। कहा गया है कि "वे यज्ञ का स्थान खोजते है। जो सबसे ऊंचा स्थान हो उसे ही खेजना चाहिए। इससे ऊंची और कोई भूमि (आस—पास) नहीं होनी चाहिए। ऐसे ही स्थान से देवों ने द्युलोक प्राप्त किया था। जो दीक्षा लेता है वह देवों को प्राप्त हो जाता है। वह देवों के योग्य स्थान में यज्ञ करता है। यदि निकट ही कोई अन्य भूमि उससे ऊंची होगी तो उसका यज्ञ ऊंची भूमि से नीचा हो जाएगा। इसलिए उनकों ऐसा स्थान खोजना चाहिए जो सबसे ऊंचा हो। वह ऊंचा स्थान समतल होना चाहिए। समतल होने के साथ —साथ स्थिर और सुदृढ भी होना चाहिए । स्थिर होने के साथ ही पूर्व की ओर कुछ झुका भी होना चाहिए, क्योंकि पूर्व देवों की दिशा हैअथवा, उत्तर की ओर झुका हुआ भी हो सकता है क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। यह स्थान दक्षिण की ओर कुछ उठा होना चाहिए क्योंकि पितरों की दिशा है — यज्ञ का स्थान पूर्व की ओर अधिक चौड़ा न हो (ऐसा न होने से कुछ हानि न ही है)— इस लिए दक्षिण में इतना ही हो और उत्तर में भी इतना ही हो। यज्ञ का वह स्थान अच्छा होता है जो पश्चिम में अधिक चौड़ा होता है क्यों कि उसके लिए देवों की पूजा प्राप्त हो जाती है" (श.ब्रा. ३.१.१.१-३)। आज के विमान पत्तनों और अन्तरिक्ष यान तथा राकेट प्रक्षेपण स्थलों के सम्बन्ध में यथावत प्रासंगिक होने वाले यज्ञ स्थल के चुनाव सम्बन्धी ये निर्देश अपनी कथा आप ही कहते प्रतीत होतें है।

(२) यज्ञ स्थल की परिधि :

इस यज्ञ स्थल की सुरक्षा के लिए इसके चारों ओर घेरा बनाया जाता था। ऐसा इस लिए किया जाता था कि यजमान को छोड़ कर कर यज्ञ कहीं अन्यत्र न चला जाए— *त्वन्नेदपचेतयातै*। यह घेरा या परिधि बड़े —बड़े पत्थरों की—*बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधीयाः*— बनाई जाती थी और इसके पूर्ण हो जाने के बाद ही यज्ञ के

गोप्ता और रक्षक सुरक्षा की ओर निश्चिन्त होकर मोदमग्न हो सकते थे — *यज्ञ गोपा उत रक्षितारः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्* (क.क.सं.१.१२)। इस परिधि में प्रवेश और बहिर्गमन के लिए द्वार भी बनाए जाते रहे होंगे। इस परिधि की ओट में अलक्षित रूप से यज्ञ का निर्माण हो चुकने के बाद "यज्ञ पूरा करने के लिए (अर्थात् 'यज्ञ' का परीक्षण करने के लिए) आज निश्चय ही तेजस्वी (प्रकाश व्यवस्था से परिपूर्ण ?) और जनरहित द्वार खोले जाएं, ये बन्द न रहें" (१.१३.६) कहे जाने से द्वारों के साथ साथ परीक्षण को अलक्षित रख कर उसकी गोपनीयता बनाए रखने के लिए रात्रि काल का चयन किए जाने का भी संकेत मिलता है। और इसी से देवों के चले जाने के बाद मनुष्यों और ऋषियों के मन में देवों के यज्ञ को देखने और जानने की प्रबल उत्सुकता भी समझ में आने लगती है।

(३) संस्थित चितिः

यज्ञ के सम्बन्ध में बताते हुए कहा है कि देवों ने चौथे प्रयाज से यज्ञ को प्राप्त किया और पांचवें से उसकी स्थापना की थी — *पञ्चमेनसमस्थापयन्* और उसके बाद जो कुछ असंस्थित अर्थात् बिना स्थापित किया हुआ अर्थात् चल—बच रहा था, उसके द्वारा स्वर्ग लोक को प्राप्त किया था— *अथ यदत ऊर्ध्वमसंस्थितं यज्ञस्य स्वर्ग मेव तेन लोकं समाश्नुयत,* और वहां पहुंच कर भोग किया था (श.ब्रा. १.६.१.७)। अन्यत्र , इष्टिकाओं के साथ साथ 'पुरीष'—गारे— के प्रयोग के उल्लेख से भी प्रतीत होता है कि यज्ञ—कार्यशाला— का निर्माण संस्थित— स्थापत्य— कहा गया है। उसमें अलक्षित रूप से निर्मित होने वाले अनेक उपयोगी उपकरणों को जोड़—जोड़ कर बनाए जाने के कारण 'चिति' और उनके 'चल' होने के कारण 'असंस्थित' कहा गया है। इसी प्रकार 'चेतयध्वम्' से भी इस चिति शब्द का 'स्थापित किए जाने' से 'विचार पूर्वक संयोजित' किए जाने का भी संकेत प्राप्त होता है। अतः चिति—चयन शब्द का दोनों ही प्रकार के निर्माणों के लिए प्रयोग किए जाने से प्रत्येक स्थल पर प्रसंग का ध्यान रखना अत्यावश्यक हो जाता है। यथा जहां यजुर्वेद में एक से परार्ध ($१०^{१२}$) तक की संख्याके साथ साथ *'इमा में अग्न इष्टका धेनवः सन्तु'* कहे जाने से (यजु १७.२.क.क.सं.२६.६) संस्थित यज्ञ चितियों अर्थात स्थापत्य निर्माण की बात स्पष्ट होती है वहीं मात्र सहस्त्र से तीन सहस्त्र की सीमित संख्या वाली इष्टकाओं के रखे जाने के उल्लेख में असंस्थित चितियों —देवयानों— को चलाए जाने के लिए प्रयुक्त ऊर्जा के घटकों काअर्थ ग्रहण करना ही उचित प्रतीत होता है।

(४) असंस्थित चिति :

ये असंस्थित चितियां ही देवयान थे। साधारण रूप से देवायान का अर्थ होगा 'देवों का यान', रथ या वाहन। परन्तु देवयान को पितृयान का सद्भावी मान कर, दोनों ही शब्दों का अर्थ उत्तर कालीन परम्परा के अनुसार उत्तरायण और दक्षिणायन किया जाता है। कैलान्ड और कीथ जैसे पाश्चात्य अनुवादकों ने भी यही भूल की है। दोनों ने ही इस शब्द का अनुवाद 'leading to the gods' देवों तक ले जाने

वाला'ही किया है। हमें इस अर्थ को स्वीकार करने में कठिनाई हो रही है। *'देव रथ,* *'देवाश्वैः'* तथा *'विमान'* के साथ साथ अनेकत्र *'पथिभिः देवयानैः'* (१.१८३.६., तै सं १. ७.८.२.,३.१.४.१., ता ब्रा., १.४.१), *' देवयानानेव पथ आरोहन्ति'* (तै.ब्रा., १.३.४.३) *'देवयानः पन्थाः'* (तै. सं., ७.२.१.५), *' देवयानाः पन्थानः* (वही २.५.११.६) के अतिरिक्त' *आरोह पथो देवयानम्* (तै. ब्रा., ३.७.६.८) तथा *'आदेवानमपि पन्थामगन्म'* (तै. सं., १.१.१४.३) जैसे अनेक प्रयोगों से स्पष्ट हो जाता है कि यहां 'देवयान' शब्द का अर्थ देवों के यान' के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार करना अनुचिति ही नहीं, भाषा और उसके ब्याकरण के साथ अन्याय भी होगा और साथ ही हमारें संस्कृति तथा इतिहास बोध को कुंठित भी करेगा।

(५) यज्ञ वेदि :

यज्ञ में वेदि निर्माण एक अत्यन्त आवश्यक किन्तु साधारण और सामान्य प्रक्रिया है। शतपथ ब्राह्मण में इसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह हमें कुछ और भी सोचने का बाध्य करता है। कहा गया है कि " जब देवों ने इस पूरी वेदी का संस्कार– निर्माण कर लिया तो उन्होंने उसे इन कामनाओं से अभिसिंचित किया– वसोर्धारा से। इस प्रकार यह यजमान भी इस वेदी को पूरा बना कर इन वसोर्धारा रूप कामनाओं से अभिसिंचित करता है" (६.३.२.२)। उसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि " अब यह अग्निं या वेदि अपनी पूर्ण आयु –क्षमता– से कार्य करने के लिए सम्पन्न हो अर्थात् भर जाती है– *स एष सार्वायुषोऽग्निः*। अब रहा सिकुडना और फैलना । कुछ लोग ऐसा बनाते हैं (अर्थात् कुछ लोग अन्यथा भी बनाते रहे होंगे) कि सिकुड़े भी और फैले भी ।... कहते हैं कि जब पशु वीर्य सम्पन्न हो जाता है तो अंगों को सिकोड़ता और फैलाता है। अब कहता है, 'तू सुपर्ण जैसा ही है, आने और जाने के लिए सिकुड़ और फैल – *प्रेत्याऽएत्यै संचाञ्च प्र च सारय सुपर्ण चिदसि।* *शाट्यायनि* का कहना है कि इस मंत्र से युक्त करने पर अर्थात् सुपर्ण की उड़ान के प्रारम्भ में स्फोट का शब्द सुनाई दिया था(इसे शुभ लक्षण अर्थात् सुपर्णके संयत्र के सुचारु रूप से कार्य करने का उपलक्षण मान कर उसने कहा)।'इसी लिए इसे इस मंत्र से अवश्य संयुक्त करना चाहिए" (८.१४.६–६)। अगले कथन से और भी स्पष्ट हो जाता हे कि वसोर्धारा ही इस वेदी का प्राण था। कहा गया है कि' जब वेदि पूरी बन जाए तो बाहर से प्राण डालना चाहिए "– *संचितमे वैनं बहिष्टादभ्यन्यात्तदस्मिन्प्राणां दधाति* (८.१४.१०)। कपिष्ठल कठ संहिता के एक सन्दर्भ को इस के साथ पढ़ने पर चित्र और भी स्पष्ट होता प्रतीत होता है। वहां कहा गया है कि " रिसता हुआ यज्ञ अस्थाई और अविश्वसनीय हेता है। वह स्वयं रिसता हुआ यजमान की प्रजा– सन्तति और पशु – धन सम्पत्ति को भी बहा ले जाता है ऐसा यज्ञ अमेध्य– अपवित्र और असंग्रहणीय होता है ओर निश्चित ही स्वर्गलोक को नहीं ले जा सकता– *तं स्रवन्तं यजमानोऽनु परास्रवति प्रजया च पशुभिश्च– अमेध्या बा एषापूता नेश्वरा स्वर्ग लोकं गंन्तोः* " (क.क.सं. ३६.६)

यहां निश्चित ही यज्ञ– देवयान की समेटी लपेटी जा सकने योग्य

वेदी—टंकी —को वसोर्धारा— अश्मरस या शिलातैल (पेट्रोल) जैसे किसी ऊर्जा के तरल स्रोत रूपी प्राणों से सम्पन्न किए जाने की प्रक्रिया का वर्णन हुआ है । अन्तरिक्ष यानों, जिनमें स्थान का अत्यन्त अभाव होता है, की यात्राओं की अवधि में इन समेटी—लपेटी जा सकने वाली टंकियों की उपयोगिता एवं महत्व तो स्पष्ट ही है और वेदी या टंकी के रिसने पर उसका अमेध्य अर्थात् निरुपयोगी होकर त्याज्य कहा जाना उचित ही है । ऐसी वेदि या टंकी निश्चित ही गंतव्य—स्वर्ग— तक ले जाने में सर्वथा ही असमर्थ होगी ।

२. अग्नि- ऊर्जा के साधन :

(१) अग्नि—१ :

यज्ञ चाहे आज कल किया जाने वाला सामान्य सा अग्नि होत्र हो अथवा देवों और यजमानों को स्वर्ग ले जाने वाला, दोनों में ही अग्नि से प्राप्त होने वाले प्रकाश और ऊर्जा—शक्ति की आवश्यकता होती है । कहा गया है कि सृष्टि से पहले अव्यक्त अग्नि अब, सृष्टि के बाद, व्यक्त रूप में रहते हैं (१०.५.७) । इस अग्नि को तीन स्थानों में निवास करने वाला, तीन शरीरों वाला तथा तीन ही शक्तियों वाला कहा गया है (तै सं ३.२.११३) । इन तीन में दो को ' अपांनपात' अथवा' अपांगर्भ' और 'अग्नि वैश्वानर ' कहा गया है। 'अपांनपात' तो सम्भवतः जल विद्युत ही है। कहा गया है कि अग्नि जल में रह कर शक्ति प्रदान करता है — गर्भ में स्थित शिशु के समान जल में सिकुड़ कर बैठता है। (१.६५.५.२३.२०) ।, और भी, जल के भीतर बिना इन्धन के दीप्त होने वाले अपांनपात् अग्नि के उस मधु युक्त रस को पाने के लिए प्रार्थना की गई है जिसे प्राप्त कर के इन्द्र की वृद्धिहोती है और जिसकी सहायता से वे शक्ति के अनेक आश्चर्य जनक कार्य कर लेते है (१०.३०.४) ।

(२) अग्नि—२:

यास्क के अनुसार अग्नि वैश्वानर मध्यमस्थानी है। इसी अग्नि ने परमधाम आकाश में सूर्य से जन्म पाया है (१०.५.७) । इसे ही द्यावा, पृथिवी और अन्तरिक्ष ने जन्म दिया है। शोभन कर्म वाले प्रजापति ने इस अग्नि को उत्पन्न किया था (१०. २.७) । सूर्य से इसका सम्बन्ध बताते हुए आचार्य यास्क ने लिखा है — "अब आदित्य से (उत्पन्न होता है, इसका परीक्षण करते हैं) । आदित्य के उत्तरायण होने पर कांसे अथवाँ मणि को भली प्रकार घिस कर — 'परिमृज्य' — सूर्य की किरणों के सामने जहां सूखा गोबर है, वहां उसे थोड़ी दूर से 'धारणा करावें तो गोबर जल उठता है। वह सूर्य से आया पार्थिव अग्नि ही बन जाता है" (यास्क ७.२३) । यहां न केवल सौर ऊर्जा का वरन optical lense को सिद्ध करने का ही नहीं, वरन उनके उपयोग का भी वर्णन हुआ है।

(३) अग्नि—३क :

उपरोक्त वर्णन के ठीक पहले आचार्य ने और भी महत्वपूर्ण सूचना देते हुए

लिखा है कि "शाकपूणि का कहना है कि यह पृथिवी स्थानी अग्नि वैश्वानर ही है। यह पृथिवी स्थानी अग्नि वैश्वानर उन दोनों से ही उत्पन्न होता है। विद्युत जहां, जिस पर पड़ता है, जिसकी शरण में जाता है, उसको ताड़ित करता हुआ नष्ट कर देता है , जब तक पकड़ा न गया हो। तब तक वह मध्यम स्थानी विद्युत के गुण वाला ही रहता है — उदक में 'इन्धन' — जलने — वाला और शरीर में शमन होने वाला। पकड़ा हुआ अग्नि ही पृथिवी स्थानी बन जाता है फिर यह उदक में लीन होने वाला और शरीर में दीप्त होने वाला बन जाता है"(वही)। इस सारे उद्धरण में यास्क ने अपने से भी पूर्वकालिक किसी आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए एक बहुत गम्भीर बात बाताई है। मध्यमस्थानी विद्युत जलों—मेघों में ही दीप्त होती है और जहां भी गिरती है, शरण लेती है —उसे नष्ट करके ही शान्त होती है। यही मध्यम स्थानी आकाशीय विद्युत जब किन्हीं विशेष यंत्रों उपकरणों की सहायता से ग्रहण कर लिया जाता है तो जलों में न दीप्त होकर अर्थात् शान्त रह कर शरीरों में—तारों और लट्टुओं के माध्यम से—दीप्ति, ऊष्मा और ऊर्जा देना प्रारम्भ कर देता है। यद्यपि अभी इस मध्यम स्थानी विद्युत को ग्रहण करके उसका उपयोग करने की बात मात्र चिन्तक उपन्यासकार का कल्पना—विलास ही है (एन रांड, एटलस श्रग्ड), परन्तु प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल में देवों ने पृथिवी पर आकार यहां उसके ग्रहण करने और उपयोग में लाने की विधि विकसित कर ली थी। इसी मध्यम स्थानी विद्युत - static electricity- को ग्रहण करने वाले किसी विशेष उपकरण के अनुकरण पर ही प्राचीन काल से भवनों ओर देवालयों के ऊपर त्रिशूल आदि विद्युत चालक धातु के चिन्ह लगाने की प्रथा प्रारम्भ होकर आज तक चली आ रही है (भगवद्दत्त १९६४.४२४)।

अन्यत्र भी दो प्रकार की विद्युत का उल्लेख मिलता है— *द्वयं वा ऽ इदं न तृतीय मस्ति । आर्द्र चैव शुष्कं च* (श.ब्रा.१.६.३.२३)। बाल्मीक रामायण में ऋषि विश्वामित्र द्वारा श्री राम को दिब्यास्त्रों के दिए जाने के प्रसंग में भी शुष्क और आर्द्र—दो प्रकार की आशनि का उल्लेख (१.२७.६) होने से इस ज्ञान के ऐतिहासिक युग तक उपलब्ध रहे होने की सूचना मिलती है। इन दो प्रकार की विद्युतों में क्या 'अपांनपातं' और 'अग्नि वैश्वानर' का ही ग्रहण होता था अथवा आज कल की तरह ही शुष्क और आर्द्र बैटरियों जैसे कुछ उपकरण अभिप्रेत हैं कहना कठिन है। यह भी असम्भव नही है कि यहां अग्नि का नीचे बताए गए एक अन्य रूप का ही सन्दर्भ हो। ऋग्वेद में भी 'विद्युन्मद्भिः रथेभिः' (१.८८.१) का उल्लेख आया है।

(४)अग्नि—३ख :

कहा गया है कि देवों ने भागे हुए अग्नि के कर्मो की खोज की थी। यह खोज चारों दिशाओं में की गई थी। अग्नि को खोजने के लिए इन्द्र आदि देव पृथिवी पर आए थे। इसी से पृथिवी स्वर्ग तुल्य बन गई थी (१.६५.२)। मरुद्‌गणों ने इन्द्र के साथ रह कर जाना था कि अग्नि उत्तम स्थान में छिपे हुए हैं। इसके पश्चात् ही उन्हें प्राप्त किया गया था। (१.७२.४), इसी प्रकार यजमानों ने भी अग्नि के इक्कीस तत्वों को पहचाना था और अब इन्ही से अग्नि का पोषण करते है। प्रारम्भ में सभी

इक्कीस तत्त्व धरती के गर्भ से खनिजों के रूप में प्राप्त हुए थे। कहा गया है कि "बालू मिली हुई अग्नियां ओर खुदाई के काम आने वाले उपकरणों से मिल कर हम इस यज्ञ का सेवन करें तथा हमारे प्रति द्रोह रहित होकर ये सभी तत्त्व हमें रोग रहित अग्नि दें"(३.३२.४)। खोद कर निकाले जाने से खनिज कोयले का भी अनुमान किया जा सकता है किन्तु एक अन्य मंन्त्र में 'गर्भ में अनेक वर्षो तक बढ़ने वाले अग्नि को तीन वर्षो तक पूजा करके ही प्रकट कराए जाने अर्थात् उपयोगी बना कर 'यज्ञ में प्रयोग करने योग्य नाम एवं शरीर प्राप्त करने' का उल्लेख (५.२.२) किसी और ही दिशा में इंगित करता हुआ प्रतीत होता है। आज हम जानते है कि आणविक ऊर्जा को उत्पन्न करने के लिए प्रकृति में उपलब्ध ० श्रेणी के यूरेनियम को ६३ प्रतिशत शुद्ध करना पड़ता है। इसकी विद्युत चुम्बकीय परमाणु पृथक्करण की प्रारम्भिक विधि (अब तो वाष्पीकरण तथा अपकेन्द्रीकरण की शीघ्र फल प्रद विधियां भी विकसित हो चुकी है) के प्रयोग से ही ईराक के सद्दाम हुसेन ने तीन ही वर्षो में अस्त्र कोटि और मात्रा का यूरेनियम प्राप्त कर लिया था (फोसाईथ १९९४.४५५-४६१)। जो कुछ भी हो, यह अग्नि साधारण अग्नि से निश्चय ही भिन्न था। कहा गया है कि "शोभन जन्म वाले ऋत्विज जहां बैठते हैं वहां अग्नि लौकिक अग्नियों की अपेक्षा अधिक कल्याणकारी, सन्तान देने वाले एवं अधिक दीप्तिशाली होकर चमकते हैं" (७.१४)। इसी संबंध में अन्यत्र कहा गया है कि "जो धरती पर अग्नि का स्थान जानते हैं, जो देवों द्वारा अन्तरिक्ष से वायु की उत्पत्ति से परिचित हैं अथवा जो यह समझते है कि उस पर ही सूर्य का स्थान है वे ही मरण रहित पद पाते हैं" अर्थात् स्वर्ग लोक पहुंच सकते हैं (१.१६४.२३)।

इसी विशेष अग्नि के समबन्ध में कहा गया है कि"इसकी समृद्धि द्वारा ही इन्द्र आदि देव दर्शनीय बनते है" (५.३.४) क्योकि अग्नि तुरन्त उत्पन्न होते ही यज्ञ का निर्माण करने लगे थे और देवों के अग्रगामी दूत बने थे (१०.११०.११)। इस तेजस्वी, महान और शोभन दीप्ति वाले अग्नि की किरणें शब्द करती हुई जाती है.... बड़े तेज के साथ स्वर्ग को व्याप्त करती हैं (१०.३.५)। वे महान अग्नि स्वर्ग की सीढ़ियों को जानते है.... स्वर्ग की सीढ़ियों को जान कर धरती ओर आकाश के मध्य में चलते हैं (४.८.२) इसी लिए ऋत्विक लोग द्युलोक में जाने की इच्छा से होम सम्पादक अग्नि की राजा के समान पूजा--परिचर्या करते हैं" (१.१४१.६)। "हे होम निष्पादक और बलवान अग्नि, यज्ञ कर्ता को उत्तम लोक में ले जाओ" (३.२९.८; २.१.५.१६; २.२.१.१३)। देवों के प्रति जाने का मार्ग सरल बनाओ (१०.५१.५)। अग्नि हमारे देवागमन वाले यज्ञ कार्य को भली भांति पूर्ण करें (१०.५३.३)। कहा गया है कि " हमारे पितर अंगिराओं ने मंत्र—मनन—चिन्तन— के द्वारा अग्नि की स्तुति — परिचर्या — करके हमारे लिए महान द्युलोक का मार्ग प्रशस्त किया था" (१.७२.२)। इसीलिए अग्नि को '*महान्नभोवित्*(१०.४६.१) भी कहा गया है। आगे, "हमारा विनाश करने वाले बुढ़ापे को हमसे दूर रखने का प्रयत्न करने के लिए" (१.७२.१०) कहकर द्युलोक की यात्राओं से आयुष्य के दीर्घ होने के सत्य ज्ञान की ओर भी इंगित किया गया है। यह भी कहा गया है कि "यज्ञ करने वाले लोगों ने शक्तिवर्धक अग्नि को धारण किया था — संसार

में घूमने फिरने के लिए हमें उन्नत बनाओ" (१३६.२)। अन्यत्र, इस अग्नि को "सहस्रों रूपों वाले अश्व के समान वेगवान और हव्य सेवन करने वाला" (३.२२.१) कहा गया है। इन्द्र के लिए भी कहा गया है कि "तुम मरुत आदि अनुचरों सहित स्वर्ग में जाते हो। वहां तुम अशान्त एवं शीघ्रगन्ता अग्नि की इसलिए रक्षा करते हो कि वे यज्ञ गृह में अपना यज्ञ पूरा कर सकें" (१.१७४.३)।

अग्नि से प्रार्थना की गई है कि 'देवों को हमारे यज्ञ में लाओ। तुम देवों के मित्र हो' (३.४.१)। यह भी कहा गया है कि 'अग्नि मानवी प्रजाओं के मध्य देवों द्वारा स्थापित किए गए हैं' (३.५.२)। देवों ने स्वर्ग जाते समय अपने प्रिय अग्नि को मनुष्यों के बीच मित्र के रूप में स्थापित किया था। वही अग्नि हव्यदाता यजमान के घर में देवों द्वारा स्थापित होकर उसके कल्याण के लिए अपनी प्रिय रात्रियों में प्रकाश युक्त होते रहते हैं (२.४.३)। मगर यह प्रकाश तो उनका एक ही रूप था। कहा गया है कि अग्नि अनेक प्रकार से पृथिवी पर स्थित हैं (२.४.७)। और भी, कहा गया है कि 'हे अग्नि, एसी कृपा करो कि तुम्हारा महत्व जानने वाला यजमान सभी देवों को प्रसन्न कर सके' (२.५.८)। इस अग्नि की तब तक सेवा की जाती है तब तक वे संतुष्ट न हो जाएं। वे अन्न युक्त, कामवर्षी, सामर्थ्यशाली और शब्द करने वाले हैं (१.१२८.२)। उत्तम बुद्धि वाले , निवास देने वाले एवं असंख्य पशुओं का भरण पोषण करने वाले हैं (२.६.१)। अग्नि से हमारे सामने अनुकूल एवं कर्मसाधक बनने के लिए प्रार्थना की गई है (३.१८.१)। इस "असंख्य पुरुषों के भरण पोषण करने वाले और कामवर्षी अग्नि" से ससून और डाले के 'माना' यंत्र का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। उन्होंने बाइबिल में वर्णित 'आर्क आव द कवेनान्ट' को ओस और हरित शैवाल की एक प्रजाति के सम्मिश्रण को पोषक खाद्यान्न में परिवर्तित करने वाला आणविक यंत्र बताकर, उसका प्रारूप भी बना डाला है (डानिकेन १९८१: १८–२३)। इसी की सहायता से मूसा ने निर्जन स्थानों में भटकते–छिपते अपने अनुयायियों का भरण पोषण करते हुए चालीस वर्ष व्यतीत किए थे।

३. ऊर्जा के साधनों का उपयोग :

(१) अग्नि से डरना :

वेद में बीज रूप में वर्णित अग्नि के इन सामान्य लक्षणों को प्रस्तुत करने के बाद अब हम ब्राह्मणों में दिए गए कुछ विवरणों को उपस्थित करेंगे। कहा गया है कि प्रजापति ने अग्नि उत्पन्न की। उसके उत्पन्न होने पर वह डरा कि कहीं यह उसे ही न जला डाले। उसने उसे 'शम्या' से शान्त किया — *प्रजापति रग्निमसृजत। सो ऽ विभेत्प्र मा धक्ष्यतीति। तं शम्या ऽ शमयत्* (तै. ब्रा., १.१.३.११; १.१.५.७; ता. ब्रा., ५.३.६)। यह अग्नि निश्चय ही अरणि मन्थन से उत्पन्न होने वाली दैनिक उपयोग की साधारण अग्नि नहीं रही होगी। कहा गया है कि जिस अग्नि का चयन प्रजापति ने किया था वह 'क्षुरपवि' होकर स्थित रहा था। पहले तो डर कर देव उसके पास नहींजा रहे थे परन्तु बाद में वे अपने को छन्दों से आच्छादित करके ही उसके पास

पहुंच सके थे (तै. सं. ५.६.६.१)। कहा भी गया है कि छन्द ही अग्नि की प्रिय तनू हैं — *छन्दांसि खलु वा अग्नेः प्रिया तनूः* (वही ५.२.१.२)। इसीलिए कहा गया है कि पुरोहित से पूजी जाकर और यजमान से प्रसन्न होकर अग्नि शान्त तनु हो जाता है और तभी यजमान की सभी इच्छाएं पूरी करता हुआ उसे स्वर्ग लोक ले जाता है (ऐ. ब्रा. ८.४.१)। यही अग्नि देवरथ भी है। जब यही ठीक से प्रयुक्त होता है तो प्रयोक्ता को स्वर्ग लोक ले जाता है — *एष खलु वै देवरथो यदग्निः ——— स एनं युक्तः सुवर्गं लोकमभिवहति* (तै. सं. ५.४.१०.१)। इसीलिए अग्नि से प्रार्थना की गई है कि "अपनी पीठ पर चढ़ाकर हमें देवों के स्थान में आनन्द भोग के लिए ले चलो" — *त्वया ऽ ग्ने पृष्ठं वयमारुहेम। अथा देवैः सधमादं मदेम* (तै. ब्रा. २.४.२.६)। यही अग्नि गरजते हुए द्यौ के समान गरजा और पृथिवी को चाटते हुए और वृक्षों को झकझोरते हुए, उत्पन्न होते ही भानु जैसी दीप्ति करता हुआ रोदसी में विलीन हो गया था (यजु १२.६, ६७.३.२, तै. सं. ४.२.१२-२२)। उसी गरजते हुए अग्नि द्वारा ही देवों ने स्वर्ग लोक और उससे भी ऊपर आरोहण किया था — *रौरवेण वै देवा ऊर्ध्वास स्वर्ग लोकम् आरोहनं* (जै. ब्रा. १.१२२)। इसी रोर करते हुए ही स्वर्ग जाने के भाव को अन्यत्र *"शंसन्तो"* (ए. ब्रा. ६.३०.६) ' *संक्रोशमानाः,* (तै. सं., ७.२.१४, ता. ब्रा., १२.१३.२३) तथा 'प्रवता वै देवा' ('प्रवता प्रशव्दवता' —सायण) (ता. ब्रा., १४.५.२४) आदि शब्दो से भी व्यक्त किया गया है।

अन्यत्र कहा गया है कि जब वे स्वर्ग लोक को जा रहे थे तो असुरों और राक्षसों से डरे थे। अतः उन्होंने अग्नि को अग्रणी बनाया था। आगे, मध्य और पश्च भी अग्नि को रख कर, सब ओर से रक्षित होते हुए ही देव स्वर्ग लोक को चले गए थे (श. ब्रा., १.६.१.११-१२; क.क.सं., २५.१; तै.ब्रा., ३.३.७.१)।

(२) इष्टकाएं :

ऊपर यज्ञ स्थल तथा संस्थित और असंस्थित यज्ञ चितियों का उल्लेख किया जा चुका है। असंस्थित चल—चितियों के विभिन्न रूपों का विवरण प्रस्तुत करने के पूर्व उनमें प्रयुक्त होने वाली इष्टकाओं के सम्बन्ध में जान लेना आवश्यक है। तीनों लोकों — पृथिवी, अंतरिक्ष और द्युलोक, की प्रजापति विश्वकर्मा द्वारा देखी — सोची समझी — गई और 'उपाधत्त' प्रथम तीन चितियों से तुलना करते हुए कहा गया है कि पांचवी असंस्थित चिति — यज्ञ— से *'देवतानां सायुज्यं'* अर्थात् स्वर्ग लोक प्राप्त होता है (तै. सं. ५.७.५.२-७)। इन तीन प्रथम 'उपाधत्त'चितियों के 'पुरीष' — गारे — के रूप में क्रमशः ओषधि — वनस्पति, पक्षियों और नक्षत्रों की गणना करते हुए छः पुरीषों की चर्चा की गई है (वही ५.६.१०.२-३)। इन चितियों में प्रयुक्त इष्टकाओं को रखने से एक एक करके अंततः द्युलोकस्थ स्वर्ग लोक पहुंचने की बात भी कही गई है (तै. ब्रा. ३.११.१०.१)। कहा गया है कि यह अग्नि चयन स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिए — स्वर्ग पहुंचने के लिए — ही किया जाता है। अतः जो कुछ भी अयथापूर्व— क्रम से हटकर — किया जाता है, वह स्वर्ग प्राप्ति में साधक नहीं होता है — *'असुवर्ग्यम्'* होता है (तै. सं. ५.५.४.३)। यजुर्वेद में *'अव्यथमान'* इष्टकाओं को स्थिर रखने से अंतरिक्ष

को पार करते हुए द्युलोक पहुंचने का भी उल्लेख हुआ है (यजु. १४.११)। यह भी कहा गया है कि क्रम से सहस्त्र, दो सहस्त्र तथा तीन सहस्त्र इष्टकाओं का प्रयोग अग्नि चयन के लिए होना चाहिए। इन्हीं से स्वर्ग लोक की बराबरी और प्राप्ति भी होती है (क. क. सं. ३५.१. तै. सं. ५.६.८.१)। निश्चित ही इतनी कम संख्या की ईटों से स्वर्ग लोक की प्राप्ति तो दूर, कोई छोटा सा संस्थित निर्माण भी नही हो सकता है। इस चिति को सुवर्ग लोक तक पहुंचने के लिए ही रच रच कर बनाया जाता था ताकि स्वर्ग लोक जाते हुए गिरे नहीं। इसे पहले बार जंघा की ऊंचाई तक, दूसरी बार नाभि की ऊंचाई तथा तीसरी और अंतिम बार ग्रीवा की ऊंचाई तक चुना जाता था। इसी से 'उस लोक' तक चढ़ा जाता था — *अमुं लोकमभ्यारोहति* (तै.सं.५.६.८.२-३)।

इन इष्टकाओं के विभिन्न नामों का भी उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि '*ऋतव्या*' और '*विश्वज्योति*' आदि नामों वाली ईटें "सीढियां है क्योंकि इन्हीं के द्वारा देव ऊपर के लोकों को चढ़े थे। यहां से ऊपर की ओर और वहां से नीचे की ओर। इन्हीं के द्वारा यजमान भी इन लोकों को चढ़ता है, यहां से ऊपर की ओर और वहां से नीचे की ओर" (श. ब्रा., ८.७.१.१-२३)।

द्युलोकस्थ स्वर्ग लोक तक ले जाने में सहायक इन एक सहस्त्र, दो सहस्त्र तथा तीन सहस्त्र इष्टकाओं के रखने —'*इष्टकोपधानम्*' — के सम्बन्ध में कहा गया है कि "इस ईट में अग्नि रखी हुई है — *अग्निर्वियतोऽस्यां*, मैं इसकी सहायता लेता हूँ,यह कवच होकर मेरी रक्षा करे।" इसी में वायु और सूर्य की भी शक्ति निहित होने की भी बात कही गई है (तै. सं. ४४.५.२)। आगे कहा गया है कि इन ईटों को बृहस्पति, विश्वकर्मा और प्रजापति ने बना कर रखा है — 'सादयतु', और ये हमें समस्त प्राण और अपान के साथ अर्थात् जीवित ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के ऊपर ले चलें और इन वायु और अग्नि की शक्ति से समन्वित ईटों को '*देवानामन्तरिक्षयान्यसि*' कह कर सम्बोधित किया गया है (वही ४.४.६.२)। ये सभी उल्लेख हमें यह सोचने के लिए बाध्य करते हैं कि यहां मिट्टी की पकाई हुई घरेलू उपयोग की साधारण ईटों की चर्चा नहीं हो रही है। इनमें अग्नि का रखा होना कहे जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये ऊर्जा उत्पन्न करने वाले किसी आग्नेय पदार्थ की ठोस वर्गाकार ईटें थीं और देवयान में भण्डारण की सुविधा की दृष्टि से ही इन्हें आयताकार बनाया जाता रहा होगा — अन्य किसी भी ज्यामितीय आकार की अपेक्षा इसी आकार से स्थान का भरपूर सदुपयोग हो सकता है — और अपने इसी आकृति — साम्य के कारण ही इन्हें इष्टकाः भी कहा जाता था। आज भी हम 'आइसक्रीम' की ईटों की बात करते हैं।

(३) चमस :

शक्ति के सम्भावित स्रोतों का उललेख करते हुए यज्ञ की एक अन्य महत्वपूर्ण विधि भी स्मरण हो जाती है। अथर्ववेद के एक मंत्र में 'चमस' का उल्लेख हुआ है। वहां इस चमस को औंधा रखा हुआ — *चमस ऊर्ध्वबुध्नः* — कहा गया है। इसके तिरछे छेद — *तिर्यग्बिलः* — का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इसमें सभी प्रकार के

यश रखे हुए हैं — *यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्* — और इसमें सात ऋषि स्थित है, जो इसके महान रक्षक है — *तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभुवः* (१०.८.६)। शतपथ ब्राह्मण में 'तिर्यग्बिल' के स्थान में *'अर्वाग्बिल'* — नीचे की ओर छेद वाला — कहते हुए, औंधे चमस को शिर और उसमें स्थित सात ऋषियों को सप्त प्राण कहा गया है और आज यही व्याख्या सर्वमान्य है (१४.५.२.४)। परन्तु क्या इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता है? इसी वेद के एक अन्य मंत्र में पांच छिद्रों वाली ऊखा में चरु पकाए जाने — *चरुं पंचबिलमुखं घर्मोऽभीन्धे* —का भी उल्लेख मिलता है। वहां ऊपर पेंदी वाले तथा तिरछे छिद्र वाले (पात्र) को बनाने का कथन हुआ है — *उच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मबारम्*, जिससे निकलने वाले द्रव्य की पीने लिए गिरने वाले जल — *क्षरन्नापो न पायनाय* (स्वामी दयानन्द ने 'न' का अर्थ 'इव' किया है) से की गई है (१.११६.६)। उपमा निश्चय ही उपमेय से भिन्न होती है अतः यहां मेघ से गिरते हुए वर्षा के जल का ग्रहण किया जाना उचित नहीं प्रतीत होता है।

प्रतीत होता है कि यह प्रवर्ग्य विधि में प्रयुक्त हाने वाले उखा अपर नाम महावीर पात्र का ही बीज रूप मेंअलंकारिक वर्णन है। इसकी निर्माण विधि का विस्तृत वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। इस उखा को यज्ञमख का शिर कहा गया है — *मखस्यशिरो ऽ सि —— यदुखा* (मै. सं., ३.१.७; का. सं., १६.६; तै. सं., ५.१.६.२; श. ब्रा., ६.५.२२)। इसे बनाने के लिए विविध तत्वों के मिश्रण से समृद्ध की गई मिट्टी का प्रयोग किया जाता था (तै. सं., ५.१.६.३, श. ब्रा., ६.५.१.१-६)। इसमें बनाई गई तीन पट्टियां—*त्र्युद्धि कार्या त्रयो वा इमे लोका* — तीन लोकों का प्रतिनिधित्व करती थीं। इनमें चार अथवा आठ स्तन भी बनाए जाते थे, जिनमें से चार आदित्य के, दो अन्तरिक्ष के तथा शेष दो द्युलोक के दोहन के लिए होते थे — *अष्ट स्तनकार्या चतुरस्तना कार्यादित्याय दोहाय, द्विस्तन कार्यान्तरिक्षे वा उखेमे लोकौ स्तनौ प्रतौ हवा इमौ लोकौ दुहे* (मै. सं., ३.१.७; तै. सं., ५.१.६.४ ; का. सं. १६.६, श ब्रा., ६.५.२.१५-१६)। इसे धूप में सुखाया जाता था और कहा गया है कि अपनी सुरक्षा के लिए सूखते समय इसके और सूर्य के बीच में नहीं आना चाहिए। जो कोई भी एसा करेगा, वह दुश्चर्मा हो जाएगा — *न प्रवर्ग्य चादित्यं चान्तरेयात्। यदन्तरेयात् दुश्चर्मास्यात्। तस्मान्नान्तरायम्। आत्मनो गोपीथाय* (तै. आ., ५.३.१-२)। तदन्तर, इसे धूपित करके, अंगिरा द्वारा विकसित विधि के अनुसार ही,इसको, अपनी सुरक्षा का ध्यान रखते हुए, गढ़े में रख कर पकाया जाता था — *पृथिव्याः सधस्थे अंगिरस्वद्दधतूखा ——अहिंसायै न हि स्वः स्वं हिनस्ति* —— (मै सं. ३.१.८)। फिर, "सवितृ देव तुम्हें अपने विशेष हाथों और अंगुलियोंसे उठावें" कहते हुए उठाता है अपनी रक्षा के लिए। कहा जाता है — "उठो, बढ़ो और पृथिवी को व्यथित न करते हुए समस्त आशाओं और दिशाओं को परिपूर्ण कर दो।" तब इससे अग्नि निकलती है और सभी दिशाएं उद्भासित हो जाती हैं — *तस्मादग्निः सर्वा दिशा आभाति* (वही)।

इसे उठाने के लिए पास जाते समय किसी विशेष प्रकार के चक्षु—त्राण के प्रयोग की सावधानी वर्तने के लिए भी कहा गया है। कहा गया है कि अपनी आंखों की रक्षा के लिए इसे 'सूर्य चक्षु' से ही देखें अन्यथा इसे देखने वाला निश्चय ही अन्धा

हो जाएगा — *ईश्वरो वा एषोऽन्धो भवितो। य प्रवर्ग्यमन्वीक्षते। सूर्यस्य त्वा चक्षुषान्वीक्ष इत्याह। चक्षुषो गोपीथाय* (तै. आ. ५.३.७)। इतना ही नहीं, अन्यत्र तो यहां तक कहा गया है कि 'तुम्हें सूर्य चक्षु से देखता हूं प्रतीक वाला मंत्र पढ़ता हुआ ही इसे देखे। यदि इसे मानुषी चक्षुओं से देखेगा तो उसके ही नेत्र नहीं जल जाएंगे, वरन उसकी संतान भी अन्धी ही उत्पन्न होगी — *यद्वा इदम् मनुष्याणां चक्षुषा प्रेक्षेत्प्रदहेच्चक्षुरन्धाः प्रजा जायेरन्*। आगे कहा गया है कि इससे वह उन लोकों को चढ़ जाता है — *इमानेव लोकान्प्रत्यवरोहति* (का. ब्रा., ६३.१३–६६.१३)।

इतना ही नहीं, इसे उठाकर पुनः स्थापित करने में भी अत्यन्त सावधानी रखनी पड़ती थी। कहा गया है कि "आप जीवन देने वाले हैं, शक्ति और ज्ञान देते हैं। आपकी हेतियां, हमसे अन्य, दूसरों को सताएं और हमारे लिए पवित्र और कल्याणकारी हों — यह कहता हुआ रखता है। —— इसे द्वीप में रखना चाहिए। —— यदि इसको पृथिवी पर रखेगा तो इसकी पीड़ा पृथिवी में घुस जाएगी। यदि जलों पर रखेगा तो इसकी पीड़ा जलों में प्रवृष्टि हो जाएगी। यदि द्वीप में रखेगा तो न जलों की हानि होगी और न पृथिवी की। जल को न छुएगा, इसलिए जल के हानि नहीं पहुंचेगी और चारों ओर शान्त करने वाले जलों से घिरा होने के कारण पृथिवी को भी हानि नहीं पहुंच सकेगी। इसी लिए इसे द्वीप में ही रखना चाहिए" (श. ब्रा. ६. २.१.१६)।

इन सब प्रकीर्ण सन्दर्भोसे स्पष्ट हो जाता है कि यहां किसी साधारण मृत्पात्र के निर्माण की प्रक्रिया नहीं बताई जा रही है। इस चमस के वर्णन की यदि आज उपलब्ध उपकरणों से तुलना ही जाए तो अवशीतक (रेफ्रीजरेटर) के सम्पीड़क (कम्प्रेसर) अथवा आणविक ऊर्जा के प्रतिष्ठानों में प्रयुक्त और आकृति साम्य के आधार पर 'कपाल भट्ठी' (स्कल फर्नेस) के नाम से प्रसिद्ध अत्युच्च तापभट्ठियों का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। कहा गया है कि एक भाग मे बनाए जाने वाले इस चमस संज्ञक उपकरण को चार भागों में बनाने के ऋभुओं के सुझाव को उनके गुरु त्वष्टा ने प्रशंसा पूर्वक स्वीकृति दे दी थी (४.३५.४, ४.३६.४)। उनके द्वारा सुझाए गए परिष्कार के अनुसार ही निर्मित होने पर अग्नि ने विशेष कृपा की थी और उन्हें स्वर्ग के मार्ग से जाने का आशीर्वाद भी दिया था (४.३५.३)। अपनी इसी कार्मिक कुशलता और कर्म करने की इच्छा (४.३५.२) के फलस्वरूप ही मरण धर्मा होने पर भी ऋभु गण अमर बन गए हैं और अपने सत्कर्मो के कारण ही देवों के मध्य बैठ कर यज्ञ का भाग प्राप्त करते हैं(१.२०.८)। अतः असकी उपयोगिता और महत्व असंदिग्ध है।

(४) जनित्र—शिवलिंग :

ऊर्जा और शक्ति का एक स्रोत और भी रहा होगा — जनित्र—शिवलिंग। अग्नि के आठ रूपों का परिगणन करते हुए वेद में शिव के कुमार, भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, अशनि और ईशान आदि नाम कहे गए हैं (श. ब्रा., ६.१.३.६–१६; मै. सं. .२.६.१)। यही शिव का पुराणोक्त वह अष्टविधतनु है जिसका महाकवि कालिदास ने *'तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टभिरीशः'* कह कर अभिज्ञान शाकुन्तलम् के नान्दी श्लोक में

उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रुद्र–शिव की पूजा का उत्स वैदिक अग्नि चयन ही है (लक्ष्मण शास्त्री जोशी १९५७: १४८–५०)। शिव के विविध रूपों को घोर या रौद्र और शिव या शान्त – इन दो वर्गों में रखा गया है। घोर होते हुए भी यदि अग्नि को सुपूजित करके शान्त कर लिया जाता है तो वह शिव–कल्याणकारी–बन जाता है और हिंसा नहीं करता – हैष (अग्निः) *ऽइमांल्लोकाञ्छान्तो न हिनस्ति* (श. ब्रा. ६.७.३.१५)। यही शिव–शान्त रूप अग्नि यदि रौद्र रूप धारण कर लेता है, यदि उसका तीसरा नेत्र खुल जाता है अर्थात् यदि कहीं से रिसाव प्रारम्भ हो जाता है तो घोर विनाश का दृश्य उपस्थित हो जाता है। भूतपूर्व रूसी गणतंत्र के उक्रेन प्रदेश में चेर्नोबिल स्थान में हुई दुर्घटना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण और ज्वलंत उदाहरण है। फान डानिकेन ने शिवका 'लेज़र तोप' से समीकरण स्थापित करने का सुझाव दिया है (१६८१: १४८–१५१)। परन्तु यदि उस तोप के उपयोग पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाए तो इस सुझाव की निस्सारता स्पष्ट हो जाएगी। लेज़र तोप का प्रयोग तो केवल बड़े उद्योगों अथवा विध्वंसक कार्यों के लिए ही हो सकता है। इसके विपरीत, हम जानते हैं कि लिंग स्वरूप शिव के विशाल और लघु –दोनों ही रूप देवालयों और राजभवनों के साथ साथ सामान्य जन के व्यक्तिगत पूजा–लाभ के लिए गृहस्थों के छोटे छोटे घरों में भी स्थापित किए जाते थे। अब गृहस्थों के छोटे घरों में तो लेज़र तोप स्थापित किए जाने की कल्पना ही असंगत प्रतीत होती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, देवों द्वारा स्थापित होकर अग्नि यजमान के घरों में अपनी प्रिय रात्रियों में प्रकाशयुक्त होते रहते थे (२.४.३, ३.५.३)। अतः अधिक सम्भव यही है कि विभिन्न आकार के ये शिवलिंग विभिन्न क्षमताओं वाले आणविक ऊर्जा के स्रोत ही थे जिनका, आज कल के जनित्रों (जेनेरेटरों) की तरह ही, उपयोग छोटे–बड़े, सभी प्रकार के भवनों की आवश्यकतानुसार लोगों के कल्याणार्थ किया जाता था। उनकी पूजा–रख रखाव– में अत्यधिक सावधानी अपेक्षित थी। इसमें हुई थोड़ी सी भी भूल–चूक शिव का कोप आमंत्रित कर सकती थी और उनका तीसरा नेत्र खुल जाने की सम्भावना प्रबल हो जाती थी। इसीलिए तो आशुतोष शिव को सुलभ कोपी भी कहा जाता है। आणविक ऊर्जा प्रतिष्ठानों में प्रयुक्त होने वाले 'गुरु जल' की ही तरह, शिवलिंग पर भी सतत टपकते रहने वाले जल बिन्दुओं की व्यवस्था से भी इसी सम्भावना की पुष्टि होती है। शिवलिंग का आकार भी, ऊपर स्तूपाकार होता है। अब तो छोटे छोटे और लगभग विकिरण रहित आणविक जनित्रों का निर्माण भी प्रारम्भ हो चुका है। अतः कुछ असम्भव नहीं कि देवों ने भीअपने समुन्नत विज्ञान की सहायता से इन छोटे– बड़े आणविक जनित्रों को मनुष्यों के बीच उनके कल्याणार्थ स्थापित किया हो और बाद में, उनके चले जाने के पश्चात्, उचित रख रखाव के अभाव में उनकी रचना प्रक्रिया से अनभिज्ञ मनुष्यों ने उनकी और उनके आकार की पूजा करनी प्रारम्भ कर दी हो।

४. देवयान-चिति :

(१) चिति :

जैसा कि कहा जा चुका है, विचार पूर्वक चयन—चिनाई—की जाने वाली चिति होती है। इस प्रकार वास्तु भी विचार पूर्वक चिना जाता है और घटक—घटक को संयोजित करते हुए बनने वाली किसी भी वस्तु या उपकरण को चिति कहा जा सकता है। परार्ध (१०ँ) तक की संख्या वाली ईंटों को पुरीष से जोड़ते हुए वास्तु का निर्माण होता है और घटक घटक को सुचिन्तित प्रारूप के अनुसार संयोजित करके यान्त्रिक उपकरण बनाया जाता है। प्रजापति ने पृथिवी का निर्माण भी विचार पूर्वक ही किया था (श. ब्रा. ६.२.३.१)। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन चितियों की हम आगे चर्चा करने जा रहे हैं, वे वास्तव में घटक घटक जोड़कर बनाए गए असंस्थित—चल—यान्त्रिक उपकरण ही थे और इनकी निर्माण प्रक्रिया को यज्ञ कहा गया है।

कहा गया है कि "जब देव दूसरी चिति को चिन कर चढ़े तब उसको सम्पन्न करके वे केवल उसी स्थान तक जा पाए थे जो पृथिवी के ऊपर और अन्तरिक्ष के नीचे है। उन्होंने कहा —*'चेतयध्वम्'* अर्थात चिति की कामना करते हुए विचार करो। —— विचार करके ही उन्होंने तीसरी चिति को देखा — समझा —— इस तीसरी चिति से देव अन्तरिक्ष तक ही जा सके थे। जब उन्होंने पुनः विचार किया और तब इस चौथी चिति से अन्तरिक्ष से ऊपर और द्युलोक से नीचे के स्थान तक पहुंच पाए थे। —— और अधिक विचार करने पर उन्होंने पांचवीं चिति को देखा—समझा और तब उसको संयोजित करके द्युलोक तक पहुंचने में सफलता पाई थी" (श. ब्रा. ८.३.१.१–८.५.१.२)। इस प्रकार इन क्रमशः विकसित होती चितियों के माध्यम से स्वर्ग लोक पहुंचने का इतना स्पष्ट उल्लेख होने के कारण इन्हें सामान्य वास्तु चिति स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है।

(२) श्येन चिति :

इस प्रकार की असंस्थित — चल चितियों के सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता से अत्यधिक महत्वपूर्ण सूचना मिलती है। वहां कहा गया है कि पशुओं की कामना करने वाले व्यक्ति को *'छन्दचिति'* का संयोजन करना चाहिए। आज भी भाषा में पशुओं को बांधने के लिए 'छांदना' शब्द का प्रयोग होता आ रहा है। अतः पशुकाम व्यक्ति को रज्जु और पाश के संयोजन की सम्मति उचित ही दी गई है। आगे कहा गया है कि जिसे सुवर्ग पहुंचने की इच्छा हो उसे श्येन के आकार की चिति का चयन -- संयोजन करना चाहिए। पक्षियों में श्येन ही श्रेष्ठ माना जाता है और यजमान भी *'श्येन एव भूत्वा सुवर्गं लोकं पतति'* अर्थात श्येन ही होकर सुवर्ग लोक की ओर उड़ जाता है। जो इस लोक के शीर्ष स्थान पर पहुंचना चाहता हो, उसे कंक पक्षी के आकार की चिति बनाने के लिए कहा गया है — *कंक चितिं चिन्वीत यः कामयेत शीर्षण्वानमुष्मिंल्लोके स्याम्।* उड़ता हुआ कंक पक्षी अपने दोनों पखों को शरीर से सटाकर आकाश में बेलनाकार दिखता हुआ तीर की तरह उड़ता है। अतः इस चिति

का आकार बेलनाकार ही होना चाहिए। क्या यह आज कल के राकेटों जैसा कोई प्रक्षेपण यान था? प्रतिष्ठा चाहने वाले व्यक्ति को 'अजल' के आकार की चौकोर (वास्तु) चिति बनाने का सुझाव दिया गया है। इससे वह चारों दिशाओं में प्रतिष्ठित हो जाता है। आज भी परदेश से कमाकर लौटे हुए लोग ग्राम में पक्का घर बनवाकर प्रतिष्ठा अर्जित करने की इच्छा करते हैं।आगे कहा गया है कि जो शत्रुओं को पराभूत करना चाहता है, उसे त्रिकोण के आकार की चिति बनानी चाहिए। जो वर्तमान ही नहीं, अपितु भावी शत्रुओं का भी पराभव चाहता हो अर्थात जो चाहता हो कि भविष्य में भी कोई शत्रुता करने का साहस न करे, उसे दुहरे त्रिकोण के आकार की चिति बनानी चाहिए। यह त्रिकोण बरबस ही आजकल के युद्धक विमानों का स्मरण करा देता है। इसी प्रकार अन्न संग्रह के इच्छुक व्यक्ति को रथचक्र अथवा थाल की तरह परिमण्डलाकार अथवा द्रोण के आकार की कोठार–चिति बनाने के कहा गया है (तै. सं. ५.४.११.१–२)। शतपथ ब्राह्मण (६.७.२६–८) में भी इन्हीं चितियों का नामोल्लेख हुआ है, परन्तु वहां, अन्य आकारों की अपेक्षा, केवल सुपर्ण–श्येन आकार की चिति की ही अनुशंसा की गई है।

यहां ध्यान देने की महत्वपूर्ण बात यह है कि जहां पशुओं को बांधने–छांदने वाली रज्जु–पाश को ही नहीं, वरन अन्न संग्रह करने के लिए बनाए जाने वाले कोठार और महालयों जैसे वास्तु को भी, पक्षी के आकार के यानों के साथ, ही चिति कह कर प्रसिद्ध किया गया है।

अन्यत्र भी अनेक पक्षियों का स्वरूप धारण करके ही ऊपर स्वर्ग लोक आरोहण करने की बात कही गई है। बताया गया है कि "प्रजापति ने इन लोकों को प्राप्त करना चाहा था। उसने इस पक्षी के आकार के शरीर को देखा–विचारा। उसने उसको धारण कर लिया। इससे उसने इस लोक को प्राप्त कर लिया। उसने दूसरे पक्षी के आकार के शरीर को देखा विचारा और धारण कर लिया और फिर उसने अन्तरिक्ष को प्राप्त कर लिया। उसने तीसरे पक्षी के आकार की कल्पना की और फिर उसे धारण करके द्युलोक को प्राप्त कर लिया" (श. ब्रा. १०.१.२.१)। यहां भी विभिन्न कार्यों के लिए क्रमशः विकसित किए जाते, विभिन्न क्षमताओं वाले पक्षिओं के आकार के शरीरों का उल्लेख हुआ है। इन्हे 'धारण किया जाता था अर्थात् जिनमें प्रविष्ट होकर कहीं जाया जा सकता था।

अन्यत्र, अग्नि के कभी क्षीण और जीर्ण न होने वाले पक्षियों की तरह के पंखों द्वारा उन लोकों को उड़ जाने का भी कथन हुआ है, जहां सर्वप्रथम उत्पन्न हुए पुराने ऋषि पहुंच चुके है — *इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः* (यजु १८.५२:श. ब्रा.९.४.४.४)। और भी, चमकीले पक्षों से युक्त लोगों के पवित्र लोक में पहुंचने की बात भी कही गई हैं (ता. ब्रा., १६.१०.४)। यह भी कहा गया हैं की पक्षों वाले ही उड़ सकते है, बिना पक्षों वाले गिर जाते है (वही १४. १. १२.–१३)। बताया गया है कि सुपर्ण होकर ही व्यक्ति सुरक्षित रूप से और, निश्चय ही स्वर्ग लोक पहुँच जाता है (कौ. ब्रा.१८.६)। ऋग्वेद में भी पक्षियों की तरह उड़ते हुए परे चले जाने की इच्छा व्यक्त की गई है— *परः शकुना*

इव पप्तिम (६.१०७.२०,ता.ब्रा. १२.६.३-४) | अन्यत्र भी, पवमान पर आरूढ़ होकर, उससे कहते हुए कि "तुम श्येन, सुपर्ण और सघा (गृद्ध) हो, मैं तुम्हारा अवलम्ब ग्रहण करता हूं प्रार्थना की गई है कि "मुझे स्वस्ति पूर्वक पार पहुंचा दो"— *त्वाऽऽग्ने स्वस्ति मा सं पारय* (तै. सं. ३.२.१.१) | देवों से भी श्येन होकर यजमान के घर में उड़ कर आने की प्रार्थना की गई है— *श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य नो गृहे संस्कृतम्* (क. क. सं. २.१) | सम्भवतः इसीलिए ही शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के मंत्रांश *'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत्'* (१२.४) अर्थात् 'तुम गरुत्मान सुपर्ण हो, द्युलोक को जाओ, स्वर्ग की ओर उड़ जाओ' का सन्दर्भ लेते हुए ही तैत्तिरीय संहिता में कही गई विभिन्न आकार की चितियों में से केवल सुपर्ण—श्येन चिति की ही अनुशंसा की गई है (श.ब्रा.६.७.२.६-८) |

(३) यूप— वज्र :

तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित कंकचिति का आकार बेलनाकार रहा होगा। इसकी तुलना आधुनिक राकेटों जैसे यानों से की गई है। सम्भवतः इन्हें ही अथवा इन जैसे सीधे—खड़े होने वाले यानों को यूप अथवा वज्र भी कहा जाता था। निम्न कुछेक सन्दर्भो से हमारें इस कथन की पुष्टि होती प्रतीत होती है। कहा गया है कि देव यूप से ही स्वर्ग लोक आए थे। वे चषाल (यूप का शीर्ष भाग) से स्वर्ग लोक पहुंचे थे (क.क.सं.४१.२) | स्वर्ग लोक का आरोहण करते समय रशना से यूप शकल तक, यूप शकल से चषाल तक और चषाल से स्वर्ग लोक तक पहुंचा जाता है (श. ब्रा. ३.७. १.२३) | तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.६.६.३-४) से ज्ञात होता है कि सूचियों से असिपथ बना कर — अन्तरिक्ष को चीरते हुए ही स्वर्ग पहुंचा जाता है— *सुवर्गमेवैनां लोकं गमयति*।

यह यूप एक प्रकार का वज्र ही होता है। वह जिस पर फेंका जाता है वह नष्ट हो जाता है (ऐ.ब्रा.२. ६.१) | वज्र के सम्बन्ध में अन्यत्र कहा गया है कि यह भी एक प्रकार का बाण ही होता है — *वज्रो वै शरः* (श. ब्रा. ३.१.३.१३) | बाण के मुख्य रूप से तीन भाग होते हैं, पक्ष, शल्य और कुल्मल (अथर्व ३.२५.२, मैं. सं. ३.८.१.२, का. सं. २५.१) | कभी कभी उसके शीर्ष—कुल्मल— भाग के दो आवान्तर भागों की पृथक गणना करते हुए, यह संख्या चार भी कह दी जाती है (अथर्व ४.६) पर्णानि, शल्य, कुल्मल और शीर्ष अथवा पर्णानि, शल्य, तेजन (तीव्र गति देने के लिए ऊर्जा के स्रोत का सुरक्षित भंडार) और बिन्दु या अनीक (ऐ ब्रा. १.४.२५) | इसी प्रकार वज्र को भी तीन भागों वाला— *वज्रो वै त्रिणवो* (ता. ब्रा. ३.१.२)— कहा गया है और अग्नि के त्रिधा विभक्त स्वरूप—*त्रेधा ऽ हमात्मानं विकरिष्यं* (तै. ब्रा.१.७.१.२) — के *'अनीकवती तनू'* को शान्त करके अपने हित साधन के लिए प्रसन्न करने — *तां प्रीणीत* (वही १.६.६. १) — का भी उल्लेख हुआ है। अन्यत्र कहा गया है कि यदि इस वज्र को बिना शान्त किये फेंका जाए तो यह विद्युत के समान ही, हानि करता है। इसे स्थापित करने और शान्त करने की प्रक्रिया सभी नही जानते है—*वज्रो वै वषटकारः स एष प्रहृतोऽशान्तो दीदाय तस्य हैतस्य न सर्व एव शान्तिं वेद न प्रतिष्ठा* (ऐ. ब्रा. ३.१.८) | इन्हें फेंकनें की — अन्तरिक्ष में प्रक्षेपण की अनुमति भागधेयों से ले लेनी चाहिए। अनुमति पाकर

ही ऊपर प्रक्षिप्त वज्र भली भांति ऊपर जाता है – *वज्रस्य वा एषोऽनुमानाय ।अनुमत वज्रः सुयाता* (तै. ब्रा. २७३.२-३)

ऋगवेद में वज्र को लौहमय (१.१२१६,१.८०.१२,१०.४८.३) अथवा सुवर्णमय (१. ८५.६) भी कहा गया है। इसमें अनेक अथवा सहस्रों धारें होती थीं (६.२२.६, ६.१७.१०, १.८०.१२, १.८५.६)। इनके सौ खण्ड़ या घटक होने का भी उल्लेख मिलता है (६.१७. १०)। यह तीव्रगामी वज्र (६.२२.६) मन के समान तीव्र गति से चलता हुआ घोर शब्द करता है (४.३८.८)।

यूप वज्र ही होते है। इन्हीं के द्वारा वह पृथ्वी पर आधिपत्य स्थापित कर लेता है और शत्रुओं को जय कर लेता है – *वज्रा वै यूपा स्तदिमामेवैतात्पृथिवीमेतैवजैस्पृणुतेऽस्यै सपत्नान्निर्भजति* – (श. ब्रा. ३.७.२.१)। कहा गया है कि देवों ने पहले दिन (की सोम इष्टि) के द्वारा इन्द्र के लिए वज्र तय्यार किया। दूसरे दिन की इष्टि के द्वारा उसे ठंढा किया और तीसरे दिन की इष्टि के द्वारा उसे इन्द्र को अर्पित कर दिया था। इन्द्र ने चौथे दिन उससे अपने शत्रुओं पर प्रहार किया था (ऐ. ब्रा. ४.१६.१)। और भी, कहा गया है कि साधारणतया यूप ग्यारह ही होते हैं। एक अतिरिक्त – बारहवां – यूप पास ही, वेदी के दक्षिण की ओर, अधवना (यथावसर उपयोग के लिए, अतिरिक्त घटकों के रूप में असंयोजित) ही रखा रहता है – *द्वादश उपशयोभवति वितष्टः* (श. ब्रा. ३.७.२.१)। वज्र के रूप में यह ग्यारह भागों वाली अग्नि ही स्वर्ग लोक पहुंचने के लिए संयोजित की जाती है – *स्वर्गाय वा एष लोकाय चीयते यदग्नि – र्वज एकादशिनी* (तै. ब्रा. ५.५.७.१)।

(अश्वमेघ में) इक्कीस अरत्नि – हाथ – लम्बे इक्कीस ही यूप होते हैं (तै. सं. ३.८.२१.१, श. ब्रा. १३.४.४.५)। यहां से इक्कीस (यूपों के जाने की दूरी) पर स्वर्ग लोक है – *एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोकः । प्र स्वर्ग लोकमाप्नोति* – इनसे स्वर्ग लोक पहुंचा जाता है (तै. ब्रा. ३.१२.५.७)। अन्यत्र वाजपेय यज्ञ के प्रसंग में सत्रह–सत्रह हाथ लम्बे ग्यारह यूपों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु यहां सारी की सारी चर्चा ही काष्ठ कें साधारण यूपों की ही प्रतीत होती है (कौ. ब्रा., १०.१)। यूप द्वारा ही देवलोक को जय किए जाने अर्थात् पहुंचने तथा इसी से प्रजापति को जीतने, ब्रह्माण्ड के अन्तिम छोर तक पहुंचने (श. ब्रा. ५.२.५.१) की बातों से काष्ठ यूपों का दूर दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। और भी, अन्यत्र कहा गया है कि इस यूप में ही सर्व देवों का वास स्थान है, स्वर्ग पहुंचने की शक्ति निहित है, इसी से स्वर्ग लोक पहुंच कर उसकी बराबरी करने के लिए यह सेतु बनाया जाता है (तै. ब्रा. १ ३.७.३)। इसके स्थैर्य के लिए, इसकी पीठिका उलूखल जैसे गढ्ढे में होती है – *उलूखल बुध्नो यूपो भवति प्रतिष्ठित्यै* (तै. सं. ७.२.१.३; ऋग्वेद ३.८.६)। इसी से और आगे जाया जाता है। यही देवयान का पथ है, इसी पर आरूढ़ होकर , गर्जना करते हुए, स्वर्ग लोक को जाते हैं – *एष वै देवयानः पन्थास्तमेवान्वारोहन्त्यां क्रोशन्तो यन्ति* (तै. सं. ७.२.१.३-४)। इस यूप मे आरूढ़ होने के लिए सीढ़ी लगाई जाती है। वह या तो दक्षिण से उत्तर की ओर लगाई जाती है या फिर उत्तर से दक्षिण की ओर। परन्तु दक्षिण से उत्तर की ओर चढ़ना ही अच्छा होता है। ऊपर चढ़ने का अर्थ भी यही है

(श. ब्रा. ५.२.१.६)।

यज्ञ के एक अन्य कर्मकाण्ड में चत्वाल, यज्ञ स्थल के उत्तरी क्षेत्र का एक अंश विशेष जहां सम्भवतः उलूखल के आकार के अवट– कुएं – में यूप की प्रतिष्ठा की जाती थी (पं. युधिष्ठिर मीमांसक सं., १९८४: ८३,८५,१२० तथा २२३), को *'देवानामुत्क्रमणमसि'* – 'तू देवों के ऊपर चढ़ने का स्थान है' – कह कर सम्बोधित किया जाता है। जब देव यज्ञ से स्वर्ग लोक को गए थे, तब इसी चत्वाल नामक स्थान से ही उठकर ऊपर चले गए थे। इसी चत्वाल से यजमान भी उठकर स्वर्ग लोक को जा सकेगा (यजु ७.२६; श. ब्रा. ४.२.५.५)। इसी चत्वाल से रथचक्र पर चढ़कर अंगिरस भी उत्तम स्वर्ग लोक को पहुंच पाए थे (तै. ब्रा. १.३.६.१)।

इन सारे संदर्भो को यदि ध्यान से और आधुनिक विज्ञान और उसकी उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो वज्र अथवा यूप निश्चय ही राकेट जैसा विशेष अन्तरिक्षयान प्रतीत होगा। जिन्होंने भी दूरदर्शन पर इनके प्रक्षेपण का दृश्य देखा है, वे जानते हैं कि कूपाकार गढ़ढों में ही स्थापित किए गए इन राकेटों में सीढ़ियां लगाकर ही चढ़ा–चढाया जाता है और ये ज्वालाएं फेंकते और घोर गर्जना करते हुए ही उठ कर अन्तरिक्ष में अदृश्य हो जाते हैं। वज्र और यूप का अन्तर केवल यही प्रतीत होता है कि जहां वज्र के शीर्ष भाग, बिन्दु या अनीक में विध्वंसकारी विस्फोटक रखा रहता है, वहीं यूप में उपग्रह अथवा यान को भेजा जाता था। ऊपर हम देवों के चषाल – यूप के अग्र भाग – से ही स्वर्ग लोक पहुंचने का प्रमाण प्रस्तुत कर आए हैं। आज के राकेट तीन या कुछ अधिक चरणों में ही भेजे जाते हैं, किन्तु प्रतीत होता है कि स्वर्ग के नाम से अभिहित देवों के ग्रह लोक तक जाने और वहां उतरने के लिए उस समय तक ग्यारह चरणों में उत्क्षिप्त होने वाले अन्तरिक्ष यानों की प्रविधि विकसित कर ली गई थी। पृथिवी के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र की परिधि का अतिक्रमण हो चुकने के बाद, अन्तिम चरण में यूप का शीर्ष भाग ही अलग होकर गंतव्य तक पहुंचता था। सम्भवतः, इन्द्र द्वारा "भय से कांपते हुए यज्ञ (देवयान – यूप – राकेट) का शिर शरीर से अलग करना" (१०.१७१.२) इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। इसी प्रक्रिया के अनुकरण मूलक अभिनय अर्थात् याज्ञिक कर्मकाण्ड में अन्तिम दिन ग्यारहवें यूप पर चढ़े हुए यजमान से स्वर्ग पहुंचने की घोषण करवाने की (यजु ६.२१–२२; श. ब्रा. ५.२.१.१०–१४,१८) सार्थकता भी प्रकट होती है।

५. देवयान :

(१) ऋग्वेद में देवयान :

वेदों में अनेक स्थानों पर अन्तरिक्ष को समुद्र और इन देवयानों को स्वर्ग लोक ले जाने वाले प्लव–नौका भी कहा गया है (ता. ब्रा. ५.८.५,१४.५.१७)। "ये ऋचाएं नौकाएं हैं जो स्वर्ग लोक के किनारे तक पहुंचा देती हैं" – *ता वा एता स्वर्गस्य लोकस्य नावः संपरिण्यः स्वर्गम्* – और इन्हीं से यजमान भी इन लोकों के पार करके स्वर्ग लोक पहुंच जाते हैं (ऐ. ब्रा. ६.२७.४)। ऋग्वेद में भी अन्तरिक्ष समुद्र में चले जाने वाली पूषन की हिरण्ययी नौकाओं का उल्लेख हुआ है – *यास्ते पूषन्नावो अन्तः*

समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्ष चरति (६.५८.३)। अन्यत्र भी अन्तरिक्ष में चलने वाले विमानों और समुद्र में चलने वाली नौकाओं का अलग अलग उल्लेख करते हुए दोनों के अन्तर को स्पष्ट कर दिया गया है — *वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः* (१.२५.७)। अंतरिक्ष में अपनी ही शक्ति से चलने वाली ये स्वचालित नावें वायु मंडल में व्याप्त जलों को अपने शरीर से हटाती हुई चलती हैं — *आत्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः* (१.११६.३), *स्व वां यातु* (१.११८.१) तथा *आत्मवन्तं पक्षिणः* (१.१८२.५)। अन्तरिक्ष (और समुद्र, दोनों) को *'अनारम्भेण'* — आरम्भ रहित और *'अग्रभणे'* — सहारे के लिए किसी पकड़ से शून्य कहा गया है (१.११६.५)।

इस अनन्त विस्तार में चलने के लिए ऋभुओं ने अश्विनी कुमारों के लिए एक रथ बनाया था, जिसकी गति सर्वत्र समान थी (१.२०.३)। इसे अविनाशी और आकाश तथा समुद्र — दोनों में ही चलने वाला कहा गया है (१.३०.१८)। यह तीनों लोकों में चलने वाला रथ उन्हें अभिमत स्थानों में पहुंचा देता है — *अभिप्रयो नासत्या वहन्ति* (१.११८.४,२; १.१८०.१)। तीनों लोकों में अबाध गति से चलने वाले इसी रथ से हमारे पास पुत्र और सेवक सहित धन लाने की प्रार्थना की गई है (१.३४.१२; १.४७.२; ६)। शीघ्र गति से आकाश में उड़ने वाले तथा न टूटने वाली नेमि वाले इस रथ की प्रशंसा की गई है (१.१८०.१०)। अन्तरिक्ष में चलने वाले रथ को (६.६२.६) भली प्रकार से घूमने वाला कहा गया है (४.४४.३)। बृहस्पति के रथ को स्वर्ग प्राप्त कराने वाला (२.२३.३) और अश्विनी कुमारों के रथ को द्यावा—पृथिवी को बाधित करने वाला कहा गया है (७.६६.१)।

अश्विनी कुमारों का अनेक रंगों का रथ शोभन वर्ण वाला है (१.४७; ३.२६.६)। उसे स्वर्ण निर्मित कहा गया है (१.६२.१८; ४.४४.४–५; ८.५.२८.३५)। इसकी जुआर, धुरी तथा पहिए सोने के हैं (८.५.२९)। अन्यत्र इसे लौह निर्मित (१.११६.२०; ७.६६.१) तथा सोने से मढ़ा हुआ कहा गया है (१.११६.२०; ७.६६.१)। मित्र और वरुण के रथ भी सोने के बने हुए हैं। इनके खंभे भी सोने के ही हैं और वह आकाश में बिजली की तरह चमकता है और इसमें लोहे की कीलें लगी हुई हैं (५.६२.७–८)। सविता का विशाल रथ स्वर्णमूर्तियों से सुशोभित और सोने की कीलों से जड़ा हुआ है (१.३५.४)। मरुद्गणों के रथों में सोने के पहिए लगे हुए हैं (१.८८.५)। अन्यत्र इन्हीं पहियों को 'सोने के पैरों वाले घोड़े' भी कहा गया है (८.७.२८)। अनेकत्र, मरुतों के रथ को बिना पहियों वाला भी कहा गया है (५.४२.१०)।

इन रथों को तीन बन्धनों वाला — *त्रिबन्धुर* (१.११८.१–२; १.१८३.१; १.१५७.३; १.१३६.४; १.४७.२; १.३४.६), तीन भण्डार गृहों वाला — *त्रिधातु* (१.१८३.१), तीन प्रकार की सेनाओं अर्थात् रक्षा के साधनों से युक्त — *त्रिवरूथ* (तै. ब्रा. २.६.१०.५) कहा गया है। इनके ऊपर किसी विशेष प्रकार के तीन आवरण — त्रिवृत — भी होने का उल्लेख मिलता है (१.३४.६; १.११८.२; ३६.२; १.४७.२)। सम्भवतः इन्हें ही अन्यत्र *'रथेन सूर्यत्वचा'* (१.४७.६) भी कहा गया है। अनेक बार ये रथ 'त्रिकोण' आकार के भी होते थे (१.३४.६, ८८५.८) और तीन ही 'स्कम्भों' पर टिके हुए कहे गए है (१.३४.३)। इनमें बैठने

के लिए स्थान संकरे होते थे — *सनीळाः* (१.५४.६) और एक स्थान पर तो तीन सारथियों के बैठने के तीन स्थानों (१.१८३.१) का भी उल्लेख हुआ है। इनके *'सहस्रकेतु'* (१.११६.१) होने तथा तीन पवियों — *त्रय पवयः*, तथा तीन ही पहियों का उल्लेख हुआ है (१.३४.२)। कहा गया है कि आते समय मरुत अपने पहियों को नीचे की ओर करके आते है (१.११८.२; १.१८३.१; ४.३६.१; १.१५७.३; १.३४.६)। आधुनिक विमान भी उड़ते समय अपने पहिए उठा लेते है और और उतरते समय उन्हें नीचे गिरा लेते है। ये रथ तीन प्रकार की गति से चलने के लिए प्रशिक्षित होते थे (८.७.२६)

ये रथ पक्षियों की तरह — *वयो न पप्तथा* — उड़ते थे। पंखो की सहायता से —*अश्वपर्णैः* (१.३४.२) ये निरन्तर तीव्र गति — *अत्याः* — करते रहते थे (१.१६३.१०)। इन्हें श्येन की तरह —*श्येनासो* (१.११८.४), श्येन की शक्ति से — *आश्येनस्य जवसा* (१.११८.११), उडने वाला— *श्येन पत्वा* (१.११८.१), कहा गया है। ये गृद्ध पक्षी के समान उड़ कर आकाश मे विचरण करते थे — *ये आप्तुरो दिव्यासो न गृध्रा* (१.११८.४)। तीव्र गति से चलते हुए ये पर्वत शिखरों को — *प्रवद्यामना अद्रेः* (१.११८.३; १.११७.१६) तथा अन्य दुर्गम स्थानों को पार कर जाते थे (५.७७.३)।

अन्यत्र, सात अश्वों द्वारा खींचे जाते, सात चक्रों वाले रथ पर बैठे सात व्यक्तियों का (१.१६४.३) अथवा सात अश्वों से युक्त और पांच रश्मि—लगाम—वाले आकाशचारी रमणशील विमान—रथ का (२.४०.३) अथवा सात अश्वों द्वारा खींचे जाने वाले तीन नाभि—धुरों वाले एक चक्र रथ (१.१६४.२) का भी वर्णन मिलता है। इनकी उड़ान की तुलना तीव्र गति से उडने वाले हंसो की पंक्तियों — *अत्या। हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते* — से की गई है (१.१६३.२)। और भी, जिस प्रकार मनुष्य नौका से पार उतर जाते है, उसी प्रकार हमें अन्तरिक्ष पार कराने के लिए पृथुरथ —विमान में *अरित्रम्, दिवः और इन्दवः* — संयोजित करने के लिए अश्विनी कुमारों से प्रार्थना की गई है (१.४६.७–८)। अन्यत्र, स्वर्ग लोक — नाकम् — को प्राप्त कराने वाले — *वृण्वथः*, आकाश मे उड़ते हुए — *दिविष्टुषु*, *न गिरने वाले —अध्वस्माना*, तथा दृढ़ बन्धनों से युक्त अश्विनों के हिरण्य रथ मे बैठने की आकांक्षा भी व्यक्त की गई है —*आधवां स्थान बन्धुरे रथे दस्रा हिरण्यये* (१.१३६.४)।

भुज्यु की रक्षा करने के प्रसंग मे अश्विनी कुमारों द्वारा आकाशचारी यानों के साथ ही जलपोतो की सहायता लिए जाने का भी उल्लेख मिलता है।। अन्तरिक्ष मे चलने वाले घोड़ों रहित रथ की सहायता से उसे बाहर निकाला गया था (६.६२.६)। उस रथ को अपनी ही शक्ति से समुद्र के बीच स्थिर होने (१.१५८.३) के अतिरिक्त, अनेक स्थानों पर सौ पहियों तथा छः अश्वों वाले रथ से सागर के किनारे लाने (१.११६.४), तथा सौ डाडों से चलने वाली नौका (१.११६.५; १०.१४३.५), चार नौकाओं (१.१८२.५–६) आदि के कथन से नौकाओं के अतिरिक्त, जल विस्तार के ऊपर आकाश मे स्थिर हो कर एक ही स्थान मे मंडराने वाले हेलीकाप्टर जैसे किसी यान का भी संकेत मिलता है।

ये आकाशचारी देवयान वायुवेग से चलते थे —*वातरंहा* (१.११८.१; ५.७७.३;

१.१७४.५, १.१८१.२)। इनकी गति आंखों के निमेष से भी अधिक तीव्र कही गई है (८.६२.१)। अन्यत्र इन्हें मन के वेग से चलने वाला — *मनोजुवं*(१.११४.१, १.८१.२) *रथेन मनसो जवसा* (१.११७.१५) तथा *मनसो जवीयान्रथः* (१.११७.१३; ११८.१–३, १८३.१–२, ५.७७.३, ६.६२.३) भी कहा गया है। इन रथों में विचार करने मात्र से, केवल इच्छा करने. से ही, अश्व जुत जाया करते थे (१.१४.६, २०.२, ६.२०.६, ४६.५, ८.५२)।

अत्यधिक तीव्र गति से चलने वाले ये रथ चलते समय घोर गर्जना करते थे —*कदा योगो वाजिनो रासभस्य* (१.३४.६, ८.८५.७)। अन्यत्र इन्हें दन्तुर वराह के समान गर्जना करते हुए दौड़ने वाला — *अयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून* (१.८८.५) भी कहा गया है।

ये रथ बहुत मनोयोग पूर्वक, बुद्धि के प्रयोग से — *मनसस्परि ध्यया* (४.३६.२)तथा बहु आयामी प्रज्ञा के प्रयोग से — *पुरुमायं* (१.११६.१) बनाए जाते थे। बाद के इतिहास ग्रन्थों मे भी आकाशचारी विमानों का उल्लेख मिलता है। वाल्मीकीय रामायण मे वर्णित पुष्पक विमान, जिसे स्वयं ब्रह्मा ने बनाया था, की चर्चा तो सर्वासाधारण के ज्ञान का विषय है, परन्तु श्रीमद्भागवत मे वर्णित शाल्व के 'कामगं' और 'दुरासदं' यान (१०.७६.८) की उतनी प्रसिद्धि नही है। वह यान कभी भूमि पर और कभी आकाश में उड़ता, गिरिशृंगो को पार कर जाता था और आवश्यकता पडने पर जल मे भी उतर सकता था — *क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित्। आलातचक्रवद् भ्राम्यत्।* (१०.७६.२२)। अभी कुछ दिनों पूर्व ईसवी सन् १६७७ में स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने महर्षि भरद्वाज प्रणीत बृहद् विमान शास्त्र और उस पर बोधानन्द यति की वृत्ति प्रकाशित की है। इससे इस विषय पर और भी अधिक प्रकाश पड़ने की आशा है।

(२) देवयान के अश्व :

पूर्वोक्त रथों मे घोड़े जोते जाने का अनेकशः उल्लेख हुआ है। किन्तु इनके विषय मे प्राप्त होने वाली सूचनाएं कुछ विचित्र हैं। साधारणतया घोड़े उत्पन्न होते हैं अथवा नियन्त्रित प्रजनन विधि से उत्पन्न कराए जाते है और फिर उन्हें प्रशिक्षित किया जाता है। परन्तु वेद में देवयानों में युक्त किए जाने वाले घोड़ों के सम्बन्ध में कहा है कि रथों की तरह ये भी बनाए जाते थे — *अश्वः कर्त्वो रथ उतेह कर्त्वः* (१.१६१.३), गढ़े जाते थे — *तक्षन्रथं सुवृतं.....तक्षन्हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू* (१.१११.१)। कहा गया है कि उत्तम ज्ञान पूर्वक कर्म करने वाले ऋभुओं ने इन्द्र के वाहन रूप हरि नामक अश्वों को गढ़ा था — *शच्या हरी धनुतरावतष्टेन्द्र वाहावृभवो वाजरत्नाः* (४.३५.५) इन 'ऋतस्पृशो' अर्थात आकाश से आने वाले या उसको छूने वाले घोड़ों को (४.५०.३) 'देवजात' (१.१६२.१) भी कहा गया है। त्वष्टा ने देवों के प्रिय इन वीर और तीव्र गति वाले अर्वा—घोड़ों — को उत्पन्न किया था (तै. सं. ५.१.११.३)। अन्यत्र इन्हें जल में अन्तर्निहित अग्नि अर्थात विद्युत से उत्पन्न —*उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात* (१.१६३.१) और इसीलिए वरुण का पुत्र (१०.६१.२४) भी कहा गया है। एक स्थान पर अश्व को यज्ञ से उत्पन्न भी — *यद्वेतद्देवा यज्ञं समभरंस्तस्मादश्वः समभवत्* — (ऐ. ब्रा. ३.

११.११) कहा गया है। अन्यत्र कहा गया है कि देवों के आने जाने के लिए इन रथों में जोते जाने वाले अश्वों को अश्वों से भी अधिक वेगवान पदार्थो से गढ़ कर बनाए गए पदार्थ लगे है — *सौधन्वना अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुप देवां अयातन* (१. १६१.७)।

इन्द्र के हरे रंग के घोड़ों (१०.६६.१) की ही तरह, हरे और लाल रंग वाले (८.६८.१५), काले रंग के और वरुण के पीले (हिरण्य) रंग के घोड़ों (७.४४. ३) का भी उल्लेख हुआ है। मरुत गण के घोडों का पृषत — चितकबरे (१.८६.८८) तथा वायु के घोड़ों को नियुत (१.१३४.२; १३५.१३.४) — एक संस्था वाची शब्द — कहा गया है। अनेक स्थलों में एक ही रथ में निन्न्यानबे (५.४८.४), सौ (४.४८. ३), सैकड़ों — हजारों (४.२६.५; ४६.४; ७.६२.५) घोड़ों के जोते जाने का भी कथन हुआ है। और भी, 'अधिक वेगवान और अत्यन्त शक्तिशाली दस सहस्त्र काले घोड़ें द्वारा रथ का पहिया खींचे जाने' का भी उल्लेख मिलता है (८.१.२४)। इंन घोड़ों को विशेष और विविध कर्म करने वाले (१.६३.२; १०.१०५.४) तथा अति तीव्र गति से चलने पर भी न थकने वाले (६.२१.१२; ७.६७.८; ६६.७) और घोर शब्द करने वाला (१.३४.६; १३६. ४; १६३.१; ८.८५.१; १०.१०५.४) भी कहा गया है। यज्ञों में इन घोड़ो को कल्याणकारी (७.३८.५; १०.६४.६; यजु ६.१७) कह कर इन्हें *मितद्रवः* — नपी च़ाल से निरन्तर चलने वाला, *स्वर्का* — उत्तम तीव्र गति वाला और *हवनश्रुतो* — घ्वनि संकेत समझने वाला कहकर *सहस्त्रसा* — (तै. सं., १.६.१२.६) सहस्त्रों (-?) की दूरी तय करने वाला भी कहा गया है। इन घोड़ों से जुते रथों को मनुष्य रथों की तरह ही चलाया जाता था — *रथ चक्रं प्रवर्तयति मनुष्यरथेनैव देवस्थ प्रत्यवरोहति* (श. ब्रा., ५.१५.२२)। परन्तु यह भी कहा गया है कि "इन रथ हीन पवियों वाले देवयानों में — *ये पवयो ऽ स्था इन्द्रेषिता* (तै. ब्रा., १.१.६.८) घोड़े नहीं जोते जाते थे — *अनश्वासो रथमनश्वं* (१. १२०.१०), *अनश्वं .. रथं* (१.११२.१२)। फिर भी, ये अश्व धी से चुपड़े जाकर (ग्रीज लगाकर ?), स्वप्रेरणा से, अपने निश्चित समय पर, देवों के पास स्वर्ग लोक पहुंच जाते हैं — *अश्वो धृतेनत्मन्या समक्त उप देवां ऋतुशः पाथ एतु* (तै. सं., ५.१.११.४)। अन्यत्र, प्रार्थना की गई है कि इस देवरथ पर चढ़ा कर अग्नि हमें देवों के पास स्वर्ग ले जाएं — *देवाश्वै देव यजमानं सुवर्ग लोकं गमयति* (वही १.७.४.३–४)।

ऋग्वेद के एक मंत्र से इन अश्वों के रहस्य का उद्घाटन होता प्रतीत होता है। कहा गया है कि "किसी ने पास या दूर के स्थान में एसा देखा है कि जिस अश्व को रथों में जोतते हैं, उसी को (रथ के) ऊपर स्थापित करते हैं। उसे जल या घास नहीं दी जाती है। यह अश्व जुआ धारण करता है और अपने स्वामी को विजयी बनाता है" (१०.१०७.१०)। अन्यत्र भी, अश्विनी कुमारों के 'घोड़े और रस्सियों से रहित रथ' के आकाश में घूमने से उनका देवत्व सिद्ध किया गया है (१. ११२.१२, १२०.१०; ४.३६.१)। इसी प्रकार मरुतों के रथ के सम्बन्ध में बताते हुए कहा गया है कि वह बिना घोड़े वाला, भोजन करने की आवश्यकता से रहित और पाश हीन ही स्वर्ग, धरती और आकाश में चलता (६.६६.७) है। इन अश्वों के सम्बन्ध में कहा गया है कि इनके पंख श्येन के समान और पैर हरिण के समान (पतले, सीधे और

लम्बे?) हैं (१.१६३.१)। इनका सिर सोने का और पैर लोहे के हैं (१.१६३.६)। सम्भवतः इसी प्रकार के पैरों को देखकर ही कहा गया था कि 'हे इन्द्र तुम भयानक पैरों वाले और पर्वताकार पशु के समान भयानक हो' (१०.९०.२)। यहां सम्भवतः पूरे यान को ही इन्द्र कह कर सम्बोधित किया गया है। इससे बाइबिल मेंयहेजकेल पुस्तक में आकाश मार्ग से आने वाले यान के वर्णन की तुलना की जा सकती है। कहा गया है कि "उसके पांव सीधे थे और उनके पांवों के तलवे बछड़ों के खुरों जैसे थे। वे झलकाए हुए पीतल की तरह चमकते थे" (१.७)। जिस समय यह धरती से अन्तरिक्षस्थ सूर्य की ओर धूलि रहित सुख प्रद मार्गो से जाता है, तब उसका शीघ्रता पूर्वक उठता हुआ शिर देखा गया है (१.१६३.६)। अपने इन वेगवान घोड़ों की सहायता से ऋभुओं के आकाश को घेर लेने का भी उल्लेख हुआ है (४.३१.१)। अश्विनी कुमारों के सुन्दर मार्ग से स्वर्ग जाने वाले स्वर्णरथ की प्रशंसा करते हुए (१.१३६.४), उनसे नए, विचित्र एवं शब्द करने वाली वस्तुएं (रेडियो अथवा अस्त्र?) को पाने की भी प्रार्थना की गई है (१.१३६.८)। अन्यत्र भी, निर्ऋति के *' तिग्मतेजो ऽ यस्मयं विचृता बन्धमेतम्'* (क.क.सं. २५.३) से भी उत्तम नाक – स्वर्ग लोक – चढ़ा ले जाने की प्रार्थना की गई है।

इन कुछ संदर्भो से देवयान में प्रयुक्त अश्वों का यांत्रिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। किंवा, आजकल की तरह ही, एक ही रथ में जोते गए अश्वों की विभिन्न संख्याएं भी उन यांत्रिक अश्वों की 'अश्वशक्ति' का ही निर्देश करती प्रतीत होती हैं। सोमाहरण के प्रसंग में दिए गए विवरण से भी इसी धारणा की पुष्टि होती है। दो प्रयत्नों के असफल हो जाने पर, गायत्री ने *'सुपर्णोभूत्वा'*– सुपर्ण के आकार के यान में, सहस्त्रों और सैकड़ों शक्तियों वाले 'तार्क्ष्य' (यंत्र) की सहायता से – *सहस्त्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्म वरन्ते* – स्वर्ग जाकर सोम को ले आने में सफलता पाई थी (ऐ.ब्रा., ४. १८.६)।

(३) देवयान के मार्ग : अन्तरिक्ष में चलना :

देवयानों के मार्ग 'नाक पृष्ठ भाग पर प्रकाशमान द्युलोक में खिंचे हुए' कहे गये है (तै.सं. ३.५.५.३)। इन्हें 'प्राचीन,धूलि रहित और अन्तरिक्ष मे फैले हुए ' भी कहा गया है (वही. ७.५.२४.१)। ये 'उत्तम मधुमान मार्ग'(१.३५.११)'भली भांति बनाए हुए' थे (तै.ब्रा. २.६.७.१)। इन मार्गो पर बिना घोड़े, बिना लगाम वाले रथों –यानों –से स्वर्ग लोक को जाते समय होने वाली कठिनाइयों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यहां एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाया जा रहा है। कहा गया है कि एक बार अंगिराओं ने बिशेष यज्ञ का संयोजन किया और उसके द्वारा स्वर्ग पहुंच गए। परन्तु मार्ग ठीक से ज्ञात न होने के कारण उन्हें अपना गंतब्य पहचानने मे कठिनाई का अनुभव हो रहा था। अतः उनमें से एक, कल्याण नामक युवक अंगिरा, मार्ग का निश्चित संधान पाने के लिए यान से बाहर निकल आया था। बाहर आने पर उसे ऊर्णायु नामक गन्धर्व मिला जिसने यह कहते हुए कल्याण को दिशा निर्देश दे दिया था कि वह किसी पर गन्धर्व का नाम न प्रकट करे" (ता.ब्रा., १२.११.१०)। कहा

जा चुका है कि मनुष्य प्रत्येक कार्य में देवों का अनुकरण करते है और इसीलिए इस कल्याण नामक युवक अंगिरा के देवयान से बाहर निकल कर अन्तरिक्ष में चलने का, जो कि आज एक सामान्य बात हो चुकीहै, का भी अभिनय याज्ञिक कर्मकांड में कराया जाता है। कहा गया है कि 'अब यजमान यह कहता हुआ हविर्धान से बाहर आता है कि मै अन्तरिक्ष मे हो कर आता हूं । यह पुरुष भी दोनों ओर से मूल से कट कर स्वच्छन्द हो कर विचरता है ' — *यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्ष मनुचरति* (श. ब्रा. ४.१.१.१६) । अन्यत्र भी, अग्नि को ऊपर उठा कर, पग बढाते हुए यजमान से अग्निमुख होकर (क.क.स. ४०.५) अन्तरिक्ष मे चढ़ने का ही तो अभिनय कराया जाता है (वही ६.७.२.१४) ।

(४) देवयान से संवाद :

स्वर्ग नाम से पुकारे गये, द्युलोकस्थ किसी ग्रह तक की अन्तरिक्ष—यात्राएं करने वाले देवों ने पृथिवी वासी मनुष्यों से संवाद स्थापित करने के लिए अवश्य ही कोई स्थाई व्यवस्था कर ली होगी। इसके अनेक संकेत मिलते है। कहा गया है कि "हे शत्रुनाशकों में श्रेष्ठ इन्द्र, तुम चाहे स्वर्ग के दीप्तमान स्थान मे हो, चाहे समुद्र के बीच किसी अन्य स्थान में हो, चाहे धरती के किसी कोने मे हो अथवा अन्तरिक्ष, कहीं भी हो, हमारे पास आओ" (८.८६.५) । "हे अनेक यज्ञों के भोगने वाले अश्विनी कुमारों, आज चाहे तुम दूरवर्ती स्वर्गमें हो,चाहे पहुंचने योग्य आकाश मे हो, और चाहे अनेक स्थानो में हो, तुम सभी स्थानो से यहां आओ" (५.७३.१) । "तुम जहां कहीं भी हो, हमारी पुकार सुनो" (५.७४.१०) । "हे अश्विनी कुमारो, हमे यह ज्ञात नहीं है कि आजकल तुम कहां हो और कब हमारी पुकार सुनोगे" (८.६२.५)। "अश्विनी कुमार जहां कहीं भी हो,वहीं हव्य सहित स्तोत्र उन्हें दूत के समान प्राप्त हो" (६.६३.१) । "विश्वेदेव मेरी पुकार सुनें, चाहे वे अन्तरिक्ष में हो अथवा स्वर्ग के समीप....." (६. ५२.१३) । निश्चय ही यहां सर्वव्यापक, अजर, अमर, और अगोचर परमात्मा की स्तुति न होकर, किन्हीं, एक देशीय देवों को ही पुकारा जा रहा है और ये अनुरोध किसी सार्वजनिक घोषणा व्यवस्था के अर्न्तगत प्रसारित होने वाले संदेशो जैसे ही प्रतीत होते है।

यज्ञ में अभिनीत एक अन्य कर्मकाण्ड से भी इस अनुमान की पुष्टि होती है और ज्ञात होता है कि कभी स्वर्ग लोक जाते हुए अथवा पहुंच चुके व्यक्तियों से पृथिवी वासी संवाद स्थापित कर सकते थे। कहा गया है कि "अब (अग्नीध्र अध्वर्यु से) कहता है —'संवदस्व'— संवाद करो। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि स्वर्ग पहुंचे या जाते हुए देवों से वार्तालाप करो। अब अध्वर्यु कहता है— ' हे अग्नीध्र, क्या वह देव लोक पहुंच गया है ' इसका तात्पर्य यह है कि क्या समुचित ही चला गया है। वह उत्तर देता है —'हां, चला गया है।' अब अध्वर्यु कहता है, 'श्रावयं'— सुना। इसका तात्पर्य यह है कि यजमान की बात को देव सुनें और जानें। अब कहता है 'श्रौषट्'— सुनो। अग्नीध्र के ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि 'देवों ने उसे जान लिया है, पहचान लिया हैं । इस प्रकार अध्वर्यु और अग्नीध्र यजमान को देवलोक की ओर

ले जाते है" (श.ब्रा., १.८.३.२०)

वेदों मे अन्यत्र भी इस दूरसंचार की यांत्रिक व्यवस्था के यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं और द्युलोक में देवयान से गये यात्रियों से संवाद करने की सम्भावना की पुष्टि होती है। एक मंत्र मे "समरत विश्व में गतिशील दूत के समान घटनाओं की सूचनाओं को लानें ले जाने वाले विद्युत, जिसे हम केवल वाणी से ही जानते हैं, को सिद्ध कर उपयोग मे लाने" के लिए कहा गया है (१.८.१)। अन्यत्र भी, विद्युत और वायु के संयोग से दूत बनाकर निरन्तर और सद्यः प्राप्त होने और प्रेषित किए जाने वाले संदेशों के आदान प्रदान का उल्लेख मिलता है (४.७.११)। पुनः मनोयोग पूर्वक सिद्ध किए गए विद्युत के उपकरणों के प्रयोग से देवों की प्रसन्नता के लिए वार्ता और पदार्थों के आदान प्रदान की चर्चा भी मिलती है (१.१४.६)। इस मंत्र के भावार्थ मे स्वामी दयानन्द ने लिखा है – *'ताराख्येन यन्त्रेण संचालिता विद्युन्मनोवेगवद्वार्ता देशान्तरं प्रापयते'* अर्थात तार नामक यंत्र के संचालन से विद्युत वार्ता को मनोवेग से देशान्तर में पहुंचाती है (ऋग्वेदभाष्यम् १:१८७)। इसी प्रकार एक अन्य मंत्र के भाष्य में भी उन्होनें वैद्युतयान से गमनागमन और समाचारों के आदान प्रदान का ग्रहण किया है (७.३.२; ऋग्वेदभाष्यम् ६:३५)। अन्यत्र, उन्होंने तीव्र गमन के लिए बढ़े हुए और बहूपयोगी – *श्वेतं पुरुवारं* – संदेशों को इधर उधर पहुंचाने वाले यंत्रो के अस्तित्व और उपयोग की पुष्टि की है (१.११६.२०; ऋग्वेदभाष्यम् २:५८३)।शुक्रनीति सार मे भी राजाओं द्वारा दस सहस्त्र कोस का समाचार एक ही दिन मे प्राप्त कर लेने का कथन मिलता है – *अयुतं क्रोशजां वार्ता हरेदेक दिनेन वै* (१६८३:६५)।(डा. गुस्ताव ओपर्ट के संस्करण पर आधारित अनुवाद में श्री विनय कुमार सरकार ने केवल 'सौ कोस' ही लिखा है (१६१४:५६))। इससे भी दूर संचार के किसी यंत्र के अस्तित्व की पुष्टि ही होती है। ऋग्वेद में महार्षि सप्तवध्रि द्वारा 'अग्नि' को मंजूषा से निकाल कर अश्विनी कुमारों की स्तुति – आवाहन – करने के उपरान्त उसे फिर मंजूषा मे सुला देने का उल्लेख भी किसी वेतार के दूरसंचार के यंत्र की ओर ही संकेत करता प्रतीत होता है (८.६२.६)।

(५) देवों के मुखौटे :

एक अन्य तथ्य भी देवों के किसी अन्य ग्रह से आए हुए अन्तरिक्ष यात्री होने की पुष्टि करता है। कहा गया है कि 'जो सौत्रामणि यज्ञ करता है वह लोक लोकान्तरों से होता हुआ देव लोक में प्रवेश करता है और देवराज इन्द्र को अपने पास बुला लेता है'(श. ब्रा.,१२.८.३.३१)। मगर इस सब आवागमन और सम्पर्क के बाद भी किसी ने इन्द्र का मुंह नही देखा था। कहा गया है कि यद्यपि ऋषि इन्द्र को प्रत्यक्ष देखना चाहते थे और ऐसा करने के लिए प्रार्थनाएं भी करते रहते थे (ता. ब्रा. १.१६), किन्तु उन्होंने इन्द्र को कभी प्रत्यक्ष नही देखा था – *ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षन्नापश्यन्* (वही १५.५.२४)। वरुण के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कुछ कहा गया है। कहते है कि "हम लोग जिन वरुण का दर्शन करते है, उन्हें मैंने देखा है। मैंने कई बार पृथ्वी पर चलता हुआ उनका रथ देखा है" (१.२५.१८)। "वे सोने का कवच धारण करके अपने बलिष्ठ शरीर को

ढंके रहते हैं" (९.२५.१३)। यहां देवों का ढंका हुआ बलिष्ठ शरीर और चेहरा देखने की उत्कट किन्तु अपूर्ण इच्छा यही बताती है कि वे, दूसरे ग्रह पर अपरिचित और अपरीक्षित वातावरण में गए अन्तरिक्ष यात्रियों की तरह ही, अपना विशेष कवच और मुखौटा नहीं उतारते थे। इसके अतिरिक्त इन्द्र के टोप का भी उल्लेख हुआ है (८.९६.४)। सम्भवतः इसीलिए प्राचीनतम साहित्य में वैदिक देवों की मुखाकृति का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। बाद के इतिहास ग्रन्थों में गणेश आदि देवों की पशवाकृतियों का रहस्य भी सम्भवतः उनके अन्तरिक्ष यात्री होने तथा इसीलिए श्वांस लेने के लिए बिबिध यंत्रों और नलिकाओं से सज्जित कवच और मुखौटा धारण करना ही रहा होगा। यंत्रों की वास्तविकता न समझकर, कलाकार ने, जो कुछ जैसा देखा था, उसे अपने ज्ञात परिवेश के आधार पर रूपायित कर लिया होगा।

(६) विकिरण क्षति की चिकित्सा :

एक अन्य तथ्य भी इन देवों के किसी अन्य ग्रह से आया हुआ अन्तरिक्ष यात्री होने की पुष्टि करता है। सौत्रामणि यज्ञ के सन्दर्भ मे ही शतपथ ब्राह्मणमें कहा गया है कि "जो सौत्रामणि करता है वह लोकों और देवताओ में प्रवेश करता है। वह इनको अपने पास बुला लेता है और पूर्ण शरीर तथा पूर्ण अंग हो जाता है"— *यः सौत्रामण्याऽभिषिच्यते तदेतद्वान्तरामात्मानमुपह्वयते तथा कृत्स्नऽएव सर्वतनूः सांग सम्भवति* (१२.८.३.३१)। अनुवादक ने इसके अन्त मे कोष्ठक के अन्दर इतना अतिरिक्त लिख दिया है कि 'या परलोक मे पूर्ण शरीर होकर उत्पन्न होता हैं'। परन्तु ऋग्वेद के एक मंत्र में आणविक विकिरण से हुई अंग हानि की चिकित्सा का वर्णन होने से यही प्रतीत होता है कि यहां भी अन्तरिक्ष यात्राओं की दीर्घ अवधि मे विकिरण से हुई शरीर क्षति की चिकित्सा की ओर संकेत किया गया है। मंत्र इस प्रकार है — *सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिणऽऊर्णा सूत्रेण कवयो वयन्ति। अश्विना यज्ञं सविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्* (यजु १९.८०, श.ब्रा. १२.८.३.१५, तै.ब्रा. २.६.४.१) —"जिस प्रकार कवि ऊन और सूत से (वस्त्र) बुनते है, उसी प्रकार मनोषी मनोयोगपूर्वक सीसे से तन्त्र (वस्त्र या यन्त्र) बुनते है। अश्विनी कुमारों, सविता और सरस्वती (आदि मनीषियों) द्वारा (मनोयोगपूर्वक बुने या बुनाएगए सीसे के वस्त्र या यन्त्र से) वरुण ने इन्द्र के रूप—शरीर—की चिकित्सा की थी"। तैत्तरीय ब्राह्मण मे भी इन्द्र के जीर्ण—शीर्ण हो जाने पर उसके पुनः स्वस्थ, सबल और हो जाने का उल्लेख सम्भवतः इसी चिकित्सा की ओर इंगित करता है (तै.ब्रा. ३.१.५.६)। आज हम जानते है कि सीसे मे आणविक विकिरण का प्रतिरोध करने का सामर्थ्य होता है। इसी से उस विकिरण से हुई क्षति की चिकित्सा भी होनी संभव हो सकती है। यह भी ज्ञात हो चुका है कि इससे बने पात्रों के प्रयोग से ही नही, वरन इसके धुएं से भी शरीर विषाक्त हो उठता है। सम्भावना तो यहां तक भी व्यक्त की गई है कि रोम साम्राज्य के अभिजात्य वर्ग का पतन सीसे के पात्रों मे रखी जाने से विषाक्त हो चुकी सुरा के अत्यधिक सेवन के कारण ही हुआ था। अतः यहां इन्द्र के बारम्बार की अन्तरिक्ष यात्राओं मे विकिरण से प्रभावित होकर रुग्ण हो जाने और फिर

उसे सीसे से ही बने वस्त्राच्छादन के प्रयोग से पूर्णस्वस्थ, पूर्ण अंग किए जाने का उल्लेख मानना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

(७) देवयान की यात्राओं से आयुवृद्धि :

इसी प्रकार एक अन्य तथ्य भी इन देवो की अन्तरिक्ष यात्राओं का अन्यतम समाधान प्रस्तुत करता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि "तुम सम्यक प्रकार से चलो, भली भांति प्राप्त करो देवयान के पथों को, बार बार पितरों के युवा बनाते हुए। ये तन्तु यात्राऐं तुम्हें अनुकूल उत्पन्न हों" — *सम्प्रच्यवध्वमुप सं प्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम्। पुनः कृण्वाना पितरा युवानान्वातांसीत त्वयि तन्तुमेतम्* (१५०५३; श. ब्रा. ८.६.३.२२)। ऋग्वेद में भी पितरों को युवा बनाने के अनेक प्रसंग आये हैं (१.२०.४; ४.३३.२; ३५.५ इत्यादि) जिनका उल्लेख आगे किया जाएगा। इस प्रस्तुत मंत्र की व्याख्या वेदार्थ करने की विविध शैलियों के अनुसार भिन्न भिन्न भी हो सकती है, किन्तु इतिहास मे तथा उसी से छनकर लोक साहित्य तक मे व्याप्त अनेकानेक संदर्भो के परिप्रेक्ष्य मे इसका अन्तरिक्ष यात्रा परक अर्थ ही अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है। प्राचीन इतिहास के ग्रन्थों–पुराणों मे श्री कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता बलराम की पत्नी रेवती के शर्यात वंशी पिता रेवत ककुद्मिन के सम्बन्ध मे कहा गया है कि एक बार वे अपनी पुत्री को साथ लेकर, यह पूंछने के लिए कि कौन सा वर इसके उपयुक्त है, ब्रह्मा के पास ब्रह्मलोक गए थे। वहां दो गन्धर्वो के विलक्षण गायन को मुहूर्त भर सुनने के बाद ब्रह्मा ने उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था कि यहां ब्रह्मलोक के मुहूर्त भर मे तो पृथिवी की अनेक चतुर्युगियां व्यतीत हो चुकी होंगी। अब वापस लौटकर यह कन्या, अपने बताये हुए व्यक्तियों के न रहने पर, बलराम को देना। और रेवत ककुद्मिन युवा ही लौट आए थे — *मुहूर्तं भूतं देवस्य गतं बहुयुगं प्रभो। आजगाम युवैवाथ स्वां पुरीं यादवैर्वृताम* (वि. पु. ४.१.६५)। इसी प्रसंग मे भागवत पुराण में *'निरुद्धास्ते कालेन'* का सार्थक कथन भी मिलता है (६.३२.)

आज हम जान गये है कि प्रकाश की गति के ६६ प्रतिशत वेग से चलने वाले अन्तरिक्ष यान के यात्रियों के १४.१ वर्ष व्यतीत होने की अवधि मे पृथ्वी पर सौ वर्ष पूरे हो चुके होंगे। आज अन्तरिक्ष यान की गति का आकलन 'एकरेट' के समीकरण से किया जाता है और अन्तरिक्ष यान तथा पृथिवी के कालमान का अन्तर 'लोरेन्त्ज़' के समीकरण से ज्ञात किया जाता है (डानिकेन १६७६–१:२२–२३)। मेयेर ने अन्तरिक्ष यान के समय की तुलना करने के लिए निम्न तालिका प्रस्तुत की है (डानिकेन १६८० : २ : ५०) :

अन्तरिक्ष यान के वर्ष	पृथ्वी के वर्ष
१	१.००
२	२.१०
५	६.५०
१०	२४.००

१५	८०.००
२०	२७०.००
२५	६१०.००
३०	३१००.००
३५	१०६००.००
४०	३६०००.००
४५	१२१०००.००
५०	४२००००.००

इतना ही नहीं, रूस के विज्ञान संस्थान के प्राचार्य क.प. स्तन्युकोविच की गणना के अनुसार 'तैच्योन', जो प्रकाश की गति से कई गुना अधिक वेग से चलते है, की सहायता से चलने वाले अन्तरिक्ष यानों के यात्रियों के पैसंठ वर्ष पृथिवी पर व्यतीत हुए पैंतालिस लाख वर्षो के बराबर होगें (डानिकेन १९७६-२:२२-२३)

अन्तरिक्ष यान में आरूढ़ होकर यात्रा करते हुए ब्रह्मालोक जाकर दैवी संगीत सुनना और ब्रह्म–प्रजापति से अपनी कन्या के लिए सुयोग्य वर पूंछना तो कल्पना का विषय हो सकता है, किन्तु एक बार वहां पहुंच जाने पर 'काल के निरुद्ध हो जाने' जैसा तथ्य, जिसे जानकर आज का वैज्ञानिक फूला नहीं समा रहा है, निश्चित ही कल्पना की कोरी उड़ान नहीं हो सकता है। अतः यह स्वीकार करना ही होगा कि किसी अन्य ग्रह से कभी देव पृथिवी पर आए थे और उन्होंने अन्तरिक्ष यात्राओं के सम्बन्ध से ही इस सत्य के दर्शन किए थे। देवों की कृपा से ही अनेक पृथिवी वासियों ने भी ऐसी अन्तरिक्ष यात्राएं की होगी और उस अवधि में उन के शरीरों पर काल का क्षीण करने वाला प्रभाव पड़ना स्थगित रहा होगा और वे रेवत ककुद्मिन की तरह युवा ही लौट आए होंगे। इसी व्याख्या को स्वीकार करके ही पूर्व उद्धृत मंत्र (२:२५:२) में "अपने पुत्र पौत्रों से भी अधिक जीवित रहने" की सार्थकता समझ में आने लगती है।

(८) सशरीर स्वर्गारोहण :

यहां एक प्रश्न किया जाएगा कि क्या वेंदों और उसके आनुषंगिक साहित्य में सशरीर स्वर्ग जा सकने की किसी मान्यता का उल्लेख या संकेत उपलब्ध है? हमारा विश्वास है कि इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया जा सकता है। स्वर्ग जाना और वहां से लौटकर पृथ्वी पर प्रतिष्ठित होना, पैग़म्बरी परम्परा की योगभ्रष्ट रुग्ण मानसिकता की तरह, निठल्ले की कल्पना नही थी। यह भी असंभव नही है कि पैग़म्बरी प्रथा की ये बातें विकृत वैदिक परम्परा की सुनी सुनाई बातों पर ही आधारित रही हों और रुग्ण मानसिकता वाले चतुर, किन्तु स्वार्थी, व्यक्तियों ने अपने परिवेश में प्रतिष्ठा पाने के लिए इन अनुश्रुतियों को अपने पर आरोपित कर लिया हो। सुमेरी सुपर्ण तथा बाइबिल के विभिन्न यांत्रिक उपकरणों (याजेहकेल-सीढ़ी, उत्पत्ति २८:१२ तथा मेघ) को छोड़ कर, पैग़म्बर मुहम्मद का वैदिक परम्परा में बहुचर्चित अश्व का ही उपयोग करना भी इसी सम्भावना की ही पुष्टि करता है। बाद के युगों में जब

लोग देवयान तथा ऋषियों के उत्क्रमण (यास्क १३.१२) के सत्य को काल के दुःसह प्रभाव से भुला बैठे थे, तब देवों के आने और उन तक जाने की बातें मात्र कल्पना का ही विषय होकर रह गयी थी।भूलने की इस प्रक्रिया के किसी अज्ञात क्षण मे रहस्यवाद का जन्म हुआ होगा और तभी से "अब जो हिंसा का त्याग कर, ज्ञान का आश्रय लेकर, महान तप तपते हैं अथवा जो ज्ञानोक्त कर्म करते है, वे अर्चि—अग्नि, ऊर्जा और शक्ति प्राप्त कर लेते है। उससे आदित्य को, फिर आदित्य से वैद्युत स्थान को और वहा से मानस (लोक—इच्छित स्थान—स्वर्ग) को प्राप्त कर लेते है। वे फिर इस लोक मे नही लौटते हैं", जैसे विशुद्ध अन्तरिक्ष यात्रा विज्ञान सम्बन्धी चर्चा के अन्त मे "बचे हुए लोग सर्प योनियो मे जाते है क्योंकि वे इसको नहीं जानते" जैसा पौराणिक विवरण जोड़ा जाने लगा था (यास्क १५.६)। ऊपर राक्षसों के भय से देवों के लिए अग्नि द्वारा स्वर्ग का नीचे की ओर का द्वार बन्द किए जाने का उल्लेख किया जा चुका है। अब इसी स्वर्ग के तप और श्रद्धा के साथ ही सत्य, मन और दान आदि पांच (तै. ब्रा., ३.१२.४.७) या सात (वही ३.१२.२.६) द्वारों की बात भी कहीं जाने लगी थी। उत्तर मध्यकाल में *'तस्मादश्वमेधयाजी जरसा विस्रसाऽमुंलोकमेति'* (वही ३.८.२१.५) अर्थात "इस प्रकार अश्वमेध करने वाला वृद्धावस्था को छोड़ता हुआ उस स्वर्ग लोक में पहुंचता है" जैसे निर्दोष वाक्यों की व्याख्या में सायण को *"अतएवायमश्वमेधयाजी बाल्ये यौवने वा न म्रियते। किन्तु जरसा युक्तः सञ्शनैर्हस्तपादादि विस्रंसनेन मृत्वा स्वर्ग प्राप्नोति"* अर्थात "अश्वमेध करने वाला बचपन और यौवन में नहीं मरता। वह पूर्ण आयु भोग कर वृद्धावस्था में सभी अंगो के साथ मर कर स्वर्ग प्राप्त करता है" लिखना पड़ा था।

सत्य के सत्यापन में अपनी अक्षमता के कारण असमर्थ और स्वहित साधन में सतत तत्पर याज्ञिक गण रहस्यवाद का आश्रय लेकर मूढ़ किन्तु श्रद्धालु जनता को मार कर उसे स्वर्ग पहुंचाने का आश्वासन देकर, अपनी उदरपूर्ति की व्यवस्था करने में तन मन से जुटे रहे थे। परन्तु सौभाग्य से, उनकी इन रहस्यवादी उठापटक के बाद भी, हमें कुछ प्रमाण मिल ही जाते हैं जिनसे सशरीर स्वर्ग जाने की यात्राओं का सत्य उद्‌घाटित हो ही जाता हैं। जब यजमान कृष्णाजिन पर चढ़ते हुए कहता है कि *"ज्योतिरभूवं सुवरगमम्। सुवर्गं लोकं नाकस्य पृष्ठम्। ब्रध्नस्य विष्टपमगमम्"* (तै. ब्रा. . ३.७.७.४), तब वह निश्चित ही मर कर नहीं, वरन अन्तरिक्ष यात्रा में वृद्धावस्था को पीछे छोड़ते हुए , सशरीर ही उस लोक में पहुंचने का अभिनय कर रहा होता है (वही ३.८.२१.५)। अभिनीत घटना में तो हिरण्यमय हंस होकर अर्थात हंस के आकार के यान में बैठकर ही स्वर्ग लोक पहुंच जाता था — *हंसो ह वै हिरण्मयो भूत्वा। स्वर्गं लोकमेति* (तै. ब्रा., ३.१०.६.१०)। वह जीवित ही स्वर्ग लोक पहुंच जाता था — *जीवो जीविष्यन्त्स्वर्गो लोकः* (वही ३.१०.१३)। और, जो एसा (करना) जानता है, वह सशरीर ही स्वर्ग पहुंच जाता है — *य एवं वेद। सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति, इति* (वही ३.११.७.३)।

६. याज्ञिक कर्मकांड : देवयान यात्राओं का मंचन :

देवों, देवयानों और उनसे सम्बन्धित विविध विषयों का उल्लेख और विश्लेषण किया जा चुका है। यह भी बताया जा चुका है कि स्वर्ग वापस जाते समय देवों ने, मनुष्यों के न जान पाए जाने के लिए ही, अपने अप्रयुक्त यज्ञ– यान – संसाधनो का रस चूस कर, उन्हें छिपा दिया था और छिपाने के स्थान को चिह्नित कर दिया था। इतना करने पर भी उन्होंने स्वनिर्मित मनुष्य को सर्वथा निराधार नही छोड़ा था। महर्षि यास्क ने लिखा है कि "देवताओं और ऋषियों के उत्क्रमण के समय मनुष्यों ने उनसे *'को नः ऋषिर्भविष्यतीति'* पूछा था। इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने मनुष्य की भावी प्रगति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए *तेभ्यं एतं तर्कमृषिं प्रायच्छत* –उन्हें तर्क बुद्वि का आश्रय ग्रहण करने की सम्मति दी थी (१३.१२)। उनके चले जाने बाद मनुष्यों ने उन्हीं के चरण चिन्हों पर चल कर देवत्व प्राप्त करने की इच्छा से देवों का अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया था। आंख, कान आदि इन्द्रियों में समान होते हुए भी, प्रत्येक व्यक्ति मनोवेगों में असमान ही होता है – *अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः* (१०.७१.७)। इसी से व्यक्ति व्यक्ति की बुद्वि, ग्रहण सामर्थ्य, में अन्तर होता है। प्रारम्भ में कुछ समझ कर और कुछ अनुमान से ही देवों का अनुसरण किया जाने लगा था। कुछ इसलिए कि देव ऐसा करते थे और कुछ इसलिए कि हमारे ऐसा करने से वे प्रसन्न होंगें और हम उनके सहभागी होकर उन तक पहुंच जाएँगें – *तेष्वपित्वी भूत्वा तानेवभिप्रक्रमति* (श. ब्रा. १६.३.८) और हमारी कामनाएं सत्य हों जाएंगी– *सत्या सन्तु यजमानस्य कामाः*। इसी अनुकरण के आधार पर लोक में यज्ञों का प्रवर्तन हुआ था (पं. युधिष्ठर मीमांसक १६७७:१६) और इसी अनुकरण के फलस्वरुप – *तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा* – नाट्य विद्या का प्रारम्भ हुआ है (भरतमुनि, नाट्यशास्त्र १:५७–६०)। यह सत्य हृदयगम कर लेने पर यज्ञों की अनेक विधियां, जिन्हें आज के युग के सन्दर्भ में बालिश, भद्दी, भोंड़ी और निरर्थक समझा जाने लगा है, मानव के सांस्कृतिक इतिहास के प्रारम्भिक विस्मृत किन्तु, अमूल्य क्षणों को जीवन्त कर देने में सक्षम प्रतीत होने लगती हैं।

कहा गया है कि "जिस यज्ञ को देवों ने हमसे छिपाया था, उसी को करते हुए अग्नि हमारी रक्षा करे और हम इसे भली भांति पूर्ण कर सकें"–*ये देवा यज्ञहनो यज्ञमुपः...अग्निर्मा तेभ्यो रक्षतु गच्छेम् सुकृतो वयम्* (तै.सं. ३.५.४.१)। यज्ञ के एक विशेष कर्म का औचित्य समझाते हुए कहा गया है कि देवताओं ने चाहा था कि पत्नियां भी साथ ही स्वर्ग लोक को चलें परन्तु वे स्वर्ग लोक को पहचान नही सके थे। तब उन्होंने इस 'पत्नीवत' ग्रह को देखा – विचारा और उसे ग्रहण किया। इसके बाद ही वे स्वर्ग को पहचान सके थे (तै. सं. ६५८१-२) और पत्नियों के साथ स्वर्ग लोक चले गये थे। इसी घटना का अभिनय कराते हुए यज्ञ में यजमान से कहलवाया जाता है –'जाया, आओ, आओ, स्वर्ग में। हम दोनों स्वर्ग लोक को चढ़ें। मैं हम दोनों के लिए ही, स्वर्ग का आरोहण करूंगा।' आगे फिर यजमान कहता है –'हम स्वर्ग में देवों के पास पहुंच गए है। हम अमृत हो गए है, हम अमृत हो गए है, हम प्रजापति की प्रजा (में सम्मिलित) हो गए हैं' (तै सं. १.७.६.२. तै ब्रा. १.३.७.२)। अब पत्नी कहती

है —मै वरुण के इन पाशों को, जिन्हें प्रज्ञावान सवितृ ने बांधा है, शिथिल करती हूं और प्रजापति के लोक—स्वर्ग—में जहां शुभ कर्म ही किए जाते है, अपने पति के साथ आकर आन्नद भोग करती हूं (तै. सं. ३.५.६.१–२)। इससे मिलता जुलता ऋग्वेद का एकं मंत्र आजकल विवाह संस्कार के केश विमोचन प्रसंग में विनियुक्त होता है (१०. ८५.२४: संस्कार विधि १६७४-७६)। यूं तो संसार के सभी बंधनों को सवित् प्रसूत वरुण के पाश कहा जा सकता है, परन्तु विवाह विधि में केश विमोचन के प्रसंग में इसका विनियोग मात्र औपचारिक ही प्रतीत होता है। यहां, जब पति के स्वर्ग जाने का अभिनय किया जा रहा है, *'वरुणस्य पाशं यमबध्नीत सविता सुकेतः'* कहना और फिर *'धातुश्च योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं मे सह पत्या करोमि'* कहे जाने से सूर्य के कारण उत्पन्न पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की सीमा का अतिक्रमण करते हुए प्रजापति के लोक—स्वर्ग—में पहुंच कर सुखी होना अधिक संगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार वाजपेय यज्ञ में सीढ़ी लगाकर यूप पर चढ़ते हुए यजमान द्वारा पत्नी को स्वर्ग चलने के लिए कहलवाया जाता है। पत्नी की स्वीकृति मिल जाने पर यजमान कहता है —' हे देवों, हम स्वर्ग को प्राप्त हो गए है।' अब सिर के बराबर यूप पर चढ़ता है और कहता है— 'हम अमर हो गए हैं' (यजु ९.२१)। इस प्रकार यजमान और उसकी पत्नी, दोंनों ही स्वर्ग लोक पहुंच जातें हैं (श. ब्रा. ५.२.१.१०–१४)। अब वह ऊपर से नीचे भूमि पर दृष्टिपात करते हुए कहता है — 'पृथिवी माता के लिए नमस्कार। पृथिवी माता के लिए नमस्कार ' (यजु ९.२२)। अब वह स्वर्ग पर चलता हुआ अमृत जीवन को प्राप्त हो जाने, स्वयं प्रजापति हो जाने — *प्रजापतिर्मैवैतत्करोति* (श. ब्रा. ५.२.१.१८–२४) की घोषणा करता है।

यज्ञ की अनेक विधियों में से एक में यजमान "विष्णु के पदों से इसलिए चलता है कि विष्णु यज्ञ है। उस यज्ञ में देवों के लिए इस विक्रान्ति को प्राप्त कर लेता है, जो इस समय भी उनके पास है। पहले पग से इस पृथिवी को, दूसरे से अन्तरिक्ष को और तीसरे से द्युलोक को प्राप्त कर लेता है। यज्ञ विष्णु यजमान के लिए इस शक्ति को प्राप्त करा देता है। अब इस पृथिवी के बहुत ऊपर चलते है" *तस्माद्विष्णुक्रमान्क्रमते तद्वाऽइत एव पराचीनं भूयिष्ठा इव क्रमते* (श. ब्रा., १.९.३.६)। इसी प्रकार रौहिण होम के समय भी ' मै विस्तृत अन्तरिक्ष में चलता हूं '— *उर्वन्तरिक्षमन्वेमि* ' (यजु १.७;३८. ३; श. ब्रा. १.१.२.४, १४.२.१.१५; क.क.सं., ११६) कह कर देवों की तरह, अन्तरिक्ष यान से बाहर निकल कर चलने का प्रतीक संयोजन किया जाता है। कृष्णाजिन पर चढ़ कर पढ़ा जाने वाला मंत्र तो ऊपर उद्धृत ही हो चुका है (तै.सं., ५.६.५.१)। अन्यत्र 'पर' ग्रहों से पहले पृथिवी, फिर अन्तरिक्ष और अन्त मे द्युलोक को जय करने—पहुंचने—की बात कर, फिर उन्हीं के सहारे इस लोक में उतर आना — *पुनरिमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति* (वही. ३.३.६.१–२) भी दिखाया जाता है। छंदों के सहारे भी इसी तरह क्रमशः चढ़ने और उतरने का उल्लेख हुआ है (ता. ब्रा.,१६.१२.७)। सूर्य, प्रजापति तथा उपरिनिर्दिष्ट अग्नि प्रतिरोधक वस्त्राच्छादन के अतिरिक्त छन्द का एक अन्य अर्थ 'अग्नि से उत्पन्न अश्व' भी होता था। अब यह अर्थ लुप्त हो गया है, परन्तु प्राचीन इतिहास के ग्रन्थों में—*'छन्दोंभिरश्वरुपैः' 'छन्दोभिर्वाजिन रुपैस्तु'* तथा *हयाश्च सप्त छन्दांसि* आदि कह

कर सुरक्षित बचा रह गया है (मीमासांक १६७६:५-७ पर उद्धृत पुराण वचन)।

लोकों की चर्चा के प्रसंग में अगले को पिछले से बड़ा कहा जाने का उल्लेख किया जा चुका है। चिति की चर्चा करते समय एक सहस्र, दो सहस्र तथा तीन सहस्र (आग्नेय) इष्टकाओं के प्रयोग से तय की जा सकने वाली दूरी भी इसी अनुमान को पुष्ट करती है।

देवों के चत्वाल से उत्क्रमण करने वाले यान के प्रतीक स्वरूप रखे गये (रथ) चक्र पर चढ़े हुए यजमान से स्वर्ग लोक चढ जाना कहलवाकर, उसके तेजस्वी और सम्पूर्ण हो जाने की – *हारायणं भवति, अच्छिद्रं भवति* – घोषणा करना भी सत्य घटना का अभिनय मात्र ही है (यजु १२.६३; श.ब्रा., ७.२.१.१०; ता. ब्रा., १८.७.१०; तै.ब्रा. १.६.३.६)। यजमान. को यजुर्वेद का मंत्र (२.२५) पढ़ कर इधर उधर देखना भी होता है, मानो वह स्वर्ग लोक ही पहुंच ही गया है। इसी प्रकार यजमान का स्वर्ण पर चलना भी उसके अनृण होकर ही स्वर्गोपभोग करने का प्रतीक कहा गया है (तै. सं. ३.३.८.४, श.ब्रा., ५.२.१.२०)। और अन्त में स्वर्ग पहुंचा हुआ यजमान देवयान के ऊर्जा स्रोत अग्नि से 'अपने तप से वंचित न करने' – *माच्छित्सि यत्ते तपस्तस्मै ते माऽऽवृक्षि* – (तै. सं., १.६.६.१) प्रार्थना करके, यजुर्वेद का मंत्र (२.२६, श. ब्रा., १.६.३.१४.२०) पढ़ता हुआ सूर्य के मार्ग से – *सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते* – पृथिवी पर लौटने का अभिनय करता है।

• • • • • • • • • •

३. सृष्टि विज्ञान

३. सृष्टि विज्ञान

ऊपर प्रस्तुत किए गए तथ्यों और उनके विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि देव किसी दूसरे ग्रह पर विकसित हुई अत्युन्नत वैज्ञानिक सभ्यता से आए हुए अन्तरिक्ष यात्री ही थे। अब तक जो कुछ भी कहा गया है वह उनकी उन्नत प्रौद्योगिकी का उपलक्षण है। परन्तु जब किसी समाज में विज्ञान का विकास होता है, तो वह एकांगी न होकर बहुमुखी ही होता है। एकांगी विकास कुछ काल के लिए तो हो सकता है, मगर उससे समाज का सर्वांगीण विकास नही होता। अतः अगले कुछ पृष्ठों में हम उनकी सृष्टि, काल और ज्योतिर्विज्ञान, और आयुर्विज्ञान सम्बन्धी स्थापनाओं का आकलन प्रस्तुत करते हुए, देवों के विज्ञान के बहुमुखी विकास का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगें।

१.प्रयोग धर्मा अनुमान :

वेदों और उनकी अनुगामिनी आर्ष परम्परा में सृष्टि और उनके साथ की प्रकट हुए वेद–ज्ञान, दोनों ही को अनादि और अनन्त – *अनन्ता वै वेदाः* (तै. ब्रा. ३.१०.११४) कहा जाता है। पहले को यदि क्रिया पक्ष कहा जाए, तो दूसरे को उसका सिद्धान्त पक्ष कहना होगा। एसी भी मान्यता है कि सभी शास्त्र वेद से ही निकले है – *निःसृतं सर्वशास्त्रंतु वेद शास्त्रात् सनातनात्* (बृहदयोगियाज्ञवल्क्य स्मृति से स्वामी विद्यानन्द सरस्वती १९८८:१८३ पर उद्धृत)। परन्तु वेदों में कहीं भी किसी विषय का ब्योरेवार विवरण न होकर, उसका बीज रूप में ही कथन मिलता है। यूं तो सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों की विभिन्न रूपकों के माध्यम से हुई मीमांसा वेदों में सर्वत्र ही बिखरी मिलती है, परन्तु उसके कथन में शैली गत भेद होते हुए भी, कहीं कथ्य की एकरूपकता भंग नहीं होती है। इस शैलीगत भेद का कारण विभिन्न मनीषियों द्वारा दृष्टार्थ को *'मनोजवेष्वसमा'* व्यक्तियों को हृदयंगम करा सकने के लिए विभिन्न उदाहरणों का प्रयोग ही प्रतीत होता है। उन आद्य मनीषी ऋषियों ने स्वीकार किया है कि इस विषय में वास्तविकता को इस सब का नियन्ता सर्व व्यापक परमात्मा ही जानता है – *यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्गवेद* । उसके अतिरिक्त और कौन इस विषय में कह सकता है? इस विषय मे गम्भीर विचार करने वाले विद्वान सर्ग काल के अनन्तर ही उत्पन्न होते हैं – को *अद्धा वेद क इह प्रवोचत... अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन*। केवल क्रान्तदर्शी ऋषि लोग ही अपने अन्तःकरण में विचार कर अथवा विचारपूर्ण बुद्धि के द्वारा ही व्यक्त मेंअव्यक्त को जान लेते है – *सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ...* (१०.१२६.७,६ और ४)। इस पूरे कथन का स्पष्टार्थ यही है कि सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी यह सारी की सारी ऊहापोह विद्वान चिन्तकों की गवेषणाओं द्वारा उपलब्ध कराए गए तथ्यों के आधार पर अनुमान प्रमाण से निकाले गए सुचिन्तित और तार्किक निष्कर्ष ही है। इस प्रकार तार्किक चिन्तन *अस्यावामीय* (ऋ.१.१६४), पुरुष (१०.९०), *नासदीय* (१०.१२९) और *अघमर्षण* (१०.१९०) आदि सूक्तों में कुछ अधिक सुसंबद्ध रूप में प्रस्तुत हुआ है।

२. ब्रह्माण्ड :

नासदीय सूक्त में कहा गया है कि सर्ग के पूर्व जब अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों ही नहीं थे, तब भी एक परमचैतन्य स्वरूप परमात्मा था — *आनीदवातं स्वधया तदेकं* — और "यह सब दृश्यमान जगत प्रत्येक चिह्न से रहित, कारण के साथ अविभागापन्न अर्थात संश्लिष्ट था। वह मूल कारण (प्रकृति) भी अन्धकार से आवृत था। कार्य को अपने अन्दर छिपाए हुए, कारण के साथ एकीभूत वह जगत सर्ग काल में तेजोमय चेतना की सामर्थ्य से उत्पन्न हो जाता है" (१०.१२९.१-३)। मनुस्मृति में भी यही तथ्य कुछ इस प्रकार कहा गया है—"यह सब जगत कभी अन्धकार स्वरूप था। 'यह क्या था'? कुछ भी नही ज्ञात होता था। ज्ञान का कोई साधन भी नही था। तर्क की भी वहां पहुंच नहीं थी। वह अविज्ञेय सब ओर सोया पड़ा था।" (१.५)। उस समय केवल (परम) आत्मा ही था, किसी अन्य में कोई गति नहीं थी — *आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत नान्य किञ्चिनमिषत्* (ऐ.उ. २.१)। एक अन्य मंत्र में सर्वव्यापक तत्व 'आप' के गर्भ में विश्व के धारण किए जाने का कथन हुआ है — *आपो ह यद् बृहती विश्वमायन्गर्भं दधाना* (१०.१२१.७; ८२.८)। इसे ही सर्ग के आदि में विद्यमान 'हिरण्यगर्भ' भी कहा गया है (१०.१२१.१)। पुरुष सूक्त में उस अमृत पुरुष, परम चैतन्य स्वरूप परमात्मा, जिसके एक अंश में ही पुनः पुनः उत्पन्न होकर नाश अर्थात व्यक्त से अव्यक्त होने वाले समस्त भूत स्थित हैं, से विराट के उत्पन्न होने का भी कथन हुआ है (१०. ९०.३-५)। इसी विराळ के दैवी यज्ञ की सात परिधियों में इक्कीस समिधाओं का प्रज्वलित होना भी बताया गया है (१०.९०.१५; अथर्व १९.६.१५; देखें - १.२२.१६; १०.१२२.३ इत्यादि)। इसी को *'सर्वहुत'* यज्ञ (१०.९०.७-९) तथा इतिहास ग्रन्थों में *'महा मख सर्वमेध'* तथा इसके कर्त्ता सर्वव्यापक अमृत पुरुष स्वयंभू ब्रह्म को विश्वरूप महादेव कहा गया है (म.भा. १२.८.३६, २०७.३)। यहां इस यज्ञ से तात्पर्य है प्रकृति के सत्व, रजस् और तमस् — इन तीन गुणों के न्यूनाधिक्य से उत्पन्न होने वाली सृष्टि के व्यक्तीकरण की वह प्रक्रिया है, जिससे अव्यक्त की शान्ति भंग होती है, उसमे क्षोभ उत्पन्न होता है और सृष्टि का विस्तार होने लगता है। यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि वेद के इन्हीं सन्दर्भ सूत्रें को पकड़कर, उनका व्याख्यान करते हुए ही वैशेषिक और सांख्यादि शास्त्रों की रचना हुई है, जिनमें सूक्ष्म से लेकर स्थूल भूतों तक की वैज्ञानिक विवेचना करते हुए चेतन तत्व ब्रह्म, त्रिगुणात्मिका प्रकृति और उसके इक्कीस विकारों का परिगणन किया गया है (सांख्यदर्शन १.२६)।

अन्यत्र, इसी तथ्य को एक रूपक के माध्यम से समझाते हुए कहा गया है कि "विश्व की शक्ति के अभिमानी देवता पहले सद्रूप कारण में लीन प्रकृति की साम्यावस्था—सलिल (*'सत्ता लक्षणे कारणात्मनिलीनम्' अथवा 'सद्भावेलीनं सद्रूपं कारणेलीनः'*— यास्क ७.३ पर क्रमशः स्कन्द और दुर्ग का भाष्य) में स्तब्ध पड़े हुए थे। उनमें क्षोभ उत्पन्न हुआ और उन्होंने नृत्य किया। उस नृत्य से जो तीव्र धूलि उड़ी थी, वही तो यह सब पार्थिव विश्व है "(१०.७२.६)। निश्चय ही इसी मंत्र के आधार पर ही विश्वरूप महादेव के नटराज स्वरूप की कल्पना विकसित हुई है। एक अन्य मंत्र में ब्रह्मणस्पति के सर्ग पूर्व की अव्यक्त अवस्था से सृष्टि के व्यक्त होने की उपमा

लोहकार द्वारा अपनी धमन—भट्ठी पर कार्य करते हुए विविध रूपों के गढ़ने की प्रक्रिया से दी गई है (१०.७२.२. अथर्व १३.२.२६; क.क.सं., २८.२)। ग्रीस की अनुश्रुतियों में बहुचर्चित देवों 'प्लूटो' और 'वल्कन' की कथाओं मे इस कल्पना की छाया देखी जा सकती है।

इन्हीं प्रसंगों की ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ अधिक विस्तार से चर्चा हुई है। "सर्ग के पूर्व सभी कुछ को अपने में लीन रखने वाला 'सलिल' ही था। उसने संकल्प किया। उसके तप से अर्थात् उसमें परमाणुओं के क्षुभित होने से उत्पन्न ऊर्जा से हिरण्यमय अण्ड उत्पन्न हुआ। वह ब्राह्म संवत्सर पर्यन्त घूर्णित *(पर्यप्लवत)* (श.ब्रा. ११.१.६.१–२) गति करता हुआ अन्धतमिस्रा में रेंगता रहा" (*प्रासर्पत*–ता.ब्रा. १६.११; ४.१.४ अथवा *समैषत*–जै.ब्रा. ३.३६०)। इसी तथ्य को अन्यत्र 'सभी कुछ को अपने में लीन रखने वाले सर्वव्यापक तत्व में *'आनीदवातं स्वधया तदेकं'* प्रजापति *'वायुर्भूत्वाऽचरत्'* कह कर भी (तै. सं. ७.१.५.१) समझाया गया है। इस कथन की स्पष्ट छाया बाईबिल पर पड़ी है, जहां परमात्मा को "जल के ऊपर मंडलाता' बताया गया है (उत्पत्ति १.२)। इसी हेमवर्ण और सहस्र सूर्यो के समान प्रभावान अण्ड से ब्रह्म संवत्सर के अन्त में 'पुरुष' (पिण्डों?) का उत्पन्न होना गया है (मनुस्मृति १.६)। आदि में उसके साथ 'वाक' ही थी (ता. ब्रा., २०.१४.२; तै.ब्रा., २.४.६.११; ८.८.५)। इसने व्याहृतियों का उच्चारण किया और 'भूः' से पृथिवी, 'भुवः' से अन्तरिक्ष तथा 'स्वः' से द्युलोक अस्तित्व में आ गए थे (१०.७२.४; श. ब्रा., ११.१.६.३–४; ता.ब्रा., २०.१४.५)। बाइबिल (उत्पत्ति १.४ और) में भी इसी मान्यता की कुछ विकृत अनुगूंज सुनाई पड़ती है।

इस हिरण्यगर्भ महदण्ड के फटने (मनुस्मृति १.११–१२) से उत्पन्न हुए द्यावा पृथिवी को *'जामी सयोनी मिथुना समोकसा'* कह कर 'नया नया ही अन्तरिक्ष समुद्र में फैला हुआ' कहा गया है (१.१५९.४)। अन्यत्र इन्हें संसार के मध्य के आकर्षण को स्वीकार करके — *अभिजिघ्रन्ती भुवनस्य नाभिं* — माता पिता की गोद में खेलती हुई दो समवयस्का जुड़वा बहनों जैसा — *स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे* — कहा गया है (१.१८५.५)। एक अन्य मंत्र में इन्हें 'समान स्वभाव वाली युवती बहनों के समान वर्तमान' कह कर 'दूर जाती हुई' —*वियुते दूरे*— भी कहा गया है (३.५४.७)। इसी द्यावा पृथिवी की एक संयुक्त संज्ञा 'रोदसी' भी है (निघण्टु ३.३०)। इस *'रोदसी'* को अनेक स्थानों पर *'आ तनोत'* (२.१७.४), *'आ ततन्थ'* (६.४.६,७.५.४), *'आ ततान'* (५.१.६), *'चक्रिरेवृधे'* (१.८५.५), *'बद्बधे'* (७.६१.४) तथा *'अभ्यसेत'* (२.१२.१) आदि क्रियापदों के प्रयोग से क्रमशः दूर होने जाने का भाव भी व्यक्त किया गया है। अन्यत्र भी सभी ग्रह—नक्षत्रों के प्रसार क्षेत्र द्यावा के निश्चय पूर्वक कभी पृथिवी के साथ रहे होने की बात भी कही गई है (तै.सं.,३.४.३.१.,५.३.३.३., ऐ.ब्रा., ४.१६.५., श.ब्रा., १४.१.२२.,७.१.२.२३., ता.ब्रा., ७.१०.१.२.,८.१.६., जै.ब्रा., १.१४५ इत्यादि)

यह भी कहा गया है कि कभी सूर्य भी यहीं था। उसे यहां से ऊपर उस लोक में चढ़ाया गया था (१०.६२.३.,१७.३., तै. सं., ७.३.१०.१., मै.सं., १.११.१७.,३.६.३)। अन्यत्र इसी बात को समझाते हुए कहा गया है कि "पहले सूर्य मानों वहां था जहां चत्वाल है और पृथिवी मानों वहां थी जहां अग्नि है। वह सूर्य इस सबको जला रहा था। उस प्रदाह से देवता

डरे और उन्होंने उसको दूर करने का निश्चय किया "(जै. ब्रा. १.८१)। यह भी बताया गया है कि ये एक एक दिनों में एक एक 'शम्या' मात्र दूर हो रहे थे — *द्यावा पृथिवी सहाऽऽस्ताम्। ते शम्यामात्रमेकमह व्यैता शम्यामात्रमेकमहः* (तै. ब्रा. ३.२.६.२)। ज्योतिष ग्रन्थों में शम्या का माप छत्तीस अंगुल कहा गया है। काठक संहिता में वज्र को ही शम्या — *वज्रश्शम्या* (३१.५) — कहा गया है और अन्यत्र यूप को ही वज्र भी कहा गया है। यहां निश्चित ही छत्तीस अंगुलों अथवा सत्रह से इक्कीस अरत्नि की दूरी का अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता है।संभव है कि यहां एक दिन में यूप अथवा वज्र द्वारा पार की जा सकने वाली दूरी से अभिप्राय हो। जो कुछ भी हो, इन सबका कभी पास पास होना और फिर क्रमशः दूर होते जाना, जो कि आज के वैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध हो चुका है, तो कहा ही गया है। यह भी कहा गया है कि इनके दूर चले जाने के बाद, प्रदाह कम हो जाने पर ही, पृथिवी पर जीवन का विकास सम्भव हो सका था — *अप्रथतं जीवसे नो रजांसि* (६.६६.३)।

वेद के एक रूपक का भी इसी आद्य विस्फोट से घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। इन्द्र द्वारा वृत्र वध के कथानक में यास्क से लेकर आज तक के सभी व्याख्याकारों ने मेघ अथवा हिमीभूत जल राशि को सूर्य के ताप से पिघला कर जलों को मुक्त करा कर जल धाराओं को प्रवाहित करने का ही अभिप्राय पंढ़ा है। परन्तु इस रूपक में 'आप' अथवा 'सलिल' नामक जलों को रुद्ध रखने वाले बाह्य दबाव अर्थात् वृत्र—घेरने वाला, परिधि—नामक गुरुत्वाकर्षण और इन्द्र संज्ञक चेतन तत्व के प्रसार पाकर *'एकोऽहम् बहुस्याम्'* अर्थात विस्तृत होने की कामना का निरन्तर चक्र गति से चलने वाला संघर्ष देखना वेदार्थ शैली के विरुद्ध नहीं है। माना जाता है कि 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'। यह भी बारम्बार दुहराया गया है *'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'*। तब वेद के इस रूपक में नित्य प्रति वर्षानुवर्ष मेघ अथवा हिम से जलों के रुद्ध किये जाने और फिर सूर्य के ताप से पिघल कर जलों के बहने के प्रत्यक्ष सत्य को पढ़ने का ही इतना आग्रह क्यों ? हमें तो इस कथा में 'अन्तःकरण में विचार कर अथवा बुद्धि के द्वारा ही व्यक्त से अव्यक्त अथवा कार्य से कारण का अनुमान कर लेने वाले' मनीषियों द्वारा आद्य विस्फोट के परोक्ष सत्य का दर्शन निगूहिति करने का ही प्रयास दिखाई देता है।

हिरण्यगर्भ, हिरण्याण्ड में हुए आद्य विस्फोट से ही सृष्टि की रचना प्रक्रिया का प्रारम्भ होने की इस वैदिक मान्यता की आज के वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत रचना प्रक्रिया से अद्भुत समानता है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आज की सभी आधुनिक कही जाने वाली मान्यताएं ईस्वी सन १९२९ से एडविन पी. हुब्बल नामक अमरीकी ज्योतिर्विद द्वारा प्रतिपादित आकाश गंगाओं के निरन्तर दूर होते जाने के सिद्धान्त पर आधारित हैं। बेल्जियम में ब्रसेल्स के गणितज्ञ और ज्योतिर्विद पादरी ज्यार्ज लेमैन ने प्रतिपादित किया था कि अरबों वर्ष पूर्व ब्रह्माण्ड के सभी तत्व एक मूल आणविक पिण्ड में घनीभूत होकर स्थित थे। अन्ततः अपने आन्तरिक विक्षोभ और उससे उत्पन्न दबाव के कारण इस पिण्ड में विस्फोट हुआ था। और इसके अरबों खण्ड दिक्काल में बिखर गए थे। इन्हीं के धीरे—धीरे ठंढा होकर जमते जाने से ही अनेक

आकाश गंगाओं और उनमें स्थित असंख्य ग्रह —नक्षत्रों का जन्म हुआ है। रूसी मूल के प्राचार्य ज्यॉर्ज गामोव ने इसी को 'बृहत् विस्फोट' (BIG BANG) का नाम दिया है। टामस गोल्ड, हर्मन बोन्डी और अब फ्रेड होयले जैसे ज्योतिर्विदों ने 'सतत् रचना' का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहा था कि पुराने तत्वों से बने इन नक्षत्रपिण्डों के दूर होते जाने से रिक्त हुए स्थान को भरने वाले नए नए पिण्डों का जन्म होता रहता है और इस प्रकार दिक् का घनत्व स्थायी रहता है। परन्तु अब इस सिद्धान्त के स्थान पर सृष्टि की 'चक्रगति' का सिद्धान्त सर्वसम्मति से समादृत हो गया है। इसके अनुसार स्पंदित ब्रह्माण्ड मूल घनीभूत अणु—पिण्ड की स्थिति से, विस्फोट के कारण, फैलता है और फैलता ही जाता है। एक निश्चित अवधि के बाद, ऊर्जा के चुक जाने पर, सिकुड़ना प्रारम्भ होकर पुनः मूल अणु की घनीभूत अंवस्था लौट आती है। यह 'समञ्चन—प्रसरण' निरन्तर चक्रगति से होती रहने वाली प्रक्रियाएं हैं (मनोरमा इयर बुक १९९२:८३-८८, डानिकेन १९७५:२२५)

इन ग्रह पिण्डों से उत्सर्जित प्रकाश की मात्रा — डोप्पलर प्रभाव—की माप करने पर ज्ञात हुआ है कि ये पिण्ड अभी भी २९७९०० किलोमीटर प्रति सेकंड की गति से दूर होते जा रहे हैं। यह भी अनुमान किया गया है कि चार अरब वर्ष पूर्व चन्द्रमा पृथिवी के अत्यन्त निकट अर्थात मात्र ४८०० किलोमीटर दूर ही था और तब केवल चार घंटों में ही पृथिवी की एक परिक्रमा पूरी कर लेता था (रिवन्लेटंन १९५८:२७) प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड की वय साठ से सौ अरब वर्षों के बीच मानी जाती थी, किन्तु नवम्बर १९७१ में कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के ज्योतिर्विज्ञान के प्राचार्य ज्यॉर्ज आबेल ने प्रथम संख्या को द्विगुणित करने के लिए प्रमाण प्रस्तुत किए थे (डानिकेन, वही: २२६)। अब ऍलन सैन्डेज आदि ज्योतिर्विद स्वीकार करने लगे हैं कि आज से लगभग एक सौ बीस अरब वर्ष पूर्व हुए 'बृहत विस्फोट' के फलस्वरूप सृष्टि की उत्पत्ति होकर उसका विस्तार होना प्रारम्भ हुआ था और यह 'प्रसरण' अभी दो सौ नब्बे अरब वर्षों तक अबाध गति से होता रहेगा। तब ऊर्जा के चुक जाने पर, गुरुत्वाकर्षण शक्ति के आधीन ही 'समञ्चन' प्रारम्भ होकर, अगले चार सौ दस अरब वर्षों में पुनः मूल घनीभूत अणु पिण्ड की स्थिति आ जाएगी। यह चार सौ दस अरब वर्षों में होने वाला 'प्रसरण' और उतने ही वर्षोका 'समञ्चन' निरन्तर चक्र गति से चलता चला आ रहा है और आगे भी चलता रहेगा (मनोरमा इयर बुक १९९२:८८)। इसे ही वेद में *'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'* कह कर प्रसिद्ध किया गया है (१०.१९०.३)

(३) सौरमण्डल :

यद्यपि 'विराळ' के अनेक अर्थ हो सकते हैं परन्तु "आपकी जितनी द्यावा पृथिवी है और जितने सात समुद्र हैं उतने के नाश रहित सत्य ज्ञान को ग्रहण करने का सामर्थ्य बल स्वीकार करने" (यजु ३८.२६) की बात कह कर यहां सम्भवतः सौर मण्डल की चर्चा ही अभिप्रेत है। यद्यपि सूर्य भी अन्य नक्षत्रों की तरह एक नक्षत्र ही है — *नाना ह वा ऽ एतान्यग्रे क्षत्रण्यासुः। यथैवासो सूर्य एव* (श.ब्रा. २.१.२.१८), फिर

भी मनुष्य की आश्रय स्थली और कर्मभूमि पृथिवी का आधार होने के कारण उसे यूप कहा गया है जिसकी, आकर्षण शक्ति की रश्मियों से बंधकर, सारे ग्रह–उपग्रह परिक्रमा करते रहते हैं (१.१६४.१७;७.६६.३;८.१०१.१४; तै. सं; १.२.१३.१६; यजु ५.१६)। अतः यहां *'सप्त परिधयः'* और *'सप्त सिन्धवः'* से सात ग्रह और उनकी कक्षाओं–प्रदक्षिणा पथों का ग्रहण किया जा सकता है। यद्यपि आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान ने प्लूटो, नेप्च्यून और उरेनस को बहुत बाद में पहचाना है, वेदों में उपरोक्त सात ग्रहों के पथों के अतिरिक्त अर्यमा, वरुण और ऋत के पंथों के उल्लेख से इनके प्राचीन काल में भी ज्ञात होने की सूचना मिलती है। (१.१०५.६)

यह भी स्पष्ट किया गया है कि सूर्य ने पृथिवी को अपनी आकर्षण शक्ति की रश्मियों से बांध रखा है (ऊपर के सन्दर्भों के अतिरिक्त, तै. आ; १८.४.६ भी देखें)। अन्य सभी ग्रह भी परस्पर के आकर्षण से खिंच कर ही अपनी अपनी कक्षा में टिके हुए हैं (११८५.१)। सूर्य की ये रश्मियां ग्रहों — उपग्रहों को ही नहीं, स्वयं उसे भी चलाती हैं। कहा गया है कि उस जातवेदा सूर्य को, संसार को दिखाने के लिए, किरणें ऊपर लाती हैं— *उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम्* (१५०.१) अब सिद्ध हो चुका है कि जिस समय हम सूर्य उदय देखते हैं, वास्तव में उस समय सूर्य का उदय नहीं हुआ होता है। अर्थात सूर्य के क्षितिज के बहुत नीचे रहते हुए भी, भू–वायु के ऊपरी जलीय स्तरों पर गिरने वाली रश्मियां, टेढ़ी होकर उदय के पहले ही सूर्य को दिखा देती हैं। उदय के पूर्व ही वक्र किरणें वैदिक दर्शन में हानि कारक मानी गईहै। इनसे बुद्धि की इहा मन्द हो जाती है। इसी के आधार पर पुराणों में कहा गया है कि सन्देहा नाम के राक्षस उदय होते ही सूर्य को घेर लेते हैं। इन असुरों का नाश करने के लिए सन्ध्योपासन के पूर्व सूर्य को अर्घ्य देने का विधान है। इस प्रकार गिरते हुए जल को पार करते हुए सूर्य की वक्र रश्मियां पुनः सीधी होकर ही उपासक को प्राप्त होती हैं और वह *'उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन हन्तु रश्मिभिः'* के लाभ से वंचित नहीं हो जाता है (चतुर्वेदी १९६०:१५)।

और भी, सोलहवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य में पोलैण्ड के ज्योतिर्विद कापरनिकस और इटली के गैलीलियों की स्थापना के सहस्रों वर्ष पूर्व वेदों में कहा जा चुका था कि सूर्य न तो उदय होता है और न अस्त। उसका ऐसा होना हमें पृथिवी द्वारा उसकी परिक्रमा किए जाने के कारण ही केवल प्रतीत होता है (ऐ. ब्रा., १४.६; गो. ब्रा; ३.४.११)। यहीं पृथिवी के परिमण्डलाकार होने (१.३३.८; ४.५३.३; अवेस्ता, मिहिर यस्त १०,एस.बी.ई.२३,भाग २.१४४), उसके पूर्वाभिमुख होकर— *दाघर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः* (७.६६.२) — अपनी धुरी पर घूमते हुए (१०.८६.४), दीर्घवृत्ताकार कक्षा में (५.४५.६) सूर्य के चतुर्दिक (५.८४.२;१०.६५.६; यजु ३.६, तै.सं. १.५.३.१) एक वर्ष में परिक्रमा करने — *वर्षेण भूमिः पृथिवी वृत्तावृता* (अथर्व १२.१.५२; ऋ. १.१६४.१७, ७.५८.२,८.१०१.१४; यजु ८.६) — का भी उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त सूर्य ग्रहण और उसके अध्ययन के लिए प्रयुक्त किसी 'तुरीय ब्रह्म' नामक यंत्र का भी उल्लेख मिलता है (५.४०.५–६; सेनगुप्त १९४७:१००–११०)। सम्भवतः इसी की सहायता से सूर्य के अन्दर के काले धब्बों का अध्ययन करके ज्ञात हुआ था कि सूर्य भी अपने मौलिक रूप में काला ही था और उसका दृश्यमान प्रकाश

उसके अन्दर विराजमान सोम (हीलियम और हाइड्रोजन ?) के कारण ही है (यजु ३४.३१.श.ब्रा; ३.४.२.१५; जै.ब्रा;२.२८; मीमांसक १६५७:८६; चतुर्वेदी १६६०:१५)। इतना ही नहीं, पृथिवी की छाया के कारण ही चन्द्रग्रहण का होना भी ज्ञात था — *क्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्* (६.१०२.१)

धूमकेतुओं और उल्काओं का भी उल्लेख हुआ हैं। बहुवचन के प्रयोग से इनके अनेक होने का भी संकेत मिलता है (८.४३.५)। धूम केतुओं के बृहत् परिणाम की भी जानकारी थी —*स नो महां अनिमानो धूमकेतुः* (१.२७.५.) उनको '*नक्षत्र उल्कामिहतम्*—'उल्कापात—कराने वाला नक्षत्र' कहा गया है और उन्हेंही 'मृत्यु' कह कर, उनसे कल्याणकारी होने की प्रार्थना करके, उनके आगमन—दर्शन से विनाश होने की सम्भावना की ओर संकेत भी कर दिया गया है (अथर्व १६.६.६–१०)। यह भी ज्ञात था कि सूर्य के ही प्रभाव से उल्कापात होता है — *अवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः* (वही २०.१६.४)

वेदों का प्रादुर्भाव काल कुछ भी माना जाए, चाहे उन्हें अपौरुषेय और आदि सृष्टि के साथ आविर्भूत माना जाए अथवा पांच—छः—सात सहस्रवर्ष पूर्व (मैक्सम्यूलर की स्थापना की वेद ईस्वी पूर्व बारहवीं शताब्दी में रचे गए थे, यद्यपि आज भी पाश्चात्य विद्वानों और उनके भारतीय इतिहास और परम्परा से अनभिज्ञ कृष्णत्वक् शिष्यों—प्रशिष्यों में प्रचलित है, सदा से ही उपहासास्पद ही रही है – वर्मा १६८४:५–१०), उनमें निहित इस पूर्ण और सत्य ज्ञान को अस्वीकार करना सम्भव नहीं है। इस पूर्ण और सत्य ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में पाश्चात्य जगत के आधुनिक कहे जाने वाले विज्ञान का इतिहास अंधकार में टटोलने से ही प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है और उसकी सारी की सारी ही उपलब्धियां पिछले कुछेक दशकों में ही हो सकी हैं।

अपनी पुरानी जातीय मान्यता के विपरीत, यूनान के ज्योतिर्विद ऐरेटेस्थनेस ने ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी में पृथिवी के परिमण्डलाकार होने, उसकी छाया के कारण ही चन्द्र ग्रहण पड़ने और सूर्य को केन्द्र में रख कर पृथिवी आदि ग्रहों—उपग्रहों द्वारा उसकी परिक्रमा किए जाने का अश्रुतपूर्व सिद्धान्त प्रसिद्ध किया था (स्विन्नेटंन १६५८:१६–१७)। उसी शताब्दी में पाइथागोरस ने बोधायन के शुल्व सूत्रों से लेकर अपना प्रसिद्ध प्रमेय प्रख्यापित किया था (साइडेनबर्ग १६७८; राजाराम, १६६३–६४:७)। इतना ही नहीं, उसी शताब्दी में हुए दार्शनिक प्लॉटो ने गीता के आधार पर ही अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' का ढांचा खड़ा किया था (उर्विक १,६२०)। यदि एरोटेस्थनेस अकेला ही होता तो उसके द्वारा स्वतंत्र और आकस्मिक वेध की सम्भावना स्वीकार की जा सकती थी। परन्तु, उसके दो समकालीन मनीषियों पर सुनिश्चित भारतीय प्रभाव को देखते हुए, एरोटेस्थनेस के ज्ञान का स्रोत भारत की आर्ष परम्परा ही मानी जा सकती है। ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी में अरस्तू ने इस मान्यता को अस्वीकार करते हुए, पुरानी जातीय परम्परा का ही समर्थन किया था। उसकी राजगुरु होने के कारण प्राप्त प्रतिष्ठा और ख्याति के आगे दीन ज्योतिर्विद का नव अर्जित ज्ञान कुंठित होकर रह गया। ईसा की दूसरी शताब्दी में मिस्र के अलेकजन्डरिया नगर के क्लाउडियस टालेमी ने यूनान और मिस्र की पुरानी लोक परम्परा के आधार पर पृथिवी को केन्द्र में रख कर

सूर्यादि ग्रहों द्वारा उसकी परिक्रमा किए जाने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। उसने समान दूरी पर स्थित अनेक मण्डलाकार कक्षाओं में एक एक ग्रह के होने और आठवीं और अन्तिम कक्षा में नक्षत्रों की स्थिति बताई थी। उसने यह भी कहा था कि प्रत्येक परिमण्डल में स्थित ग्रह भिन्न भिन्न गतियों से परिक्रमा करते हुए तीव्र अथवा मन्द्र ध्वनि उत्पन्न करते हैं जो मिल कर एक दैवी संगीत को जन्म देती हैं (कैरिंगटन १९५८:१६)। लगभग डेढ़ सहस्राब्दी तक अक्षुण्ण रहने वाली इस मान्यता का ईस्वी सन १५४३ में ही कापरनिकस ने सूर्य को केन्द्र मान कर के प्रत्याख्यान किया था और इसी कारण से उसे रोम के ईसाई पंथ के संघ के कोप का भाजन बनना पड़ा था। ईस्वी सन १६०६ में इटली के गैलीलियों ने स्वनिर्मित दूरवीक्षणयंत्र की सहायता से परीक्षण करके इस स्थापना की पुष्टि कर दी थी। पर अभी भी ये 'पथिकृत' ज्योतिर्विद सौरमण्डल को ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मान रहे थे। सौर मण्डल के परे के ब्रह्माण्ड के विस्तार की खोज तो ईस्वी सन १८०५ में इगंलैंड के ज्योतिर्विद हर्षल द्वारा विकसित दूरवीक्षणयंत्र की सहायता हो ही सम्भव हो पाई है (मनोरमा इयर बुक १९९२:८३) और अब तो रेडियो दूर संवेदी यंत्र अस्तित्व में आ चुके हैं।

वेदों से यह भी ज्ञात होता है कि कभी पृथिवी की गति आज की तरह स्थिर नहीं थी। ये दोनों—द्यावा और पृथिवी—लोक *'अविघृता'* अस्थिर थे, कम्पित होते रहते थे— *इमे वै लोका अविघृता* (अधृता—पं. भगवद्दत्त द्वारा सुझाया हुआ पाठ) *आसन । ते सं प्राकम्पन्त*। पहले तो ग्रह उपग्रहों को स्थिर गति से भ्रमण करने लिए दूर दूर स्थापित करके उनकी परिधियां अर्थात् कक्षाएं निश्चित की गईं— *तान्देवा एतैर्यजुर्भिर्व्यष्टभ्नुवन्। यदेतैः परिधीन्परिदधाति* (क.क.स. ३६.४)। फिर प्रकम्पन को थोड़ा और कम करने के लिए, जिस तरह कागज पर भार रख कर उसे उड़ने से बचाया जाता है, पृथिवी पर पर्वतों और नदियों की रचना की गई थी (७.६६.३)। कहा गया है कि जिस तरह रथचक्र या कुलाल चक्र बिना ठहराए डगमगाता है, वैसे ही चलायमान और अप्रतिष्ठित इन लोकों को प्रजापति ने पृथिवी पर पर्वतों और नदियों की रचना कर के ठहराया था (श. ब्रा. ११.८.१-१-२)। इसी प्रकार अन्यत्र भी अनेक बार *'व्यथमाना'* पृथिवी के *'दृंहण'* का उल्लेख किया गया है (२.१२.२)।

वेदों में पृथिवी को *'पिलिप्पिला'*—पिलपिली कहा गया है (यजु २३.१२)। पिलपिली मात्र कह देने से ही उसकी तरल पूर्वावस्था का अनुमान स्वतः सिद्ध हो जाता है। अन्यत्र इसे *'शिथिरा'*—शिथिल कह कर, उसे कंकड़ों की सहायता से कड़ा किए जाना भी बताया गया है— *शिथिरा वा इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत्* (मैसं.;१.६.३)। ऋग्वेद में इस पिलपिली और शिथिल पृथिवी की ऊपरी पपड़ी के जमने की तुलना खौलते दूध या खीर पर पड़ने वाली मलाई से गई है (८.७७.१०, सिद्धान्तशास्त्री १९९३:२.२२)। यह भी कहा गया है कि पृथिवी शिला, अश्मा और पांसु धारण करके ही कठोर हुई थी— *शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संघृता घृता* (अथर्व १२.२.२६)। ब्राह्मणों में इन तीन पदार्थों का और भी अधिक सूक्ष्म विवेचन करके कहा गया है कि प्रजापति ने श्रम करते हुए और तप तपते हुए फेन उत्पन्न किया और फिर क्रम से मृत, शुष्काप, ऊष— ऊसर, सिकता—बालू, शर्करा—कंकड़, अश्मा—पत्थर, अयो हिरण्य

अर्थात धातुएं और अन्त में ओषधि–वनस्पतियां उत्पन्न हुई। इस अन्तिम उत्पत्ति से पृथिवी आच्छादित हो गई थी। ये ही नौ सृष्टियां हैं– *तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत् । ता वा ऽएता नव सृष्टयः* (श ब्रा: ६.१.१.१३–१४, ६.१.३.३–५; ३४.३.१३ इत्यादि)। यह भी बताया गया है कि पहले पृथिवी समतल थी। उसके अन्दर से प्रकट हुई अग्नि के कारण बाद में ऊंचे–नीचे पर्वत और उपत्यकाएं उत्पन्न हुई थीं (से. ब्रा.६.३०.६)।

मानव जीवन का प्रत्यक्ष आधार होने के कारण ही पृथिवी को *'भूतस्य प्रथमजा'* (श. ब्रा: १४.१.२.१०; ६.५.३.१) कहा गया है। यूनान के चिन्तक हेसियड ने भी इसे 'सभी पदार्थों में प्रथम'(ग्रेव्ज १९६०,१.१५) कह कर ब्राह्मण वचन को दुहराया ही है। यह भी कहा गया है कि पहले यह 'थोड़ी सी'– *अथ वै तर्हि अल्पा पृथिव्यासीद* (तै. सं २.१.२.३) ही थी। इसके अल्पत्व को सूचित करने के लिए ही अन्यत्र इसे 'बित्ताभर' – *इयती ह व इदमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री* (श. ब्रा. १४.१.२.११) – कहा गया है। इसी अल्पा और प्रादेशमात्री भूमि को प्रजापति ने 'एमूष वराह' हो कर जलों के ऊपर उठाया था– *तामेमूष इति वराह उज्जधान सोऽस्या (पृथिव्याः) पति प्रजापतिः* (वही)। पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने वराह शब्द की व्युत्पति 'वृ' और 'अह' धातुओं से मान कर, पृथिवी पिण्ड को सब ओर से घेर कर उसे संघात रूप देने से वराह का सम्बन्ध स्थापित किया है (१९६०,११५)। दूसरी ओर, डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'वरम् आहन्ति इति वराहः' जैसी व्युत्पत्ति दिखा कर इसमें सूर्य का आहनन् होकर, उसमें संहृत पृथिवी आदि लोकों की आद्य सृष्टि की ओर संकेत करते हुए वराह को श्वेत कल्प से जोड़ने का प्रयत्न किया है (१९५३४–५)। वेद मंत्रों की अनेकार्थकता की दृष्टि से एक ही शब्द अनेक स्थितियों का निदर्शन करा सकने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से ये दोनों ही उद्भावनाएं ठीक हो सकती हैं। किन्तु ब्राह्मण वाक्य में वराह की जिस विशेष स्थिति की ओर संकेत किया गया है वह कुछ भिन्न प्रतीत होती है। ऋग्वेद के एक मंत्र में आए *'वराहमिन्द्र एमुषम्'* (८.७७.१०) को आधार बनाते हुए यहां वराह को एमूष कहा गया है और एमूष का अर्थ होगा– 'आ–सब ओर से, ईम–जलों को (ईम उदक नाम, निघण्टु १.१२) और ऊष–तपाने वाला' (मीमांसक १९७७:६८ टि)। निरुक्त में वराह को 'मेघ' भी कहा गया है (यास्क ५.४)। इस प्रकार यहां जल के तप्त होकर वाष्पीभूत होने से मेघों का बनना और उस क्रमशः सूखते हुए जल से पृथिवी के प्रकट होने की घटना का अलंकारिक वर्णन मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। पुराणकारों ने लोक शिक्षा के लिए विकसित की गई अपनी विशिष्ट शैली में विष्णु–सूर्य के दश अवतारों के आख्यान में गुंफित–पल्लवित करते हुए इसे और भी रोचक बना कर जनसुलभ और लोकग्राह्य बनाते हुए प्रस्तुत किया है।

जल से निकलने के कारण ही पृथिवी की उत्पत्ति बताते हुए *'अद्भ्यः पृथिवी'* (तै. उ: २.१) कहा गया है। बताया गया है कि प्रजापति ने वराह का रूप धारण करके अपने मुंह जितनी भूमि ऊपर उठाई थी और फिर विश्वकर्मा होकर उसे फैलाया था। इसी लिए इसका नाम पृथिवी पड़ा है – *स (प्रजापतिः) तं वराहो भूत्वाऽहरत् तां विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट सऽप्रथत् सा पृथिव्यभवत्। तत् पृथिव्यै पृथिवित्वं* (तै. सं ७.१.५.१; का. सं ६.७)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि इस थोड़ी सी भूमि को प्रजापति

ने कमल के पत्ते के आकार में फैलाया था— *तत पुष्करपर्णे प्रथयत तत पृथिव्यै पृथिवित्वम्* (१९.३.६-७)। ऋग्वेद के एक मंत्र में इसका बीज रूप कथन मिलता है। वहां पुष्कर (पर्ण?) को 'सारे जगत को धारण करने वाला'— *मूर्ध्नो विश्वस्य बाधतः* (६.१६.१३) कहा गया है। वहीं यह भी कहा गया है कि वरुण ने पृथिवी को विशाल बनाया था— *पप्रथच्च भूमः* (७.८६.१)।

वेदों में पृथिवी के *'षड विधानाः'* होने का भी उल्लेख मिलता है (७.८७.५)। अन्यत्र *'षड् उर्वियों'* की भी चर्चा हुई है। एक स्थान पर इन्द्र द्वारा छः विशाल स्थानों को दृढ़ करने का भी उल्लेख हुआ है— *षळस्तम्भा विष्टिरः* (२.१३.१०)। प्रतीत होता है कि आदि में प्रकट हुई 'थोड़ी सी' भूमि ने फैल कर पहले कमल के पत्ते का आकार ग्रहण किया था और कालान्तर में उसकी ऊपरी पपड़ी के विखंडित होने से छः महाद्वीप अस्तित्व में आए थे। *'सप्त द्वीपा वसुमती'* (पतंजलि १.१.११) अर्थात् सातवां महाद्वीप और भी बाद में पृथक हुआ होगा। इसी प्रकार कहा गया है कि यह पृथिवी चारों ओर समुद्र से घिरी हुई है— *रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः* (९.३३.६)। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि चारों ओर से घिरी होने पर भी, दक्षिण में विशेष रूप से घिरी हुई है— *तस्मादिमं लोकं सर्वत समुद्रः पर्योति... इदं लोकं दक्षिणात् समुद्रः पर्योति* (श. ब्रा. ७.१.१.१३) और यही भौगोलिक सत्य भी है।

वेदों में बीज रूप में वर्णित उपरोक्त तथ्यों के विपरीत, पाश्चात्य जगत में बहुत बाद तक बाइबिल में सुरक्षित यहूदी परम्परा को ही अन्तिम सत्य माना जाता रहा है। उसके 'उत्पत्ति' नामक प्रथम प्रकरण के आधार पर ही सृष्टि की उत्पत्ति समझी और समझाई जाती रही है। परन्तु मनुष्य की जिज्ञासु वृत्ति ने उसे इस अतार्किक शब्द प्रमाण को छोड़ कर प्रत्यक्ष प्रमाणों की खोज में प्रवृत्त किया और शीघ्र ही ईस्वी सन १७७८ में फ्रान्स के प्रकृति विज्ञान के अध्येता ज्यॉर्ज लुई लै क्लर्क बफून ने पृथिवी के इतिहास के सम्बन्ध में अपनी स्थापनाएं प्रकाशित कर दी थीं। उसने पृथिवी के इतिहास को सात कालखण्डों में विभाजित करते हुए कहा था कि प्रथम तीन सहस्र वर्षों में उद्दीप्त धूम्र–वाष्प पुंज के रूप में उत्पन्न होकर पृथिवी धीरे धीरे ठंढी होते हुए तरल अवस्था में रूपान्तरित हुई थी। द्वितीय काल खण्ड के पैंतीस सहस्र वर्षों में तरल पृथिवी की ऊपरी सतह पर अन्दर के ताप के कारण उठने वाली ऊर्मियों से हल्के द्रव्य ऊपर आ गए थे और ठंढे होने की ही प्रक्रिया के फलस्वरूप पपड़ी जमने लगी थी और फिर आग्नेय शिलाओं का घनीभूत होना प्रारम्भ हुआ था। पन्द्रह से बीस सहस्र वर्षों लम्बे तीसरे कालखण्ड में ऊपर की पपड़ी और आग्नेय शिलाओं का आन्तरिक जल वाष्प बन कर ऊपर उठने लगा और फिर धीरे धीरे मेघ बनने लगे थे। एक समय में तो ये मेघ इतने घने हो गए थे कि पृथिवी ही दृष्टि से ओझल हो गई थी। कालान्तर में वही मेघ बरसे और इतना बरसे कि धारासार वर्षा से पृथिवी 'जलौधमग्ना' हो गई थी। चतुर्थ काल खण्ड के तीस सहस्र वर्षों की अवधि में जल सूखने से समुद्र का जल स्तर घटा था और 'थोड़ी सी' भूमि दिखने लगी। इसी काल खण्ड की घटनाओं का वर्णन एमूष वराह के ब्याज से वेदों में मिलता है। पृथिवी को घेरने वाले इस प्रथम समुद्र में ही प्रथम जीवाणुओं की उत्पत्ति और संवर्धन हुआ था और उसी काल खण्ड में पृथिवी

के अन्तस्तल में एकत्र द्रवीभूत राशि पपड़ी को फोड़ कर ज्वालामुखियों के रूप में प्रकट हुई और फलस्वरूप गिरि– गह्वरों का निर्माण हुआ था। बफून के अनुसार अगले तीन कालखण्डों में क्रमशः उन्नत होते हुए स्थावर और जंगम जीवों की उत्पत्ति और विकास हुआ था और अन्तिम, सातवें काल खण्ड, जो अभी भी चल रहा है, के प्रारम्भ में मनुष्य, जो पृथिवी के ठंढा होकर 'जीवन' के उच्छेद होने तक रहेगा, का प्रादुर्भाव हुआ है (कैरिंगटन ११९५८:३७–३८)। यद्यपि बफून की यह स्थापना बाइबिल के सात दिनों में सृष्टि होने की मान्यता के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकी है, आज भी यह, काल मान को छोड़ कर, अन्य सभी क्षेत्रों में, स्वल्प परिष्कार के बाद, मान्य है।

अभी हाल में ही शिलाओं में अन्तर्निहित लौह खनिजों के चुम्बकीय ध्रुवों के आकलन, महाद्वीपों के समुद्रतटों के भौगोलिक कटाव और उपलब्ध पुरावानस्पतिक और पुराजीवशास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर प्रारम्भ में पृथिवी के संहत रूप में 'थोड़ा सा' होने और क्रमशः फैलते हुए अनेक खंडों में बंट कर आज की स्थिति में पंहुचने की स्थापना प्रसिद्ध हुई है (डार्लिंग और डार्लिंग १९७२)। इस स्थापना से अनेक रोचक तथ्य प्रकाश मेंआए हैं। महाद्वीपों को भूगोलीय पद्धति से समेटने के एस.बारेन के प्रयास को सर एडवर्ड बुलार्ड ने कम्प्यूटर पर किए गए अपने परीक्षणों द्वारा सफल घोषित किया है (वही: पृष्ठ ३०–३१ पर दिए चित्र)। उपरोक्त सभी विधाओं से अध्ययन करने पश्चात अब यह सुनिश्चित माना जाने लगा है कि यह आदि की 'थोड़ी सी भूमि' पहले सिकुड़ी सिमटी हुई थी और फिर क्रमशः उसकी ऊपरी पपड़ी का विखण्डन हुआ और फलस्वरूप आज के सभी महाद्वीपों का जन्म हुआ है। इस फैलाव के क्रमिक रूप को दिखाने के लिए प्रस्तुत किए गए लगभग तीस करोड़ वर्ष और पन्द्रह करोड़ वर्ष पूर्व के मान चित्रों में (वही: पृष्ठ ६२ पर) इन महाद्वीपों को अपने में समाहित किए हुए पृथिवी का आकार वास्तव में कमल के पत्ते जैसा ही दिखता है।

(४) पृथिवी :

भूमि अव पृथिवी हो चुकी थी पर अभी भी *'कूर्मपृष्ठनिभा* 'कछुए की पीठ की तरह' गंजी थी – *कल्वाली कृता हेयं तर्हि पृथिव्यास* (श.ब्रा. २.२४.३)। अभी तक ओषधियां नहीं उत्पन्न हुई थीं– *अजाता ओषधयः* – और यह लोक अभी भी जीवन का धारण–पोषण में असमर्थ था– *ता इमे लोका अभवन्: ऋक्षा अनुपजीवनीयाः* (जै. ब्रा. २.२४४)। प्रजापति को चिन्ता हुई कि किस प्रकार इसका गंजा पन दूर किया जाये और यह लोम युक्त हो जाए – *कथमिमे लोका लोम गृहणीयुः* (वही) और इसमें ओषधियां उत्पन्न हो जाएं – *अस्यामोषधयश्च जायन्ता इति* (मै. सं. २.५.२; तै. सं. ७.४. ३; ता. ब्रा. २०.१४.५)। तब देवों ने इसमें ऊपर की ओर बढ़ने वाली ओषधियां उगाई – *तस्यां देवा रोहिण्यां वीरुधोऽरोहयन्* (मै.सं. १.६.६) और यही उसके लोम हो गए थे – *ओषधि वनस्पतयो वै लोमानि* (जै.ब्रा. २.५४)। ऋग्वेद में भी देवों से तीन युग पहले ही ओषधियों के उत्पन्न होने का कथन हुआ है– *या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्य स्त्रियुंग पुरा* (१०.९७.१)। पारसियों की परम्परा के अनुसार भी यह संसार छः कालों में बना था, जिसमें मनुष्य छठे और ओषधि वनस्पतियां चौथे काल में उत्पन्न हुई थीं (गंगा प्रसाद

१९७२:५४)। बाइबिल में भी "हरी घास, बीज वाले छोटे पेड़ तथा फलदार वृक्ष तीसरे तथा मनुष्य छठे दिन" हुआ कह कर (उत्पत्ति १:६–१३;२४–३१) इसी वेद ज्ञान को दुहराया गया है।

आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों से भी लगभग ऐसा ही चित्र उभरता है। आज माना जाने लगा है कि पृथिवी का लगभग ५ अरब वर्ष पूर्व जन्म हुआ था। यह जानना रोचक होगा कि ईस्वी सन १९६० में यह संख्या ३ अरब ३० करोड़ तथा ईस्वी सन् १९५० में मात्र २ अरब वर्ष ही थी (स्पेन्सर १९६२:६६–११३)। इसके बाद कवक और शैवाल प्रजाति की क्षुद्र वनस्पतियों का प्रादुर्भाव **आदि जैविक महायुग** के ५२ करोड़ वर्ष पूर्व हुए प्रारम्भ के साथ ही हुआ था। मत्स्य कोटि के जलज जंगम जीव भी उसके कुछ बाद ४२ से ३५ करोड़ वर्ष पूर्व की अवधि में, **ओर्डोवीसियन** नाम दूसरे युग के अन्तिम चरण में ही मिलना प्रारम्भ होते हैं। पृथिवी अभी भी सूनी थी और उसे वेदों में ठीक ही *ऋक्षा, कल्वाली* और *अलोमिका* कहा गया है।

३५ से ३२ करोड़ वर्षो पूर्व की अवधि में व्याप्त **सिलूरियन युग** के अन्तिम चरण से ही पृथिवी पर काई प्रजाति की वनस्पतियों के अस्तित्व के संकेत मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं और २७ से २२ करोड़ वर्षो पूर्व के **कार्बोनिफेरस युग** में तो पृथिवी उन महाकाय वृक्षों से ढंक गई थी जिनके अवशेष हमें आज की कोयला खानों के रूप में मिलतें हैं। इसी युग के अन्तिम चरण से ही सरीसृपों का सन्धान भी मिलना प्रारम्भ हो जाता है और दूसरे — **मध्य जैविक -महायुग** के १६ करोड़ ५० लाख से १७ करोड़ वर्षो पूर्व की अवधि में व्याप्त **त्रियासिक युग** के अन्तिम चरण में स्तनपायी पशुओं के अवशेष मिलने प्रारम्भ होने लगते हैं। पक्षियों का प्रादुर्भाव महाकाय डायनासोरों के लिए प्रसिद्ध १७ करोड़ से १४ करोड़ वर्ष पूर्व की अवधि में फैले हुए अगले— **जुरासिक-युग** के अन्तिम चरण में हुआ माना जाता है (कैरिंगटन १९५८:८३–९१,४५–१३२ तथा १७२–१७६ तथा पृष्ठ ५८ पर तथा स्विन्नेर्टन १९५८:१३० तथा और आगे तथा पृष्ठ ७६ पर दी गई तालिका। स्पेन्सर में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत भी देखें)।

आधुनिक विज्ञान की क्रमशः परिष्कृत होती जा रही सूचनाओं और परिभाषाओं की वेदों में उपलब्ध तथ्यों से तुलना करने पर अनेक अद्भुत समानताएं प्रकट होती है जो निश्चय ही आकस्मिक नहीं मानी जा सकती। वेद में कहा गया है कि "पृथिवी से ओषधियां,ओषधियों से भोजन,भोजन से वीर्य और वीर्य से पुरुष" (तै. उ. २.२) अर्थात जीवधारियों के शरीर उत्पन्न होते है — *पुरिषादः पुरिशयः पुरयतेर्वा पूरयन्ति अन्तरिति* (यास्क)। अन्यत्र, प्रजापति द्वारा पहले सरीसृपों का, दुबारा पक्षियों का और तीसरी बार पशुओं का उत्पन्न होना कहा गया है (तै.सं. ३.१.१.१)। ऋग्वेद में "तीन प्रजाओं के चले जाने" के उल्लेख — *प्रजा हि तिस्रो ऽ अत्यायमीयुः* (८.१०१.१४) (कहीं यहां मध्य जैविक महायुग में उत्पन्न डायनासोर आदि अनेक महाकाय जन्तुओं के समूलोच्छेद का तो कथन नहीं हुआ है?) को उपबृंहित करते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "पहले केवल प्रजापति ही था। उसने सोचा कि कैसे प्रजा उत्पन्न करूं? उसने श्रम किया और तप तपा और तब उसने प्रजा उत्पन्न की। वह उत्पन्न हुई प्रजा दूर चली गई — *पराबभूवु* — उड़ कर। वही ये पक्षी हैं। प्रजापति ने सोचा

कि मैं पहले भी अकेला ही था और अभी भी अकेला ही हूं। इसलिए उसने दुबारा सृष्टि की। वह भी रेंग कर दूर चली गई। वे सरीसृप हैं। प्रजापति ने अर्चना और श्रम करते हुए फिर विचार किया कि मेरी प्रजा दूर चली जाती है? तब उसे ज्ञात हुआ कि मेरी प्रजा यहां भोजन के अभाव में दूर चली जाती है। इसलिए उसने स्तनों में दूध भर लिया। तब उसने प्रजा उत्पन्न की और यह प्रजा स्तनों का दूध पीकर रुक गई और बढ़ती रही" (शब्रा; ३.५.१.१-३)। यहां पक्षी, सरीसृपों और स्तनपायी जीवों की क्रमिक उत्पत्ति का सत्य अत्यन्त रोचक और ग्राहय ढंग से हृदगंगम कराया गया है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में अश्वादि उभयदन्ती और गवादि एकदन्ती पशुओं के साथ बकरी, भेड़ आदि अन्य उपयोगी आरण्य और ग्राम्य पशुओं की उत्पत्ति के साथ ही *'साध्य'* साधनों का उपयोग करने वाले *'ऋषि'*— *'ऋषिगतौ'* (धातु पाठ ६.७; मीमांसक १९७१.१५) — भोजन की खोज में सदा संचरणशील पुरुषाकार पशु — के उत्पन्न होने तथा लगभग उसी समय देवों के भी आगमन की बात कही गई है (१०.९०.७)। आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों से भी इसी क्रम की ही पुष्टि होती है। कहा जाता है कि यद्यपि स्तनपायी जन्तु **मध्य जैविक महायुग** के मध्यवर्ती, १७ करोड़ से १४ करोड़ वर्ष पूर्व की अवधि के बीच फैले **जुरासिक युग** में प्रादुर्भूत हो चुके थे परन्तु अभी भी वे जलचर ही थे। पृथिवी पर इनका आगमन १४ करोड़ वर्ष से ७ करोड़ वर्ष पूर्व के अगले **क्रेटासियस** युग के अन्तिम चरण में ही हुआ था। मानवोपयोगी चतुष्पाद जरायुजों की उत्पत्ति तो **चतुर्थ जैविक महायुग** के प्रारम्भ में केवल १० लाख वर्ष पूर्व ही हुई मानी जाती रही है और लगभग तभी से उपकरणों का प्रयोग करने वाले द्विपाद पुरुषाकार पशु के अस्तित्व के संकेत मिलने भी प्रारम्भ हो जाते हैं (स्पेन्सर १९६२:४५५-६६, कैरिंगटन १९५८: १२५-३०, १७२-७८ तथा १८७-२०१)।

• • • • • • • • • •

४: कालगणना एंव ज्योतिर्विज्ञान

---

४. कालगणना एवं ज्योतिर्विज्ञान

१. कालगणना :

सृष्टि विज्ञान का ज्योतिर्विज्ञान और कालगणना और इन तीनों तथा भौतिक विज्ञान का अन्ततः गणित विद्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन विज्ञानों का उपरिनिर्दिष्ट ज्ञान रखने वाले देवों का कालगणना, गणित तथा ज्योतिर्विज्ञान भी समनुरूप समुन्नत होना ही चाहिए। अतः प्रस्तुत प्रकरण के कुछ पृष्ठों में इसी सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य संकलित किए जा रहे है। काल गणना के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती का कथन हैं कि " ज्योतिष शास्त्र में यथावत वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी हैं सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर आज पर्यन्त दिन दिन गिनते और क्षण से ले के कल्पान्त की गणित विद्या को प्रसिद्ध करते चले आए हैं अर्थात् परम्परा से बही खाते की नाई सुनते सुनाते, लिखते लिखाते और पढ़ते पढ़ाते चले आए हैं और यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक हैं " (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका १९५८:३२-३३)। यहां स्वामी जी का संकेत सन्ध्यादि शुभकर्मों के पूर्व प्रतिदिन पढ़े जाने वाले संकल्प मंत्र से था। संकल्प का अत्यावश्यक संक्षिप्त रूप इस प्रकार हैं—

" ओं तत्सत् श्री ब्रह्मणो (सृष्टि सचराचरस्य जगतः) द्वितीय प्रहरार्द्धे (स्थन्तरानि द्वात्रिंशत् कल्पानां मध्येऽष्टमे) श्वेत वराह कल्पे (... सप्तमें) वैवस्वतमन्वन्तरे ऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलि प्रथम चरणेऽमुक संवत्सरे ... अयने ... ऋतौ ... मासे ... पक्षे .. तिथौ .... दिवसे .... नक्षत्रे ..... लग्ने .... मुहूर्ते अत्र अहम् ....करिष्ये " (विद्यासागर १९८०: २७-२९)

इस संकल्प मंत्र का उपन्यास ज्योतिष ग्रन्थों में दिया गया हैं। 'सूर्य सिद्धान्त' में कहा गया हैं —"१२ मासों का एक वर्ष होता है, इसे एक दिव्य अहोरात्र कहते हैं। ऐसे ३० दिव्य अहोरात्र का एक दिव्य मास और १२ दिव्य मासों का एक दिव्य वर्ष हैं (=३६० सौर वर्ष)। पूर्वोक्त १२ सहस्त्र दिव्य वर्षों की एक चतुर्युगी होती है जिसमें ४३२०००० सौर वर्ष होते हैं। उक्त चर्तुयुगी में जो कृत, त्रेता, द्वापर और कलि क्रम से ४,३,२ और १ हैं ये धर्म के चार चरणों की तरह हैं। महायुग—चतुर्युगी के दशम भाग को ४,३,२ और १ से गुणा करने पर क्रम के कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग के वर्षों का परिमाण होगा और इन प्रत्येक युगों के वर्ष परिमाण का छठा भाग अपना अपना संध्या और संध्यांश वर्ष होता हैं जो उसी में मिला हुआ हैं अर्थात् युगमान वर्षों के छठे भाग के वर्ष दो भागों में बंट कर आदि संधि और अन्त्य संध्यांश के वर्ष होते हैं।"

" पूर्वोक्त ७१ महायुगों—चतुर्युगियों की एक मन्वन्तर संज्ञा हैं। प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त में कृतयुग के वर्ष परिमाण (=४८०० दिव्य वर्ष = १७२८००० सौर वर्ष) के बराबर सन्धि का परिमाण हैं। इस सन्धि काल में जलप्लावन होता हैं। पूर्वोक्त १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता हैं। इसमें १४ अन्त की सन्धियां होती हैं और एक आदि की सन्धि, कृतयुग के परिमाण के बराबर होती हैं। पूर्वक्त रीति से १००० महायुगों—चतुर्युगियो का एक कल्प होता हैं जिसके अन्त में सब प्राणियों का नाश हो

जाता है।"

"एक कल्प का एक ब्राह्म दिन होता है और इसी परिमाण की रात्रि अर्थात् पूर्वोक्त दो कल्पों के परिमाण का एक ब्राह्म अहोरात्र होता है। ब्रह्मा की आयु अर्थात् सृष्टि की अवधि ब्राह्म मान से १०० वर्षों की है। इस आयु का लगभग आधा भाग बीत चुका है और अवशिष्ट आयु के कल्पों में यह वर्तमान कल्प पहला है अर्थात् १०० वर्षों की आयु में ५० वर्ष बीत चुके हैं और ५१ वां वर्ष बीत रहा हैं। इस वर्तमान कल्प—ब्राह्मदिन में से भी ६ मन्वतर—सन्धियों सहित बीत चुके हैं और इस वैवस्वत नामक सप्तम मन्वन्वर ७१ महायुगो —चतुर्युगी का भी कृत युग बीत चुका है। अब काल की संख्या करने के लिए इस २८ वीं चतुर्युगी के कृत युग तक के वर्षों को एकत्र करके योग करे" (सूर्य सिद्धान्त १.१३–२३)।

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में भी थोड़े शब्द भेद से यही कालगणना दुहराई गई है। इतना कह चुकने के बाद कहा गया है कि अहोरात्र के अन्त में यह ब्रह्म नींद से जागता है और जागकर संकल्प—विकल्पात्मक मन को सृष्टि रचना में नियुक्त करताहै। सृष्टि और प्रलय के ये मन्वन्तर असंख्य होते हैं। ब्रह्म मानों खेल खेल में ही बारम्बार यह करता रहता हैं (१–६६)। सृष्टि रचना के इस खेल का बार बार दुहराया जाना न केवल ऋग्वेद के कथन —*धाता यथापूर्वमकल्पयत्* (१०.१९०.३) के अनुरूप ही है वरन ऊपर बताए जा चुके चक्रगति से होने वाले 'बृहत—विस्फोट' और 'प्रसरण—समंचन' की अत्याधुनिक वैज्ञानिक अवधारणा से भी पूर्णतः समर्थित हैं।

परन्तु विकासवाद की तथाकथित वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार ही वानर से धीरे-धीरे विकसित होते हुए मनुष्य की उत्पत्ति स्वीकार करने वाले पाश्चात्य विद्वानों को इतने प्राचीन काल में इस गम्भीर वैज्ञानिक सत्य के ज्ञान और उस पर आधारित इतनी प्रलम्ब गणनाएं असम्भव लगी थीं। इसीलिए वे और उनके अनुयायी एतद्देशीय विद्वान इन आर्ष ग्रन्थों को ईसा की दूसरी शताब्दी से पूर्व का नहीं मानते हैं। इनका कहना हैं कि मिस्र के यूनानी ज्योतिर्विदों की उपलब्धियों के प्रभाव और ऋण को स्वीकार करके ही भारतीय ज्योतिर्विदों ने बहुत बाद में पिछली ग्रह स्थितियों की गणना करके ही इन युगों, मन्वन्तरों और कल्पों की काल गणना स्थापित की होगी। यहां यह ज़ानना अत्याधिक रोचक होगा कि इन पाश्चात्य विद्वानों में किसी की गणित और ज्योतिष में किञ्चित भी गति नहीं थी। किसी विषय का ज्ञान न होने पर उस विषय के अधिकारी विद्वान की बात को श्रद्धा पूर्वक सुनना—समझना सामान्य प्रक्रिया है। किन्तु इन विद्वानों ने इस प्रक्रिया को नहीं अपनाया। यही नहीं, इन्होंने ज्योतिर्विज्ञान के अधिकारी विद्वानों की सम्मति का तिरस्कार करके अपने दुराग्रह ग्रस्त पूर्वग्रह को ही उजागर किया हैं। आज से दौ सौ से भी अधिक वर्ष पूर्व, अपने समय के प्रख्यात गणितज्ञ और ज्योतिर्विद जान प्लेफेयर ने भारतीय काल गणना का आकलन करने के उपरान्त मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया था कि भारतीय काल गणना किसी भी प्रकार पिछली काल गणना नहीं हो सकती हैं, वेध के द्वारा ही प्राप्त हुई थी (१७९०.१३५–१९०)। उसका कहना था कि तथ्यों को निरीक्षण के आधार पर संग्रह करने की अपेक्षा उनका गढ़ा जाना अधिक दुष्कर होता है।

भारतीय आर्ष ग्रन्थों का कालनिर्धारण करते समय प्रोक्त प्रवचन और कृत ग्रन्थों का अन्तर ध्यान में रखना ही होगा (मीमांसक १६७७:१२-१६, १६६१:६१)। ऐसा न करने के कारण अत्यन्त भद्दी भूलें होती रहीं हैं और होती रहेंगी। अपने पूर्वाग्रह के कारण ही पाश्चात्य अध्येता भारतीय आर्ष परम्परा के मूलभूत सूत्र को देखते—जानते हुए भी ठीक से समझ नहीं सके हैं अथवा जानबूझ कर अनेदखी करते रहे हैं। 'मनुस्मृति' तथा 'सूर्य सिद्धान्त' आदि ग्रन्थ प्रोक्त—प्रवचन ग्रन्थ हैं। और समय समय पर इनका प्रति संस्कार होता रहा हैं। मनुस्मृति तो ,जैसा कि इसकी पुष्पिका में ही कहा गया हैं, स्वायंभुवमनु प्रतिपादित और भृगु प्रोक्त ग्रन्थ हैं। सूर्य सिद्धान्त भी सूर्य प्रतिपादित और मयासुर प्रोक्त ग्रन्थ है। जैसा कि इसके प्रारम्भ में लिखा गया हैं यह *'अल्पावशिष्टे तु कृते '* अर्थात् ' ' कृत युग' में थोड़ा ही समय शेष रह जाने पर ' सूर्य द्वारा प्रतिपादित हुआ था (१२)। कल्प के आदि से सातवें मन्वन्तर की २८ वीं चतुर्युगी के कृतयुग के वर्षों की संख्या का योग करने के कथन से भी इसी की पुष्टि होती हैं।

पाश्चात्य अध्येताओं की पूर्वाग्रह ग्रस्त मान्यताओं की निस्सारता दिखा देने के बाद भारतीय कालगणा की परम्परा की प्राचीनता की सिद्धि के लिए अन्य प्रमाणों का भी जानना कम रोचक नहीं होगा। महार्षि यास्क ने निरुक्त में लिखा हैं– ' तो यह (ब्राह्म) दिन सहस्त्र युग तक जागृत रहता हैं। उसके अन्त पर सोना चाहता हुआ, अंगों को अपने अन्दर लेता हैं'— *तदेतदहर्युग सहस्त्रंजागर्ति। तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नड़्गानि प्रत्याहरति, इति।* महाभूत अपने प्रकट होने के उलटे क्रम से एक दूसरे में विलीन होते हुए प्राकृतावस्था को पहुंच जाते है और तब — *सा (प्रकृति) स्वपिति। युगसहस्त्र रात्रिः। तावेतावाहोरात्रवजस्त्रं परिवर्तेते। स कालः'* अर्थात् 'वह प्रकृति सो जाती हैं। तब सहस्त्र युग पर्यन्त रात्रि रहती हैं ।ये अहोरात्र निरन्तर घूमते रहते हैं। वही काल हैं (१४.४)। यहां यास्क ने एक श्लोक भी उद्धृत किया हैं जो स्वल्प परिवर्तन के साथ मनुस्मृति (१-७३), श्रीमद् भगवंद्गीता (८.१८) तथा बृहद्देवता (८०९८) आदि ग्रन्थों में भी पाया जाता हैं। इन्हीं सहस्त्र देवयुगों की चर्चा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेक बार हुई हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में ब्रह्म के सहस्त्र युगों के सत्त्र का उल्लेख करते हुए कहा गया हैं कि इसी से ब्रह्म ने सृष्टिचक्र का प्रवर्तन किया था और इससे ही वह पुनः युवा अर्थात् उत्पादन में समर्थ हो सका था (२५.१७.१-३)। आगे इसी को विश्व सृजों का सहस्त्र वर्षीय सत्त्र कहा गया हैं जिसे करके उसने विश्व का सृजन किया था और समस्त ऋद्धियां प्राप्त कर लीं थीं — *एतेन वै विश्वसृजा सर्वाम् ऋद्धिमार्प्नवन्त* (२५.१८.१-५)। अन्यत्र भी ब्रह्म की आयु सहस्त्र देव युग बताई गई हैं — *ब्राह्मणस्सहस्रं दैवयुगानि उपजीवति* (जै. ब्रा. २.७५) किन्तु तैतरीय ब्राह्मण में ब्रह्म के सत्त्र की अवधि अर्थात् उसकी पूर्ण आयु *'शतवर्ष सहस्त्राणि'* (३.१२.६.२७-८) बताई गई हैं। इसी सत्त्र के अन्त में, ऋग्वेद के संदर्भ सूत्र (१०.११४.५) को पल्लवित करते हुए कहा गयां हैं कि विश्व की रक्षा करने व ले परमात्मा रूप हिरण्यमय पक्षी का आविर्भाव भी होता हैं (ता. ब्रा., २५.१८.५)।

इस काल गणना की प्राचीनता और वेदमूलकता का सर्वाधिक प्रबल प्रमाण

हैं इसका वेद में साक्षात उल्लेख। अथर्ववेद में कहा गया है— *शत ते ऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः* (८.२.२१)। इसके 'शतं' को यदि 'ते' के साथ पढ़कर मनुष्य की पूर्णायु का उल्लेख माना जाए तो 'अयुतं —दस सहस्त्र के पीछे क्रम से २,३ और ४ रखने पर कलि, द्वापर, त्रेता और कृत युगों की एक चतुर्युगी के वर्षों की संख्या प्राप्त होती हैं। (विद्यालंकार १९८७: ९१-२)। किन्तु यदि 'शतं अयुत' को एक साथ पढ़ा जाए तो कल्प—ब्राह्म दिन के वर्षों की संख्या प्राप्त हो जाती हैं (विद्यानन्द सरस्वती, १९८८:४२५)। जो कुछ भी अर्थ क्यों न माना जाए, इस संख्या के गणित और उसके आधार का ज्ञान वेद में सुनिश्चित हो जाता हैं।

काल गणना में ४,३ और २ के अंकों के महत्व की पुष्टि एक अन्य स्त्रोंत से भी होती हैं। शतपथ ब्राह्मण (१०.४.२.२२-२४) में कहा गया हैं कि "प्रजापति ने चाहा कि त्रयी विद्या में सब भूत हैं अतः उसी को मैं अपना शरीर बनांऊ। उसने ऋचाओं को १२ सहस्त्रबृहतियों में विभाजित किया। प्रजापति ने इतनी ही ऋचाएं बनाई .... १० सहस्त्र ८ सौ पंक्ति हैं। उसने दो और वेदों के विभाग किए — १२ सहस्त्र बृहतियों में: ८ सहस्त्र युजर्वेद में और ४ सहस्त्र सामवेद में। प्रजापति ने इस दोनों वेदों को इतना ही बनाया ... १० सहस्त्र ८ सौ पंक्तियां हुई।" आगे वर्ष में १० सहस्त्र ८ सौ महूर्त होने की बात भी कही गई हैं (१०.४.३.२०)। बृहती छन्द में ३६ और पंक्ति में ४० अक्षर होते हैं. (मीमांसक १९७९:१५७-१५६)। इस प्रकार १२ सहस्त्र बृहतियों अथवा १० सहस्त्र ८ सौ पंक्तियो में कुल ४३२००० अक्षर होंगे। इस विभिन्न विधियों से प्राप्त होने वाली संख्याओं का साम्य आकस्मिक ही नहीं हो सकता हैं। इसमें निश्चित हीं एक अति गूढ संकेत छिपा हुआ हैं (काक १९६३:७१-७६, १९६४ ओझाशी १९६३:१८५-२२१) और महायुग—चतुर्युगियों और कल्प से होते हुए हमें ब्रह्म की सहस्त्र युगों की आयु अर्थात् ब्रह्माण्ड के *प्रसरण—समंचन* की दीर्घ अवधि का पता देता हैं।

काल गणना की यही परम्परा भारतीय आर्यों के निकटतम सम्बन्धी पारसीकों में भी प्रचतिल थी। वे भी १२ सहस्त्र वर्षों का एक महायुग मानते थे (इं आर इं. एज्ज)। यह धर्मशास्त्रों और ज्योतिष ग्रन्थों का देवयुग ही हैं जिसकी वास्तविक वर्ष गणना को भूल कर भी, उसमें अन्तर्भुक्त कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुगों को ही यूनानी (कॅरेन्यी १९५८:२००-१ ग्रेव्ज १९६०: १.३६) और यहूदी (बाइबिल-दीनियल २७.२.३६-४०) परम्पराएं सुवर्ण, रजत, ताम्र और लौह युगों के नाम से स्मरण करती हैं।

पारसीकों का सासन प्रथम लिखता हैं कि " मिहचर्ख (—महाचक्र महायुग) के आदि में सृष्टि बनाने का कार्य नवीन प्रकार से प्रारम्भ होता हैं। रूप, क्रिया और ज्ञान, जो इस मिहचर्ख में प्रकट होते हैं वे सर्वथा वैसे ही होते है जैसे पूर्व के मिहचर्ख में प्रकट हो चुके हैं"। इस पर टिप्पणी करते हुए सासन पंचम का कथन हैं कि "मिहचर्ख के आदि में तत्वों का मिलना प्रारम्भ होता हैं और उस समय जिन वस्तुओं का प्रादुर्भाव होता है, वे वचन और कर्म में पूर्ववर्ती मिहचर्ख के समान होते हुए भी, सर्वथा वे ही नहीं होतीं हैं" (गंगा प्रसाद १९७२:१०७)। इस प्रकार ईरानी, यहूदी और यूनानी परम्पराओं में भी एक समान युगोंकी कल्पना, पाश्चात्य विद्वानों की दुराग्रही अवधारणों के विपरीत, भारतीय अनुश्रुतियों के सार्वभौम प्रचार—प्रसार की कथा कहती

हैं।

जिन १४ मन्वन्तरों का उल्लेख बार बार होता रहा हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—१. स्वायम्भुव, २. स्वारोचिष, ३. औत्तमि, ४. रैवत, ५. तामस, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ६. दक्ष सार्वणि, १०. ब्रह्मसावर्णि, ११. धर्मसावर्णि, १२. रुद्रपुत्र, १३. रौच्य और १४. भौत्यक। इन नामों में भी सृष्टि रचना की एक सुनिश्चित अवधारणा निहित प्रतीत होती हैं। ' स्वायंभुवें'— स्वयं उत्पन्न होने वाले मन्वन्तर के बाद स्वयं भासित होने वाला 'स्वारोचिष' मन्वन्चर कहा गया हैं। परन्तु चौथे ' तामस ' मन्वन्तर के नाम से ही प्रकट होता हैं कि इस समय तक सृष्ट सभी पदार्थ अभी अन्धकार में ही लीन रहते हैं। दक्षिणी अमरीका की इन्का—पूर्व की अनुश्रुतियों में भी 'वीरकोच' द्वारा अन्धकार में ही बड़ी बड़ी रचनाएं करने का उल्लेख मिलता हैं (डानिकेन १६७६:२:१०५)। तत्पश्चात्, पांचवे 'रैवत' मन्वन्तर में ऐसे स्थूल पदार्थों की सृष्टि होनी प्रारम्भ होती हैं जो गोचरता की ओर अग्रसर होने लगती हैं। इसीलिए कहा गया हैं कि *'अर्धोदिते सूर्ये आहवनीयमादधाति। एतस्मिन्नेव लोके प्रजापतिः प्रजा असृजत्* (तै. ब्रा. १.१.४.३)। छठे, 'चाक्षुष' मन्वतर के अन्त तक समस्त स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति हो जाती हैं। 'चाक्षुष' मन्वन्तर के अन्तिम भाग अथवा 'वैवस्वत' मन्वन्तर के प्रारम्भ में विवस्वान सूर्य अपनी कक्षा में स्थित होकर नियमित रूप से कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं। यही ब्राह्म दिन का सूर्योदय—आरम्भ—काल हैं। इसी मन्वन्तर में मुनष्यों की सृष्टि होती हैं। पुराणों के अनुसार वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ में ब्रह्म का सर्ग काल समाप्त हो जाता हैं (मीमांसक १६७५:१२६)। पारसीकों और यहूदियों को भी इस काल क्रम का ज्ञान था। पारसीक अनुश्रुति के अनुसार यह संसार ६: कालों में बना है। पहले में आकाश, दूसरे में जल, तीसरे में पृथिवी, चौथे में वनस्पति, पांचवें में पशु और छठे में मनुष्यों की उत्पत्ति कही गई हैं (गंगाप्रसाद १६२२:५४)। यहूदियों की अनुश्रुतियों में यहीं बात स्वल्प परिवर्तन के साथ दुहराई गई है। बाइबिल में 'आत्मा के जल के ऊपर मंडलाने का उल्लेख करके पहले दिन प्रकाश, दूसरे दिन जल और आकाश, तीसरे दिन सूखी सुनसान पड़ी पृथिवी पर हरी घास, बीज वाले छोटे पेड़ और फलदार वृक्ष, चौथे दिन सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योति, पांचवे दिन जल चर और नभचर तथा छठे दिन ग्राम्य और आरण्य पशु 'जो जाति जाति के अनुसार उत्पन्न हों' (तुलना करें- तै. सं. ५.१.३.१, तां. ब्रा., २६.१९.२) और सबसे अन्त, में ' अपने स्वरूप के अनुसार अपनी समानता में' (तुलना करे—*पुरुषों वै प्रजापतेर्नेदिष्ठ*- श. ब्रा ५.१.२.६) मनुष्य के उत्पन्न होने का उल्लेख हुआ हैं (उत्पत्ति १.३१)। तत्पश्चात् परमात्मा ने 'अपनी सृष्टि की रचना के सारे काम से विश्राम लिया' (वही २.३)। इसी बात को ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार कहा गया हैं — *प्रजापतिः प्रजा असृजत सोऽरिच्यत* (ता. ब्रा. ४.१०.१) प्रजापति प्रजा की सृष्टि करके खाली हो गया और सो गया— *प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा वृत्तोऽशयत्* (तै. ब्रा १.२.६.१)

यहां यह जानना रोचक होगा कि पारसीक परम्परा में चक्र गति से पुनः पुनः होने वाली ब्राह्म सृष्टि की घटनाओं का उल्लेख तो हुआ हैं किन्तु गणित ज्ञान के अभाव में १२ सहस्त्र देव वर्षों के रहस्य को न समझ कर ही, उन्हें सौर वर्ष मान

बैठे थे। कहीं यह मूल अनुवादकों के दुराग्रह पूर्ण पूर्वाग्रह का प्रतिफलन तो नहीं हैं? जो कुछ भी हो, गणित ज्ञान के ह्रास की पराकाष्ठा तब हुई थी जब इस्लामी परम्परा ने १४वीं सदी में प्रलय होने की चर्चा करके, १४ मन्वन्तरों के सुदीर्घ काल को, उतनी ही शताब्दियों में समेंटने का बचकाना प्रयास किया था (मीमांसक १६७६:१२३ टि; अरूण शौरि १६६५: ८–६)

२. गणित विद्या :

गणित के ज्ञान और अन्य देशो में उसके अभाव अथवा ह्रास के सम्बन्ध में अल–बरूनी अबू बिन–रिहां का साक्ष्य ज्ञानवर्धक ही नहीं, रोचक भी हैं। अनके देशों में घूम घूम कर ज्ञान अर्जित करते हुए वह ईसा की १२ वीं शताब्दी में सह–आरित्तत्व और सर्वधर्म समभाव जैसे आर्ष सांस्कृतिक मूल्यों के घोर शत्रु और इस्लामी परम्परा की मानवरक्त पिपासा और मूर्ति भंजकता के मूर्तिमान विग्रह, महमूद गजनवी के साथ ही भारत आया था। उसने अनके वर्षों तक यहांरह कर भारतीय ज्योतिष का विशेष ज्ञान प्राप्त किया था। उसनेलिखा हैं कि वैदिक आर्यों ने गणना की उच्चस्तरीय पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण कर लिया हैं। अरब और रोम के लोग सहस्त्र (10^3) तक ही गिन सकते हैं और यूनानी दस सहस्त्र (10^4) तक ही पहुंच पाते हैं परन्तु भारतीय ज्योतिर्विद् ईसा से सहस्त्रों पर्ष पूर्व ही १८ अंको (10^{18}) तक की संख्या के लिए पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करते थे। इसकी अन्तिम संख्या को परार्ध अथवा स्वर्ग अथवा जो कुछ भी ऊपर हैं उसका आधा कहते हैं (राचाऊ १६१०:१.१७४)। यह शब्दावली (१६६२:६०३) इस प्रकार हैं

एकं दश शतं चैव सहस्त्रमयुतं तथा
लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च।
वृन्द खर्वो निखर्वश्च शंख पद्मं च सागरः
अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दशवृद्धया यथाक्रमम्।।

'पूर्ण' की अवधारणा भी सुविज्ञात थी। संख्याओं को बताते हुए अथर्ववेद में कहा गया हैं कि *'पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्ण पूर्णेन सिच्यते'* (१०.८.२५) अर्थात् पूर्ण–अनन्त से पूर्ण निकलता हैं तो पूर्ण के द्वारा ही पूर्ण आप्यायित होता हैं अथवा अनन्त में से अनन्त को निकाल देने पर भी अनन्त ही शेष रह जाता हैऔर इसी अनन्त द्वारा ही आप्ययित होता हैं। इसी वाक्य को यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय, ईशावास्योपनिषद, में शान्ति पाठ के रूप में स्वीकार किया जाना भी इस स्थापना के महत्व को रेखांकित करता हैं। इसी भाव का सूचक एक मंत्र और भी है– *तमिदं निगतं सहः स एष एकवृदेक एव। एते अस्मिन् देवा एक वृतो भवन्ति* (अथर्व १३.५.१२–१३) अर्थात् यह शक्ति उसमें पहुंची हुई हैं। वह यह एक एक बल वाला, एक ही हैं। इसमें सब देव एक बल वाले हो जाते हैं। उसी वेद में आगे एक से दूसरे और दूसरे के एक के निकलने का भी उल्लेख हुआ हैं (१३.७.११–१२)।

इसी अनन्त से जुड़ी हुई है 'शून्य' की अवधारणा। इसका मूल भी अथर्ववेद के एक सूक्त में मिलता है– वहां एक और दस, दो और बीस, तीन और तीस, चार

और चालीस, पांच और पचास, छह और साठ, सात और सत्तर, आठ और अस्सी, नौ और नब्बे, दस और सौ, सौ और सहस्त्र तक का परिगणन करते हुए शून्य का महत्व बताया गया हैं (५.१५.१–११)।

इसी प्रकार एक से ग्यारह (वही ५.१६.१–११,१३.६.१५) तथा तीन से तैंतीस तक की अयुग्म (यजु १८.२४) और चार से अड़तालीस तक की युग्म (वही १८.२३) संख्याओं तक का उल्लेख हुआ है जिनसे गणित की कितनी ही विधियों की निष्पत्ति होती हैं (वैद्यानाथ शास्त्री १९७०:२१–४२)। यजुर्वेद के जिस मंत्र में एक से लेकर परार्द्ध तक की संख्याओं का उल्लेख हुआ हैं वहां चिति के चयन में प्रयुक्त होने वाली पकी हुई ईटों का संदर्भ हैं (१७.२)। इस प्रकार इस एक ही मंत्र से अंको की पारिभाषिक शब्दावली तथा ईटों और चितियों के आकार में ज्यामिति की भी उद्‌भावना कर दी गई हैं।

रेखागणित तो वेदि और चितियों के निर्माण में सहायक होने के कारण यज्ञ का प्राण ही हैं। इससे सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलने से कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। ऋग्वेद में वृत्त, परिधि, नाभि, ज्या, प्रमा, प्रतिमा और प्रउग–त्रिकोण का अनेकशः प्रयोग हुआ हैं (१०.१३०.३; यजु २३.६२–स्वामी दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका १९५८: १६५ पर उद्धृत)। ब्राह्मण ग्रन्थों में वृत्त की परिधि और उसके अर्धव्यास के अनुपात (२२/७) का भी सटीक अनुमान किया गया हैं (श. ब्रा., १०.२.३.७–८; वैद्यनाथ शास्त्री १९७०:३८–३९)। कूपवृत्त में गिरे–बने त्रित–त्रिकोण की घटना में भी इसी अनुपात के प्रयोग का वर्णन हुआ हैं (१.१०५.७. ५२.५)।

और भी, ब्राह्मण ग्रन्थों में चिति के आकार को लेकर अनके ज्यामितीय अंकनों का वर्णन हुआ हैं। वहीं इन्हे बनाने की प्रक्रिया न बताए जाने से प्रतीत होता है कि उस काल तक यह ज्ञान सामन्य रूप से व्यापक था अर्थात् पूरा का पूरा समाज ही इन आयोजनों में समान रूप से भागीदार होता था (ऐ. ब्रा., १.२.३)। परन्तु युगानुकूल बुद्धि के ह्रास और उसके फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक विषमताओं के कारण इस व्यापक ज्ञान का संकोच होना प्रारम्भ हुआ और फिर इस ज्ञान पर धीरे धीरे पुरोहितों का एकाधिपत्य हो गया। अब उनकी सुविधा के लिए स्मारिकाओं के रूप में चिति–चयन प्रक्रिया सूत्र बद्ध हुई और इस प्रकार शूल्व–सूत्रों का जन्म हुआ था। यूनानी गणितज्ञ पाइथागोरस द्वारा चतुरस्त्रक्ति वर्ग के विकर्ण (तिर्यक रेखा) के वर्ग फल को बताने वाले प्रमेय की ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में प्रसिद्धि किए जाने से बहुत पूर्व बोधायन ने अपने शुल्व–सूत्र में लिख दिया था कि 'आयत के विकर्ण का वर्ग उसकी भुजाओं के वर्ग के योग के बराबर होता हैं। वहीं अनिश्चित समीकरणों के हल भी मिलते हैं। श्येन–चिति का क्षेत्र फल ७ १/२ अ २ हैं और 'अ' हैं एक पुरुष (स्वामी विद्यानन्द १९८८ :४२६–२७)। सुभाष काक का कहना हैं कि इसी गणना से याज्ञवल्क्य (शतपथ ब्राह्मण) का ६५ वर्षों का युगमान भी निष्पन्न होता हैं (१९९४ :८०)

बोधायन कृत शुल्ब–सूत्र को थीबो ने बहुत मन मार कर पाइथागोरस से पूर्व, ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में हुआ माना था और अन्य गणितज्ञों ने जल्दी में और

भारतीय शास्त्रों और परम्परा से अपरिचित होने के कारण यही स्वीकार का लिया था। मगर शुल्व–सूत्रों की पद्धति को किसी भी प्रकार मिस्री (ईसापूर्व २००० से १८००) तथा बाबुली (ईसा पूर्व १७००) पद्धतियों से निष्पन्न होता न देख कर, गणितज्ञ अ. साइडेनवर्ग का निष्कर्ष हैं कि मिस्री और बाबुली पद्धतियां वस्तुतः शुल्ब सूत्रों की प्रक्रिया पर ही आधारित हैं (१९७८१ ४२ ; राजाराम १९९३-९४ :१)। इस निष्कर्ष का फलितार्थ यह हैं कि वैदिक साहित्य के सबसे पिछले शुल्व सूत्र भी मैक्स म्यूलर द्वारा संहिता के लिए सुझाए गए काल मान से न्यूनातिन्यून सहस्त्र वर्ष प्राचीन हैं।

यह सर्व विदित है कि मिस्त्र के चतुरश्र चैत्य–पिरामिड–सदा से ही शव गृह रहे हैं। इस चतुरश्र श्मशान चिति में ही शबाधान की प्रथा क्यों आरम्भ हुई ? के उत्तर में कहा गया है कि श्मशान चिति को छोड़कर अन्य सभी वैदिक चितियां विषमपार्श्वाकार ही होती है अर्थात् इनके तलातल और ऊर्ध्व तल दोनों ही समान रूप से समतल होते हैं। श्मशान चिति ही चतुरश्र होती हैं। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है– *श्मशान चितिं चिन्वीत य कामयेत पितृलोक ऋध्नुयामिति* (५४.११.३.)। मिस्त्र के तीसरे राजवंश और उसके पूर्व की सभी श्मशान चितियों का ऊर्ध्वभाग समतल ही होता था और इन्हीं से चौथे राजवंश के, आज के मानक स्वीकृत हो चुके, पिरामिडों की चतुरश्र श्मशान चितियों का विकास हुआ हैं। मिस्री मस्तब और श्मशान चितियों में बहुत समानता हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि मस्तब की पीठिका विषमपार्श्वी न होकर, आयताकार ही होती हैं। और इस अन्तर का कारण उनके आकार में होने वाली अभूत पूर्व वृद्धि ही हैं (राजाराम १९९३ :७)।

यद्यपि आज की किसी भी जीवन्त सभ्यता की ज्ञात परम्परा में वैदिक परम्परा में सुरक्षित लम्बी गणनाओं की श्रृंखला नहीं मिलती हैं, परन्तु पुरातात्विक उत्खननों से उद्घाटित हुई सभ्यताओं के अवशेषों से कुछ इतनी ही लम्बी संख्याओं के अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं। पास ही सुमेर (आधुनिक ईराक) के निनेवेह नगर के खण्डरों से प्राप्त एक संख्या १६५,६५५,२००,०००,००० मिली हैं। इसमें १५ अंक हैं (डानिकेन १९७६-१ : ५०)। यह संख्या हमारे सृष्टि संवत्सर से भुक्त वर्षों के लगभग समान ही है और उसी तरह की कल्प परिमाण की गणना की ओर संकेत करती प्रतीत होती हैं।

दूसरी ओर, दक्षिणी अमरीका में पल्लवित पुष्पित माया सभ्यता के अवशेषों से मिला पंचाग और उसकी गणनाएं भी, भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ शोधकर्ताओं को विस्मय जनक ही प्रतीत होती हैं। कहा जाता हैं कि इस पंचाग में ६४ लाख वर्षों की गणना की गई है। कुछ परवर्ती लेखों में ४० करोड़ वर्षों की भी गणना होने का अनुमान किया गया हैं (वही ७५)। ये दोनों ही संख्यायें भारतीय कल्प परिमाण के अन्तर्गत ही हैं।

काल के इस सुदीर्घ परिणाम की द्योतक इन संख्याओं के अतिरिक्त उनके सूक्ष्म भेद का भी आकलन भारतीय मनीषियों ने किया था। मनुस्मृति में कहा गया हैं कि १८ निमेष की एक काष्ठा, ३० काष्ठाओं की एक कला, ३० कला का एक मूहर्त

और ३० मूहूर्तों का एक अहोरात्र होता हैं (१.४)। इसी से मिलती जुलती परिभाषाएं कौटिंल्य के अर्थशास्त्र (४१), आयुर्वेद की सुश्रुत संहिता (सू. स्था. ६.५ १५) तथा विष्णु धर्मोत्तर पुराण (१७३.१५) और वायु पुराण (५०.१६६) जैसे विश्वकोश ग्रन्थों में भी मिलती हैं। शतपथ ब्राह्मण (१२.३.२.५-८) में बताया गया हैं कि वर्ष में १० सहस्र ८ सौ 'मुहूर्त' होते हैं, जितने मुहूर्त होते हैं उसके १५ गुणा 'क्षिप्र', जितने क्षिप्र होते हैं उसके १५ गुणा 'एतर्हि', जितने एतर्हि होते हैं उसके १५ गुणा 'इद', जितने इद होते हैं उसके १५ गुणा 'प्राण' होते हैं.... उतने ही 'निमेष' होते हैं ... उतने ही लोमगर्त होते हैं'। इसी प्रकार ऋग्वेद में वर्ष की ३७१ तिथियों के भांशों की, प्रतितिथि १ भांश के अनुसार गणना करते हुए, देवताओं की कुल संख्या ३३३६ कही गई हैं – *त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिं शच्च देवा नव चासर्पयन्* (१०.५२.६)। प्रबोध चन्द्र सेनगुप्त (१९५७) के आधार पर सुधांश भूषण राय (१९७६.३१) इस संख्या को ६ वर्षों की कुल तिथियों का योग मानते हैं।

कुछ भी हो, ऐसा तो प्रतीत ही होता हैं कि ज्योतिषीय तथा अन्य वैज्ञानिक क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाली इन दीर्घ और सूक्ष्म कालभेद के साथ ही लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वर्ष के १२ (१.२५.८; अथर्व १३.३.८) और १३ (१.१६४.११; अथर्व ४.३५.४; १०.५.४) मास तथा ५ वर्ष के लघु युग का भी प्रचलन था (यजु २७.४५)। बाद के समय में आवश्यकता के अनुरूप ही समय समय पर ६०, ७२० तथा २७०० वर्षों के युगों को भी मान्यता मिल गई थी (भगवद्दत्त १९६४ : १६०)।

३. ज्योति विज्ञान :

काल भेद ही इन जटिलताओं के अतिरिक्त इनकी आधार भूमि—ग्रह नक्षत्रों के सम्बन्ध में भी विविध सूचनाएं मिलती हैं। सूर्य तो स्पष्ट ही है, किन्तु चन्द्रमा आदि ग्रह—उपग्रहों का उसी के आधार पर प्रतिष्ठित बताया जाना (१.३५.६) उस युग के सम्बन्ध में मान्य विकासवादी अवधारणाओं के प्रतिकूल हैं। फिर भी वेद में कहे गए सत्य को अस्वीकार तो नहीं ही किया जा सकता है। वेद में सूर्य से पृथिवी की ओर स्थित चन्द्र, बुध और शुक्र ग्रहों को मातृ स्थानी 'भूमि' और दूसरी ओर स्थित मंगल, बृहस्पति और शनि ग्रहों को पितृ स्थानी 'द्यु' कहा गया हैं और बताया गया हैं कि सूर्य ही इन सबका धारण करता है– *तिस्रो मातृस्त्रीपितृन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ* (१.१६४.१०) *तथा तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून* (२.२७.८)। अन्यत्र यह भी बताया गया हैं कि इन ग्रहों पर आघात करके प्रत्यावर्तित होने वाली सूर्य रश्मियों के 'ओपश '– श्रृंग या कोण – के कारण ही ग्रह अपनी धुरी पर घूमते हैं – *यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयद् यद् भूमिं वयवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि* (८.१४.५)। इसी प्रकार इस गतिशील चन्द्रमंडल के प्रकाश को सूर्य से ही उत्पन्न कहा गया हैं (१.८४.१५)। चन्द्रोदय के समय, सागर के बढने—ज्वार—का भी ज्ञान था (८.१२.५)। सूर्यादि सात ग्रहों को ही अन्यत्र सप्त सूर्य भी कहा गया हैं (६.१०४.३.५५.३)। इतना ही नहीं, इन सभी के अपनी अपनी कक्षा में भ्रमण करने की अवधि यथा बुध—११८, शुक्र—५६४, मंगल—१७३, बृहस्पति—४०६ तथा शनि—३८४—५ भी ज्ञात थी (काक १९९४ : १०३ १०६)। इसके बाद, दक्षिणी अमरीका के

मय लोगों के शुक्र ग्रह के वर्ष के दिनों के ज्ञात होने की सूचना हमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं लगती हैं। मय लोगों की मान्यता कि देवता

चन्द्र	२० X १३ X २ X ७३	= २६० X २ X ७३	
सूर्य	८ X १३ X ५ X ७३	= १०४ X ५ X ७३	
शुक्र	५ X १३ X ८ X ७३	= ८५ X ८ X ७३	३७६६० वर्षों बाद

अपने विश्राम स्थल को लौटेंगे, भी समझ में आने लगती हैं (डानिकेन १९७६–१ :७६)। उन्होंने ग्रहों की युति के स्थान पर, पुरुषाकार देवों के वापस पृथिवी पर लौटने की तिथि मानने की भूल की थी और उनके अवतरण की प्रतीक्षा में श्रम पूर्वक चिति के ऊपर चिति का चयन करते हुए, पर्वताकार चैत्य बनाते रहे थे। उनकी गणना द्वारा निश्चित किए गए समय पर ग्रहों की युति तो हुई होगी, पर देवों का अवतरण न होने से निराश होकर उन्होंने अपना सभी कुछ एसेही छोड़ कर, ३५० किलोमीटर हट कर दूसरे स्थान पर देवों का अवतरण स्थल बनाने के लिए पुनः निरर्थक श्रम करना प्रारम्भ कर दिया था (वही १२२)।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका हैं ऋग्वेद में२७ नक्षत्रों का उल्लेख तो हुआ हैं किन्तु नाम नहीं गिनाए गए हैं। ये अन्य वेदों में ही मिलते हैं (अथर्व १९.७.१–५,८. १–५ श. ब्रा., १०.५.४. ; सूर्यकान्त १९६३ : २२३–३७)। इन नामों और इनकी संख्या से स्पष्ट हो जाता हैं कि वेदों में खगोल वृत्त और उसके अंशों की कल्पना सुप्रतिष्ठित थी। ३०°–३०° अंशो की एक राशि और १३° अंश २० कला का एक–एक नक्षत्र माना जाता है। यजुर्वेद के एक मंत्र में– *'इन्द्रो वृद्धाश्रवा', 'पूषाविश्ववेदाः' 'तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि'* और *'बृहस्पति'* से हमारा कल्याण करने के लिए प्रार्थना की गई हैं (२५–१९)।

यदि हम नक्षत्रों और उनके देवताओं के नामों की सूची को देखें तो यह ज्ञात होता है कि इस मंत्र में चित्रा नक्षत्र के स्वामी इन्द्र को नक्षत्र के कल्पित आकार के अनुसार ही 'बड़े कानों वाला' कहा गया हैं। उसके ठीक सामने स्थित रेवती रक्षत्र के देवता पूषा को नक्षत्र विभाग मेंअन्तिम होने के कारण ही, 'सर्वज्ञानमय' कहा गया हैं। इन दोनों के बीच, उत्तरी गोलार्ध में सूर्य के क्रान्तिवृत की अन्तिम सीमा पर श्रवण नक्षत्र के तीन तारे– तृक्ष–स्थित हैं। अतः *'तार्क्ष्य अरिष्टनेमि'* कह कर न केवल इसके देवता विष्णु का ही स्मरण किया गया हैं, वरन इसकी स्थिति भी प्रकट कर दी गई हैं। अन्त मेंइसके ठीक सामने स्थिति पुष्य नक्षत्र के देवता बृहस्पति का नाम आता हैं। इस प्रकार एक ही मंत्र से सम्पूर्ण खगोल और उसके नक्षत्र विभाग का परिचय करा दिया गया हैं (चतुर्वेदी १९६० : १८४ – ८५)।

अन्यत्र, शतपथ ब्राह्मण मेंतो कुल नक्षत्रों की संख्या भी बताई गई है। कहा गया हैं (१०.४.३.२०) कि "प्रजापति ने सहस्त्र संवत्सर तक तप किया। तप करते हुए उसके लोम गर्तों से निकल कर विभिन्न ज्योतियां ऊपर चली गई थीं। जो वे ज्योतियां थीं, वे ही ये नक्षत्र हैं। जितने ये नक्षत्र हैं, उतने ही लोमगर्त होते हैं और जितने ये लोमगर्त हैं उतने ही मूहूर्त होते हैं सहस्त्र संवत्सर में"। ऊपर वर्ष के मुहूर्तों की संख्या बताई जा चुकी हैं – १०८०० (श. ब्रा. १०.४.३.२०)। इस गणना के अनुसार नक्षत्रों की कुल संख्या १०८००००० होगी। दूसरी ओर, वर्ष के १०८०० मूहूर्तों को १५ से चार बार

गुणा करने से भी नक्षत्रों की कुल संख्या बताई गई हैं — ५४६६०००० (श. ब्रा. १२ ३.२५-८) । आज के ज्योतिर्विदों ने एक ही आकाशगंगा में लगभग १०० अरब नक्षत्रों का अनुमान किया हैं (मनोरमा इयर बुक १९९२ : ६०) । शतपथ ब्राह्मण में दी गई इन दो संख्याओं के आपसी भेद और उन दोनों से आज की संख्या का अन्तर कहीं इनकी नक्षत्रों की विभिन्न परिभाषाओं के कारण तो नहीं है ? इस विषय में अधिक खोज की आवश्यकता है।

४. काल गणना की अन्य परम्पराएं :

(१) सुमेर :

हमारे पुराणों में आदि काल से ही राजर्षियों के इतिहास को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया हैं (त्रिपाठी १९८०) । ऊपर हम देख आए हैं कि आर्ष परम्परा की सुदीर्घ काल गणनाओं का प्रचार—प्रसार विश्व के अन्य देशों में हुआ था । अतः वहां भी पुराणों की भांति ही, आदि कालीन देव इतिहास को सुरक्षित रखने के प्रयासों के अस्फुट संकेत मिलते हैं। यद्यपि निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन हैं, परन्तु सम्भावना प्रबल प्रतीत होती हैं कि हमारी आर्ष परम्परा ही अपने व्यापक प्रचार—प्रसार में विकृत होकर अन्य देशों की अनुश्रुतियों का उपजीव्य बनी थी । थ. जैकबसन ने ईस्वी सन् १९३९ में उत्खनन से उद्‌घाटित लेखों के आधार पर 'सुमेर के प्राचीन राजवंश' को संकलित करके प्रकाशित किया था । इसके अनुसार सुमेर (ईराक) के एरिडू नगर में सर्वप्रथम 'राजत्व आकाश से उतरा था' । प्रथम दो राजाओं ने ६४८०० वर्षों तक राज्य किया था । तत्पश्चात् किन्हीं अज्ञात कारणों से राजत्व 'बदतिबिरा' नगर में स्थानान्तरित हो गया था । वहां दुमुजी सहित तीन राजाओं ने १०८००० वर्षों तक रांज्य किया था । (यह संख्या ऊपर बताए गए वर्ष के मुहूर्तों की संख्या का दस गुणा है) । उसके बाद क्रमशः 'लारका' में एक राजा ने २८८०० वर्ष, 'सिप्पर' में एक राजा ने २१००० वर्ष और अन्त में 'शुरप्पक' में भी एक ही राजा ने १८६०० वर्ष राज्य किया था और फिर 'पृथिवी जल प्लावित हो गई' थी । ज्यॉर्ज रॉक्स को " ये अविश्वसनीय संख्याए कोई गूढ संकेत न देकर, मात्र स्वर्ण युग, जिसमें मनुष्य सुदीर्घ जीवी और मानवेतर दैवी गुणों से सम्पन्न हुआ करता था, के व्यापक विश्वास की ही प्रतिध्वनि" प्रतीत होती हैं (१९६८ : १०५–०६) ।

जलप्लावन के बाद एक बार फिर 'राजत्व के स्वर्ग—आकाश—से उतरने का' उल्लेख हुआ हैं। इस बार अन्य प्राचीन नगरों में न उतर कर, राजत्व 'किश' में उतरा था जहां प्रथम राजवंश के २३ राजाओं ने २४५१० वर्ष, ३ मास और ३.५ दिन राज्य किया था (डानिकेन १९७६—१ :४१) । ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में सेल्युकस वंश के राजत्व काल में बाबुल—बावेरू — नगर में मर्डुक मन्दिर के पुजारी बेरोसस ने स्वरचित सुमेर के इतिहास में प्रथम राजवंश के कुल ८६ राजाओं के ३४०६० वर्ष तक राज्य करने की सूचना दी हैं। उसके बाद क्रम से पांच राजवंश और हुए थे (किंग १९०९ :११४–५, भगवद्दत्त १९६४ : २१७) । यहां किसी अन्य ग्रह से आए अन्तरिक्ष यात्रियों द्वारा पृथिवी पर उपलब्ध पुरुषाकार वानर को उत्परिवर्तित किए जाने और समय समय पर

आकलन करने की सम्भावना ही प्रबल प्रतीत होती हैं। पुरातत्व के प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि आज से १०–१२ सहस्त्र वर्ष पूर्व, कृषि कर्म तो दूर, अन्न संग्रह करने में समर्थ मनुष्य का भी कहीं पता नहीं था। सुमेर के पुरातत्व को ध्यान में रखते हुए, नगरों के बार बार बदले जाने का समाधान, अन्तरिक्ष के आए देवों द्वारा अपनी पिछली अनुपस्थिति की अवधि में उत्पन्न मनुष्यों में से कुछ सर्वश्रेष्ठ उत्पादों को चुन कर प्रजनन के लिए किसी अन्य क्षेत्र में स्थानान्तरित किए जाने की स्मृति में ही खोजा और पाया जा सकता हैं।

(२) मिस्त्र :

मिस्त्र मेंभी सुदीर्घ काल के इतिहास की परम्परा को सुरक्षित रखने के प्रयास की पुष्टि यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस के 'इतिहास' से भी होती हैं। उसने लिखाा हैं कि 'पुजारियों ने मुझे लिखित इतिहास से पढ़कर सुनाया हैं' (१९५४ : १६०)। वह यह भी बताता हैं कि 'अमासिस' के समय से १७ सहस्त्र पूर्व आठ देवों से बाहर देव उत्पन्न हुए थे। इनमें एक हर्कुलीज था (वही १३०)। पं. भगवद्दत्त यहा आठ वसु और द्वादश आदित्यों का संदर्भ ग्रहण करते हुऐ हर्कुलीज को आदित्यों में कनिष्ठतम विष्णु मानते हैं (१९६४ : २१९–२२)। जो भी हो, हेरोडोटस ने पुजारियों द्वारा लिखित इतिहास से पढ़ कर सुनाई गई सूचना के आधारपर लिखा हैं कि 'मिन' (मनु ?) के बाद ३५० पीढ़ियों में उतने ही राजा हुए थे और, अपने समय में प्रचलित यूनानी मान्यता के अनुसार १०० वर्षों में ३ पीढ़ियों की गणना करते हुए ही, उसने इन राजाओं के राजत्व काल का 'कुल योग ११३४० वर्ष होना' लिखा हैं (वही १५८)। यह निश्चित ही मिस्त्री परम्परा नहीं हो सकती हैं। भारत की आर्ष परम्परा की सार्वभौम व्यापकता देखते हुए मिस्त्र की प्राचीन परम्परा भी भारतीय परम्परा से बहुत भिन्न नहीं रही होगी। प्राचीन भारत की आर्ष परम्परा मेंसर्वज्ञान सम्पन्न होने के लिए चारो वेदों का अध्ययन करते हुए ४८ वर्षों की ब्रह्मचर्या का विधान हुआ था – *अष्टाचत्वारिंशद्वर्ष सर्ववेद ब्रह्मचर्यम्* (गो. ब्रा. २.५, अ. च. रा. १०२)। निश्चित ही यह विधान समाज का निर्देशन करने वाले विद्या व्यसनी ब्राह्मणों और नियमन करने वाले राजन्य वर्ग पर अधिक निश्चलता से आरोपित किया जाता रहा होगा। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में यूनान के आक्रान्ता सिकन्दर के कुछ समय बाद चन्द्रगुप्त के समय में भारत आए राजदूत मेगस्थनीज ने भी १०–११ वर्ष के वय के बाद ३७ वर्षों के अध्ययन काल की परम्परा के अक्षुण्ण रहने की बात लिखी हैं (मजूमदार १९६० : २७३-७४)। अतः आर्ष युग में एक पीढ़ी का न्यूनातिन्यून काल ५० वर्ष होना ही चाहिए। ऋग्वेद में १०० वर्ष वय प्राप्त होने पर 'पुत्रों के पिता बनने'–*पुत्रासो पितरो भवन्ति* – के उल्लेख से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती हैं (१.८९.६)। इस प्रकार ३५० पीढ़ियों का कुल काल १७ सहस्त्र ५ सौ वर्ष होता हैं और यह संख्या अमासिस के समय में १७ सहस्त्र वर्ष पूर्व की गणना के अत्यन्त समीप होने से विश्वसनीय प्रतीत होती हैं।

हेरोडोटस ने यह भी लिखा हैं कि मिस्त्र का प्रथम शासक मिन्–मेंनेस (मनु?)

था। उसके समय में 'थीब्ज' नगर के आस पास के क्षेत्र को छोड़कर सारा प्रदेश ही दलदल था (वही ७५)। उसी ने मेंम्फिस नगर को बाढ़ से बचाने के लिए बांध बनवाया था (वही १३८)। वह यह भी लिखता हैं कि 'उनका (पुजारियों का) का कहना हैं कि इस अवधि में किसी देव का अवतरण नही हुआ हैं। .... वे यह भी कहते हैं कि इस अवधि में सूर्य चार बार चलायमान हुआ था – दो बार अस्त होने के स्थान से उदय हुआ था और दो ही बार उदय होने के स्थान पर अस्त हुआ था। परन्तु पुजारियों ने उसे आश्वस्त किया था इस अघट घटना की अवधि में मिस्त्र पूर्णतः सुरक्षित रहा था – न उसकी कृषि और न ही उसकी नदी की उपज में ही कोई कमी आई थी। व्याधियों और मृत्यु दर में भी कोई अप्रत्याशित परिवर्तन नहीं हुआ था" (वही ५८-५६)। सूर्य के चार बार चलायमान होने की यह कथा भी सुमेर के बेरोसस द्वारा अपने इतिहास में किए गए उल्लेख कि ' जब कभी सभी ग्रह कर्क राशि में एकत्र होंगे तब संसार जल उठेगा' (इं आइ इं. 'एज्जे ; भगवद्दत्त १६६४ : २७०) की ही तरह हमारी मन्वन्तर संधियों और कल्पान्त में होने वाली खण्ड अथवा महाप्रलय की आधी–अधूरी समझ पर ही आधारित प्रतीत होती हैं।

(३) महाचीन :

चीन में भी सर्वमेध और सृष्टि रचना के साथ ही सुदीर्घ काल गणना की परम्परा पाई जाती हैं। भारतीय परम्परा की ही तरह चीन में भी पुरुष और प्रकृति का प्रतिनिधित्व करने वाले 'यांग' और 'यिन', इन दो मूल तत्वों से सर्ग पूर्व की अव्यवस्था में 'पान कू' की उत्पत्ति बताई जाती हैं। 'पान कू' ने समय आने पर अपनी आहुति देकर ही विश्व की रचना की थी। "उसके शिर से पर्वत, श्वास–प्रश्वास से वायु और मेंघ, वाणी से गर्जन, बाई ऑख से सूर्य और दाई ऑख से चन्द्र, दाढी के बालों से नक्षत्र, उसके चारों अंगों से दिशाएं, अंगों के छोरो से पांच कुल पर्वत, रक्त प्रवाह से नदियां, नाड़ी जाल और पेशियों से पृथिवी से विभिन्न स्तर, मांस से मिट्टी, त्वचा और लोम से ओषधि –वनस्पतियां, दांतों और अस्थियों से खनिज, मज्जा से मोती और विभिन्न रत्न तथा स्वेद से वर्षा की बूंदें बनी थीं। वायु से दूषित उसके शरीर में पड़े कृमियों से मनुष्य की उत्पत्ति हुई थी" (विलियम्स १६१ :३०४)। इस अनुश्रुति में वेदों के पुरुष सूक्त की विकृत परम्परा का प्रभाव स्पष्ट हैं।

'पान कू' के बाद हुए तेरह 'दिव्य राजाओं' में से प्रत्येक ने १८ सहस्त्र वर्षों तक राज्य किया था। उसके बाद ग्यारह 'पार्थिव राजा' हुए थे और फिर 'मानवी राजाओं' का काल आया था। अन्तिम राजा 'फू ही' था और यह २६६८ ईस्वी पूर्व हुए राजा 'हु आंग ती' का पूर्वज था। इस सभी राजाओं के राजत्व का कुल योग २,२२,६,००० वर्ष होता हैं। (फेयरसर्विस १६५६ : ७८–७६)। यहां भी मन्वन्तर और कल्प जैसी सुदीर्घ गणनाओं की आधी–अधूरी समझ ही दिखाई देती हैं।

(४) यहूदी :

इसी प्रकार यहूदी परम्परा में भी जलप्लावन से पूर्व और पश्चात् का वृतान्त

सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अन्य देशों में गणित विद्या का क्रमिक ह्रास हुआ था। इसी के अनुरूप, यहां भी जलप्लावन के पूर्व हुई पीढ़ियों को दस में और फिर प्रत्येक को सहस्त्र वर्ष से भी कम में ही समेट लिया गया था (बाइबिल, उत्पत्ति १.५.१–३२)। किन्तु जहां सुमेरी और मिस्त्री (और पारसीक भी) परम्पराएं उच्छिन्न हो चुकी है वहीं यहूदियों की उपरोक्त परम्पराओं की अनुश्रुतियों को आत्मसात करते हुए, उन्हें बाइबिल में हस्तान्तरित करके, उनकी सुरक्षा सुनिश्चित कर दी थी। इस परम्परा में भी देवों के किसी अन्य ग्रह से आने, पुरुष पशु को उत्परिवर्तित करके मुनष्य बनाने और कुछेक विशेष प्राणियों को अपने साथ ले जाने तथा काल की सुदीर्घ श्रृंखला का वर्णन करते हुए जलप्लावन की स्मृतियां संजोयी हुई हैं। 'स्वायंभुव' से लेकर 'चाक्षुष' तके के छः मन्वन्तरों की घटनाओं का समीकरण बाइबिल में वर्णित ६ दिनों में होने वाली सृष्टि रचना से दिखाया जा चुका है। सृष्टि रचना के छठे दिन परमात्मा ने पुरुष पशु को उत्परिवर्तित करके मनुष्य को उत्पन्न किया था (उत्पत्ति १.२.२१–२३)। इन नव उत्पादित मनुष्यों को प्रतिगामी प्रजनन से सुरक्षित रखने के लिए, अन्य वन्य पशुओं से दूर, विशेष रूप से आत्मनिर्भर बनाए गए अदन के उद्यान के बीच रखा गया था (वही १.२.६–१५)। इस परीक्षण का निरीक्षण करने के लिए समय समय पर देवपुत्र आते रहते थे।

याहोवा–परमात्मा–द्वारा भेजे गए देवपुत्र कहे जाने वाले देवदूत यहां निरीक्षण के लिए आकर मानवी कन्याओं से संसर्ग स्थापित करने में नहीं चूकते थे। (वही १.६.२)। कभी कभी वे यहां के प्रधान पुरुषों की पत्नियों को भी गर्भवती करते देखे जाते हैं। मृत सागर में मिले चर्मलेखों में लमेंख की पत्नी बेत एनोश में नूह को उत्पन्न किए जाने की कथा (डानिकेन १९८६:१५) इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं।

अपने आग्नेय रथों से समय समय पर निरीक्षण के लिए आने वाले याहोवा और उसके देवदूत कभी कभी लौटते समय हनोक (बाइबिल, उत्पत्ति १.५.२४) तथा यहेजकेल जैसे विशिष्ट गुण–प्रभाव वाले व्यक्तियों को अपने साथ ले भी जाते थे। यहेजकेल के प्रकरण में देवों के आग्नेय रथ तथा उसमें आए चार विचित्र प्राणियों का विस्तृत विवरण दिया गया हैं (१.१–२८)। अन्यत्र कहा गया हैं कि जब याकूब बेर्शेबा से हारान की ओर जा रहा था, मार्ग में ही संध्या हो जाने से वह थक कर सो गया। तब उसने स्वप्न के समान आश्चर्यजनक दृश्य देखा कि पृथिवी पर एक सीढ़ी खड़ी हैं जिसकी दूसरा सिरा स्वर्ग तक पहुंचा हुआ हैं। उस सीढ़ी पर खड़ा होकर याहोवा निर्देश दे रहा हैं और उसके देवदूत चढ़–उतर रहे हैं (उत्पत्ति १.२८.१०–१३)। प्रतीत होता है कि उसके सोते समय कोई अन्तरिक्षयान पृथिवी पर उतरा था जिस पर पृथिवी से आवश्यक वस्तुएं चढ़ाई जा रहीं थी। सदोम आदि नगरों के नष्ट किए जाने के विवरणों से भी ज्ञात होता है कि अनेक बार इन उत्परिवर्तित मनुष्यों को अपनी आशा के अनुरूप न पाकर, याहोबा और उसके देवदूत नष्ट करने से भी नहीं चूकते थे (वही १९.१९)। उन दिनों सभी अच्छी बुरी बातों में अपनी टांग अड़ाने वाला 'मानवाधिकार संगठन' अस्तित्व में नहीं आ पाया था।

ऊपर कहा जा चुका हैं कि यहूदी अनुश्रुतियां सुमेरी और मिस्त्री अनुश्रुतियों

से अत्याधिक प्रभावित हैंऔर इसमेंकुछ भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अपने निर्वासन के दिनों में यहूदियों को दीर्घ काल तक इन्हीं दोनों देशों में रहना पड़ा था। कहा तो यहा भी गया हैं कि बाइबिल की प्रारम्भिक पांच पुस्तकों के रचयिता मूसा युवा होने तक मिस्री राज परिवार में ही पले-बढ़े थे (निर्गमन २.२.१-१०)। वहीं के पुस्ताकालयों में सुरक्षित ग्रन्थों के अध्ययन से ही उन्हेंने प्राचीन परम्पराओं और अनुश्रुतियों का वह ज्ञान प्राप्त किया था जिसे बाद में उन्होंने अपना भोगा यथार्थ कह कर यहूदी धर्म ग्रन्थों में संकलित कर लिया हैं (बाइबिल, प्रेरितों की कथा ५.७.२२)। मूसा के सरकंडों की टोकरी में रख कर नील नदी में बहाए जाने की घटना भी उनकी अपनी नहीं प्रतीत होती हैं। बावेरू के राजा सारगोन के सम्बन्ध में प्रचलित तथा बाबुल के खंडहरों से प्राप्त मृत्फलकों पर कीलाक्षरों में उत्कीर्ण यह कथा पश्चिमी एशिया में मूसा के लिए प्रस्तावित काल से बहुत पूर्व ही सुप्रसिद्ध हो चुकी थी (ब्लावत्स्की १:३१६-२०, गंगा प्रसाद १६७२ :४३)।

इसी प्रकार बाइबिल मेंआए देवों और उनके देखे जाने के विवरण भी मिस्री स्रोत से ही उठाए गए प्रतीत होत हैं। रोम में पोप के संग्रहालय के मिस्री प्रकोष्ठ के भूतपूर्व अध्यक्ष अलबर्टो तुली ने ईसा से अनुमानतः १५०० वर्ष पूर्व हुए राजा तुथ्मोसिस तृतीय के राज्यकाल के एक लेख का अंश पढ़ा हैं। इसमें लेखक ने आकाश से उतरते हुए एक अतिदुर्गन्धिपूर्ण अग्नि पुंज को देखने का दावा किया हैं। उसका कहना था कि यह दुर्गन्धिपूर्ण अग्नि पुंज राजा तुथ्मोसिस तृतीय और उसके सैनिकों के देखते देखते ही दक्षिण दिशा में जाकर आकाश में विलीन हो गया था (डानिकेन १६७६-१ :८०)। सुनी सुनी आश्चर्य जनक बातों को अपने पर घटा बता कर लोक में अपना महत्व स्थापित करने के लिए इच्छुक और उत्सुक व्यक्तियों की कमी कमी नहीं रही हैंऔर न रहेगी। मिस्त्र के पुजारियों द्वारा हेरोडोटस को दी गई अधिकारिक और सर्वथा प्रामाणिक सूचना के आधार पर हमें यह निश्चित रूप से ज्ञात हैं कि पिछले सत्रह सहस्त्र वर्षों से देव या उनके यान नहीं आए थे (हेरोडोटस १६५४ : १५८-१५६)। इससे यह निश्चय करने मेंसुविधा होती हैं कि रोम के संग्रहालय में सुरक्षित लेख का अंश ही नहीं, बाइबिल में वर्णित ऐसी समस्त घटनाएं भी किसी अति प्राचीन परम्परा का, नाम, देश और काल को परिवर्तित करते हुए, अविकल अनुवाद मात्र हैं।

(५) जलप्लावन

सुमेंर की लम्बी काल गणना और जलप्लावन के पूर्व और पश्चात होने वाले सुदीर्घ राजत्व का उल्लेख किया जा चुका हैं। इस परम्परा में जलप्लावन की कथा का विस्तृत विवरण गिलगमेंश की गाथा में मिलता हैं (सान्डर्स १६६० :१०५-१०)। बाइबिल मेंआई जलप्लावन की कथा से तुलना करने पर दोनों की समानता स्वतः सिद्ध और सर्वमान्य हैं। यह स्मरण रखना होगा कि यहां एक ही घटना को विभिन्न अभिप्रायों और भिन्न भिन्न देवों और अन्य पात्रों के नाम से जोड़ कर प्रस्तुत किया गया हैं। इन दोनों विवरणों में सुमेंर के उत्नपिशितिम द्वारा प्रथम पुरुष में कही गई कथा ही मूल

प्रतीत होती हैं। पर क्या वास्तव में यहीं से इसका प्रारम्भ हुआ था अथवा इसका भी कोई अन्य ही मूल स्रोत था ? सुमेर में उत्खनन करते समय सर लियोनार्ड वूली को १५–१५ मीटर मोटे अनेक बाढ के भराव के स्तर मिले थे और उन्होंने उत्साह में उन्हीं को नूह से जलप्लावन के पुरातात्विक प्रमाण मान कर प्रसिद्ध कर दिया था (वूली १९५५ : ६६,७६)। परन्तु ये प्रमाण किसी विश्वस्तरीय जलप्लावन की सूचना नहीं देते हैं। अब इन्हें सागर कुक्षि में स्थित क्षेत्रों में समय समय पर होने वाली भीषण बाढों की श्रृंखला का ही अंग माना जाने लगा हैं (गार्डन चाइल्ड १९५८ : ६–१०)। फिर इस अपरान्त देश में उस महान जलौध से रक्षा करने योग्य नौबन्धन कहां है? आज कल विद्वान ईराक के उत्तर में स्थित अरारात पर्वत को नौबन्धन मान कर, उसी की ढ़लानों पर नूह की नौका के अवशेष ढूढ़ने में प्रयत्नशील हैं और अनेक बार इन्हें पा जाने की घोषणा भी की जा चुकी हैं, परन्तु अभी भी समस्या वहीं की वहीं हैं।

पुराविदों में सामान्य सहमति हैं कि सुमेर के आद्य पुरुष उत्तर पूर्व के किसी अद्यावधि अज्ञात प्रदेश से आए थे (वही ७२-७२)। उस स्थिति में निश्चित ही वे जलप्लावन की कथा भी अपने मूल अभिजन से ही लाए होगें। जल प्लावन की विभिन्न अनुश्रुतियों और परम्पराओं का तुलनात्क अध्ययन करने के पश्चात् डा० सूर्यकान्त ने शतपथ ब्राह्मण में मिलने वाले वर्णन को सभी कथाओं का आदि मूल सिद्ध किया हैं (दीक्षितार १९५५ : १४)। यहां पर जानना रोचक होगा कि इस जलप्लावन की गूंज दक्षिणी अमरीका की अनुश्रुतियों में भी सुनाई देती हैं (डानिकन १९८६ : २३)।

(६) सोमाहरण :

इसी प्रकार सुमेर की एक अन्य गाथा का मूल स्रोत भी भारत की आर्ष परम्परा में ही हैं। कहा गया हैं कि सर्प और सुपर्ण एक ही वृक्ष पर परस्पर सहयोग से रहते थे। एक दिन सुपर्ण ने धोखे से सर्प शिशु को खा लिया था। सर्प ने, सूर्य के सुझाव पर, प्रतिशोध के लिए, धोखे से सुपर्ण की एड़ी तोड़ कर उसे गड्डे में फेंक दिया। एक बार पुत्र हीन – 'एतना' ने पुत्र प्राप्ति की कामना से सूर्य की उपासना की। सूर्य के ही सुझाव पर एतना ने सुपर्ण को गड्ढे से निकाल कर, उसका उपचार–सेवा की थी ताकि स्वस्थ होकर स्वर्ग से 'प्रजनन के वृक्ष' लाने की कठिन यात्रा में एतना का वाहन बन कर सुपर्ण उसकी सहायता कर सके। स्वस्थ होकर सुपर्ण एतना को अपनी पीठ पर चढ़ा कर उड़ चला था। काफी ऊंचाई तक तो पृथिवी दिखती रही थी परन्तु कुछ और ऊंचा उठने पर पृथिवी ' हल द्वारा खींची गई झुर्रीदार रेखा और सागर पानी के तसले की तरह' दिखने लगा था। जब दोनों ही दृष्टि से ओझल हो गए तो एतना भयभीत हो उठा था, उसकी पकड़ ढीली पर गई थी और वह यह कहता हुआ कि ' मैं स्वर्ग का आरोहण नहीं करूंगा' नीचे गिर पड़ा था। कहा जाता हैं कि सुपर्ण उसे वापस लाने के लिए पुनः लौट पड़ा था। दुर्भाग्य से लेख इसी स्थान से आगे खंडित हैं किन्तु अनेक अन्य लेखों में एतना को १५०० वर्षों का आयुष्य भोगने और उसके पुत्र बलिः के राजा बनने का उल्लेख होने के यह निश्चित हो जाता है कि सुपर्णका यह अभियान सफल रहा था और दोनों ही स्वर्ग से 'प्रजनन का वृक्ष'

लेकर पृथिवी पर सकुशल लौट आए थे (रॉक्स ९६:६ ७७ ७२)।

इस कथा का मूल आर्ष परम्परा का सुपर्णाध्याय अथवा सोमाहरण आख्यान हैं जो ऋग्वेद में उल्लिखित संकेतों के आधार पर ही संग्रथित किया गया हैं। ऋग्वेद में कहा गया हैं कि सोम द्युलोक में स्थित है— *दिवि सोमो अधिश्रितः* (१०.८५.१)। अन्यत्र इसे नक्षत्रों की गोद में स्थित भी कहा गया है— *अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थो सोम आहितः* (१०.८५.२)। स्वर्ग में उत्पन्न सोम रूपी अमृत (१००२३,१०७४६.३) को आकाश से खोज लाने के लिए सूर्य से प्रार्थना की गई हैं (९.२३.१३)। एक स्थान पर कहा गया हैं कि 'इन्द्र ने अत्यन्त गुप्त स्थान में पत्थरों से ढका हुआ सोम स्वर्ग से प्राप्त किया था (१.९३.३)। इस सूचना के बाद पर्वतों पर, विशेषतया मुंजवान पर्वत पर (१०.३४.१) सोम के उत्पन्न होने के उल्लेख (१०३५.८,९३६.६,३.४८२,६.४६.९.६२.४ इत्यादि) से यही समझा जा सकता हैं कि या तो स्वर्ग से लाया हुआ सोम वहां पुनः उगाया गया था अथवा स्वर्ग की ऊंचाई को ध्यान में रखकर ही पर्वतों की ऊंचाई पर प्राप्त होने वाली किसी दुलर्भ ओषधि को सोम का नाम दिया गया था।

श्येन का रूप धारण करके गायत्री ही सोम को स्वर्ग से ले आई थी (१८०.२,८.७१६,८४.३,६.४८.६,६८.६,१०.२८.१०)। अन्यत्र इसी गायत्री के अपर नाम सावित्री के आधार पर ही श्रद्धा नामक सूर्य पुत्री द्वारा सोम को ले आने का भी उल्लेख हुआ हैं (६.११३.३)। अन्यत्र, मन के समान वेग वान गरुड़ (६.२०.६,८.८९.८) अथवा मन के वेग से सीधा उड़ने वाले श्येन (४.४७.३-४) अथवा उसका पुत्र सुपर्ण — 'सैकड़ों कामों में उपयोगी सोम को' दूर देश से ले आते हैं (१०.१४४.५)। यही भी कहा गया हैं कि अपनी माता द्वारा भेजा गया श्येन पक्षी स्वर्ग से सोम को कृशानु गन्धर्व से लड़ कर ले आया था (६.७७.२)। अग्नि द्वारा प्रेरित श्येंन (१०.११५), बिना पहियो वाले रथ के द्वारा तीव्र गति से सीधा उड़ कर (४.२६.४-६), सैकड़ों और हजारों (१०.१७८.३) तथा हजार और दस हजार 'यज्ञों' से साथ, देवो के प्रिय हव्य सोम को ले आया था (४.२६.७)। ऊपर कहे जा चुके 'सैकड़ों कामों में उपयोगी' होने के अतिरक्त, सोम को आयु बढ़ाने वाला (८.४८.४), मृत्यु रहित करने वाला (१.७१.६) तथा देवों को (८.४८.३) और स्वर्ग को प्राप्त कराने वाला (८.४८.५) भी कहा गया हैं।

ऋग्वेद के इन्हीं संकेतों के आधार पर 'मंत्रार्थों को आख्यान से संयुक्त करने में रुचि लेने वाले ऋषियों—*ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान संयुक्ता* (यास्क १०.१०) — ने 'सौपर्णी काद्रव' आख्यान की रचना की थी (श. ब्रा. १.८.२.१०,३.२४.१)। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया हैं कि सर्पों की माता कद्रू और सुपर्णों की माता (विनता) सुपर्णी में आत्मरूप को लेकर स्पर्धा हुई थी (१.८.२.१०,६.१.६.१-३)। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्पर्धा का विषय विशाल जल राशि के उस पार देख सकने की योग्यता काथा (३.६.२.२-८)। इस स्पर्धा में पराजित होकर सुपर्णी कद्रू की दासी बन जाती हैं। निष्कृति के लिए, उसे तीन दिनों के अन्दर द्युलोक से मंगा कर सोम कद्रू को देना था। सुपर्णी ने छन्दों (अश्वों ?) से यह कह कर कि इसी दिन के लिए पितर पुत्रों का भरण पोषण करते हैं— *एतस्मै वै पितरो पुत्रान् बिभृत,* द्युलोक से सोम लाने के लिए कहा

था। दो छन्द—जगती और त्रिष्टुभ उड़े तो थे मगर थक जाने के कारण, कुछ हानि उठाकर, बीच मार्ग से ही लौट आए थे (तै. सं. ६.१.६.१–३)। मगर तीसरा, गायत्री 'हजारों और सैकड़ों बल वाले — *सहस्रसा शतसा अस्य रंहि* — तार्क्ष्य की सहायता से सुपर्ण हो कर उड़ा था और द्युलोक में कृशानु गन्धर्व से लड़ कर सोम को ले आने में सफल हुआ था (ऐ ब्रा. १८.६)। शतपथ ब्राह्मण में सोम को लाने का उद्देश्य, सुमेरी गाथा की ही तरह, पुत्र प्राप्ति ही कहा गया हैं (३.२.२.१८, यजु ४.३४)। इन्हीं सूत्रों के आधार पर मूल घटना—स्वर्ग तक की उड़ान को घेर कर ही कद्रू विनता का 'सुपर्णाख्यान' पल्लवित हुआ हैं (म.भा. १२०–२८)।

स्वयं की किसी भी परम्परा के अभाव मेंअथवा अपनी परम्परा को तिलांजलि देकर, यहूदियो की परम्परा के आधार पर ४००४ ईस्वी पूर्व ही सृष्टि रचना होने की गल्प मेंआस्था रखने वाले पाश्चात्य अध्येताओं को भले ही इन अविश्वसनीय संख्याओं और कथाओं में मात्र किसी व्यापक कल्पना की ही प्रतिध्वनि सुनाई पड़े, परन्तु आर्ष परम्परा से परिचित और *'आ नो भद्रा : क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो ऽ अपरीतास'* (१.८९.१, यजु २५.१४) अर्थात् 'हमें सब ओर से उत्तम, सत्य और सार्वभौम प्रज्ञा प्राप्त हो' जैसी प्रार्थना करने वाले समाज के व्यक्ति को तो ये लम्बी संख्याएं और ये अविश्वसनीय समझी जाने वाली कथाएं निश्चित ही मन्वन्तरों और महायुगों में ही कल्प को समेट कर, अपनी नासमझी में कुछ छोड़ते हुए और कुछ जोड़तें हुए, व्यापक आर्ष परम्परा के अवशिष्ट भाग को स्मरण रखने का असफल प्रयास ही प्रतीत होती हैं।

• • • • • • • • • • •

५: आयुर्विज्ञान

---

५. आयुर्विज्ञान

अब तक हम वेदों में उपलब्ध देवों के भौतिक विज्ञान, सृष्टि विज्ञान और उसी से सम्बन्धित काल एवं ज्योतिर्विज्ञान सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण संदर्भों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर चुके हैं। एसा करते हुए अनेक स्थलों पर देवों द्वारा वानर को कृन्तकीकरण की विधि से उत्परिवर्तित करके मनुष्य के विकसित किए जाने की चर्चा भी की गई हैं। प्रश्न होगा कि क्या वस्तुतः देव ऐसा करने में समर्थ और सक्षम थे ? हमारे विचार में इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में दिया जा सकता हैं। इसी की पुष्टि के लिए अगले कुछ पृष्ठों में देवों के जीवविज्ञान एवं आयुर्विज्ञान सम्बन्धी कुछ प्रमुख और महत्वपूर्ण संदर्भों का आकलन किया जाएगा। इसमें हम आयुर्विज्ञान विषयक शरीर, औषधि, आयु, शल्य, पशु और कृन्तकीकरण की उपलब्धियों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

१. शरीर विज्ञान :

(१) अस्थि एवं हिराएं :

वेद में शरीर विज्ञान सम्बन्धी अद्‌भुत ज्ञान का बीज रूप में कथन हुआ हैं। मूर्धा, मस्तिष्क, कपाल और ललाट के साथ ही मूर्धा के सिले जाने— *मूर्धानमस्य संसीव्य* — का उल्लेख हुआ हैं (अथर्व १०.२.२६)। शरीर के अस्थिमय बाह्य अंगों (वही १०.२.१–८) के साथ साथ मांस के अभ्यान्तर अंगों का (वही १०.६.१५–१८ ;२०.६६.१४–२३) भी नामोल्लेख मिलता हैं। स्नाव–स्यायु और मज्जा के साथ ही सप्त धातुओं की भी चर्चा हुई हैं (वही २०.६६.२२,ऋ.८.२५.५, यजु. ३६.१०)। शरीर के नव द्वारों (अथर्व १०.२.३) के साथ ही प्राण, अपान और ब्यान (वही १०.२.१३) नामक वायु की चर्चा भी मिलती हैं। ज्ञान तंतु केन्द्रों के रूप में अष्ट चक्रों (वही १०.२.३१) के साथ ही शरीर में फैली सैकड़ों धमनियों और उनसे निकल कर और भी दूर तक जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म सहस्रों हिराओ और शिराओं (वही १.७.१३,७.३५.२) का भी उल्लेख हुआ हैं। इसी के साथ गर्भ संस्थापन (यजु १६.७६) और फिर भ्रूण के विकास तथा यथासमय उत्पत्ति (वही ८.२८,ऋ. १०.१८४.३) के भी सटीक ज्ञान के अस्तित्व के भी संकेत मिलते हैं। इन्हीं कुछ सूत्रों की व्याखाओं के आधार पर ही आयुर्वेद के ग्रन्थों और गर्भोपनिषद में इनका विशद वर्णन किया गया हैं।

(२) रक्त प्रवाह :

और भी, मनुष्य के शरीर में रक्त प्रवाह की जानकारी आधुनिक युग में इंगलैंड के डा. विलियम हार्वे ने ईस्वी सन् १६२८ में ही प्रसिद्ध की थी। हमारे स्वतंत्र भारत की पाठशालओं में आज भी यही बताया जा रहा हैं (मनोरमा इयर बुक १९९२ :९५१)। परन्तु ईस्वी सन् के प्रारम्भ से भी न्यूनातिन्यून सहस्र वर्ष पूर्व (पाश्चात्य अध्येताओं के अनुसार) शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत आए बृहदारण्यक उपनिषद में हृदय के

सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा मिलता हैं कि "यह जो हृदय हैं, यही प्रजापति हैं, यही ब्रह्म हैं, यही सब कुछ हैं। इसमें तीन अक्षर हैं—'ह', 'द' और 'यम'। एक अक्षर 'ह' हैं; जो इसको जानता हैं, उसके लिए अपने और पराए, सभी सेवार्थ उपस्थित रहते हैं (अर्थात् यह सम्पूर्ण शरीर से रक्त को आहरित करके अपने पास बुला लेता हैं)। 'द' दूसरा अक्षर हैं; जो इसको जानता हैं उसके लिए अपने और पराए दान देते हैं (अर्थात् सभी आहरित रक्त को यह शरीर में वापस भेज देता है)। 'यम' तीसरा अक्षर हैं; जो इसको जानता हैं अर्थात् जो इस प्रक्रिया को समझता है वह स्वर्ग लोक को चढ़ जाता हैं" (श.ब्रा. १४.८.४.१; बृ. उ., ५.३.१)। आहरण, दान और इन दोनों क्रियाओं के नियमन की क्रियाओं से ही हृदय द्वारा सारे शरीर में रक्त प्रवाह का संचार होता हैं।

(३) हृदय : •

उपरोक्त बताए गए सामान्य रूप से प्रसिद्ध हृदय के अतिरिक्त, वेदों में शरीर के एक और अंग को भी हृदय कहा गया हैं। अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में इसका उल्लेख हुआ हैं। "निश्चय ही शिर के कपाल में रखे हुए अक्षर ब्रह्म के इस देव कोश की प्राण, अन्न और मन रक्षा करते हैं। देवों की अष्टचक्रा और नव द्वार युक्त यह पुरी अयोध्या है (कहीं शरीर में लौह खनिज तत्व की प्रधानता होने के कारण ही तो इसे यह नाम नहीं दिया गया हैं?)। इसमें रखा हुआ हिरण्यमय कोश ज्योतिषावृत हैं। उस तीन अरे वाले और तीन ही प्रकार से प्रतिष्ठित हिरण्यमय कोश में जो शरीर से युक्त ब्रह्म हैं, उसे ब्रह्मविद् ही जानते हैं (१०.२.२७,३१-३३)।" उस नव द्वार युक्त, रक्त कमल से सदृश (पुरी) में जो तीन गुणों द्वारा ढंका हुआ (कोश) हैं उसमें जो शरीर युक्त (पूजनीय) यक्ष हैं, उसे ब्रह्मविद् ही जानते हैं" (१०.८.४३)।

उपनिषदों में भी इसका व्याख्यान हुआ हैं। तैत्तरीय उपनिषद (१.६.१) में कहा गया हैं कि "यह जो हृदय के अन्दर का आकाश हैं उसमें मनोमय, विज्ञानमय और हिरण्यमय जो अक्षर पुरुष रहता हैं वह तालुओं के मध्य स्तन की तरह लटकता हैं। वह इन्द्रियों के अधिपति इन्द्र (आत्मा) का घर हैं। वह केशान्त (मूर्धा—शंकर भाष्य) शीर्ष कपालों के बीच घिर कर रहता है।' अन्यत्र, कठोपनिषद में कहा गया हैं (२.३.१७) कि *"अङ्गुष्ठ मात्र पुरुषो ऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः"* अर्थात् अन्तर्यामी परम पुरुष अंगुष्ठ मात्र होकर सदा मुनष्यों के हृदय में रहता हैं। मुण्डक उपनिष्द में भी (२.२.७) कहा गया हैं कि *'मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय"* अर्थात् सब के प्राण और शरीर का यह मनोमय नेता हृदय का आश्रय लेकर अन्नमय (स्थूल) शरीर में प्रतिष्ठित हैं। अथर्ववेद में भी *'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि"* अर्थात् मेरे हृदय में ब्रह्म द्वारा पांच ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन रखा हुआ' कहा गया हैं (१६.६.५)। चरक संहिता में

• हृदय सम्बन्धी यह सम्पूर्ण खण्ड पं. युधिष्ठर मीमांसक के 'शरीर में जीवात्मा का निवास स्थान', *वैदिक सिद्धान्त मीमांसा,* भाग १, १६६१; २०३—२०७ से लिया गया है। विभिन्न मत के लिए देखिए – आचार्य विशुद्धानन्द, 'हृदय मीमांसा' *दयानन्द संदेश,* जनवरी १६६१

इसी हृदय को ही *'आत्मनः श्रेष्ठतमायतन हृदयम्'* — आत्मा का श्रेष्ठतम आयतन कहा हैं (नि स्थान.८)। आगे कहा गया हैं कि 'जिसे शिर कहते हैं, उसी सर्वोत्तम अंग में प्राणियों के प्राण और सभी ज्ञानेन्द्रिया आश्रय ग्रहण करती हैं' (वही, सूत्र, स्थान, अ. १७) और विज्ञान, रूपादि पांचों अर्थ, आत्मा, चेतना और चिन्त्य — यह छः हृदय में स्थित हैं। इसीलिए इसे *'षडंग अंग'* कहा जाता हैं (वही. ३०.४)।

शरीर शास्त्रज्ञों का कहना है कि मस्तिष्क में एक एसा अवयव हैं जो पीताभ वर्णी पदार्थ से बना हुआ हैं। योग की परिभाषा में इसे 'आज्ञाकन्द' या 'आज्ञाचक्र' भी कहते हैं। इसके दाएं और बाएं, दो भाग होते हैं और इसके मध्य में एक त्रिकोणाकार स्थान होता हैं जिसे 'ब्रह्मगुहा' कहा जाता हैं। यही उपनिषदों का हृदय हैं (मीमांसक १९९१२०८-२१७)। सुश्रुत संहिता में इस रक्त कमल सदृश अधोमुखी हृदय को जागृत अवस्था में विकसित और स्वप्नावस्था में संकुचित होकर कमल की तरह निमीलित होने वाला अंग कहा हैं (शरीर स्थान अ.४)। अतः निश्चित ही यह हृदय वक्षस्थल के उस हृदय से भिन्न होगा जो जागृत और सुप्त, दोनों अवस्थाओं में निरन्तर सिकुड़ता और फैलता रहता हैं। मूर्धा में स्थित इस हृदय में ही जीवात्मा का निवास होना चाहिए। भ्रूमध्य में लगी गोली तत्काल मृत्यु का कारण होती हैं जब कि वक्षस्थल के हृदय को काटा—छांटा भी जा सकता हैं।

२. औषधि विज्ञानः भस्मौषधि :

आदिम संस्कृतियों के उद्भव के प्रस्तावित दिनों में हम मनुष्य को धातु का प्रथम बार प्रयोग करते हुए पा कर अत्याधिक महत्व देने लगते हैं। अतः वेदों में सुवर्ण—हिरण्य के औषधीय गुणों का ही नहीं, वरन उनके कृत्रिम विकारों — भस्म—आदि के निर्माण और प्रयोग का उल्लेख हमें अत्यन्त विस्मय जनक ही नहीं, अविश्वसनीय भी प्रतीत होता हैं। फिर भी, वेदों में "दाक्षायण हिरण्य" के प्रयोग से देवों और मुनष्यों की आयु बढ़ने का कथन मिलता हैं (यजु ३४.५१-५२)। यज्ञ की एक क्रिया विशेष अथवा विशेष प्रकार का यज्ञ होने के कारण ही "दक्ष के सम्बन्धित' विशेषण का अर्थ निश्चित ही अग्निदग्ध अर्थात् भस्म ही होना चाहिए। अन्यत्र, इसे मर्त्यों में— मनुष्यों में अथवा मरणासन्न रोगियों के लिए—अमृत भी कहा गया हैं। इसके सेवन से वृद्धावस्था ही नहीं, मृत्यु तक को रोकने और दूर हटाने का भी उल्लेख हुआ हैं। सामान्य रूप से इसका सेवन आयु, वर्जस्, ओज और बल की वृद्धि तो करता ही हैं (१९.२६.१–३)।

३. आयुर्विज्ञान :

(१) आयुष्य :

वेद में मनुष्य की आयु सामान्यतः १०० वर्षों की कही गई हैं— *"शतायुर्वैपुरुषः"* (श.ब्रा १३.४.१.१५ ; का.स., ६.२;तै.ब्रा.३.८.१८.४:१.३.७७ इत्यादि) और *"तस्माच्छंत हि वर्षाणि पुरुषायुषो भवन्ति"* (ऐ.आ.-भगदत्त १९६६:१५५)। इसी आयु को पाने के लिए प्रार्थनाएं भी की जाती हैं। परन्तु ये प्रार्थनाएं 'येन केन प्रकारेण' जीवित रहने के लिए न होकर,

सभी अंगों और इन्द्रियों को सुचारु रूप से क्रिया शील रहते हुए, अदीन होकर जीवित रहने के लिए ही की जाती हैं (यजु.३६.२४)। अन्यत्र भी, *'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'* कर्म करते हुए ही सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करने की बात कही गयी हैं (यजु ४०.२,ईशावास्योपनिषद)। उपरोक्त प्रार्थना मंत्र के अन्त में *'भूयश्च शरदः शतात्'* कह कर इसी शरीर के 'अनेक सौ वर्षों का आयुष्य भोग करने की सम्भावना' भी प्रकट कर दी गई हैं। शतपथ ब्राह्मण (१६.३.१९) में कहा गया हैं कि मनुष्य अनेक सौ वर्षों तक जीवित रह सकता है— *"अपि हि भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति"*। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया हैं कि इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास अध्ययन करने गए थे। विरोचन तो बत्तीस वर्ष की ब्रह्मचर्या के बाद लौट गया था किन्तु इन्द्र ने बार बार लौट कर कुल ३२+३२+३२+५=१०१ वर्षों की ब्रह्मचर्या की थी (८.११.३)। अब एक सौ एक वर्षों की ब्रह्मचर्या करने वाले का पूर्ण आयुष्य चार सै वर्ष न भी माना जाए, तब भी निश्चय ही बहुत रहा होगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन्द्र के बहुत वृद्ध और दुर्बल हो जाने पर पुनः दृढ और सबल हो जाने का उल्लेख हुआ हैं — *'दृढोऽ शिथिल : स्यामिति .... ततो वै स दृढोऽशिथिलोऽभवत्'* (३.१०.५.६)। उसी ब्राह्मण में अन्यत्र कहा गया हैं कि भरद्वाज ने तीन आयुष्य पर्यन्त ब्रह्मचर्या की थी। एक बार जब वह जीर्ण और वृद्ध होने के कारण लेटा हुआ था, तब इन्द्र ने उसके पास आकर कहा—भरद्वाज, यदि मैं तुम्हें चौथा आयुष्य भी दे दूं तो तुम उसका क्या करोंगे ? भरद्वाज ने उत्तर दिया था कि ब्रह्मचर्या ही करूँगा" ([illegible])। एतरेय ब्राह्मण में भरद्वाज के निश्चय पूर्वक वृद्ध, दीर्घ और श्वेत केश —*"भरद्वाजो ह वै कृशो दीर्घः पलित आस"* (१५.६.५) कहा गया हैं। ऐतरेय आरण्यक में *'भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमो दीर्घजीवितमस्तपस्वितम आस"* कहा गया हैं (१.२.२)। चरक संहिता में इसी भरद्वाज के रोगों के उपशमन का उपाय जानने के लिए इन्द्रभवन जाने का उल्लेख हुआ हैं (सूत्र स्थान १.१८-२०; भगवद्दत्त १६६४:२७३)। ऋग्वेद के *"दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्दशमेंयुगे"* (१.१५८.६) की व्याख्या करते हुए शांखायन आरण्यक में उसे *'दशपुरुषायुषाणि जिजीव'* (२.१७) — दश पुरुषों की आयुष्य वाला कहा गया हैं। अथर्ववेद में तो वृद्धावस्था को दूर करते हुए सहस्त्र वर्षों का आयुष्य प्राप्त करने का स्पष्ट उल्लेख हुआ हैं —*"जरदष्टि : कृतवीर्यो विहायाः सहस्त्रायुः सुकृतश्चरेयम्"* (१७.१.२७)। यजुर्वेद में भी जमदग्नि, कश्यप और देवों की तीन—तीन सौ वर्षों के आयुष्य का उल्लेख करते हुए उतना ही आयु प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की गई है— *"त्र्यायुषं जमदग्ने : काश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुष तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्"* (३.६२)।

अन्यत्र कहा गया हैं कि प्रजापति ने भूलोक आ कर पापी मृत्यु को समाप्त करने के लिए सहस्त्र वर्षों की साधना करते हुए — *स ऊर्ध्वपादोऽधस्तात् भूम्यां शिरः कृत्वा वर्ष सहस्त्रं तपोऽतप्यत्* — सात सौ वर्षों में ही सिद्धि प्राप्त कर ली थी। उसने स्वर्ग लोक का आरोहण करके देवों को बताया कि वे इस क्रिया को तीन सौ वर्षों में ही पूर्ण कर सकेंगे। देवों ने वैसा ही करके सोचा कि जिस साधना को उन्होंने अपने अमृत और देव शरीर से —*"देवशरीरैर्वा इदममृत शरीरैरसमापयामास"* समाप्त किया

हैं, उसे मनुष्य नहीं पूरा कर सकेंगे। और तब उन्होंने उस क्रिया को मनुष्यों के लिए सवंत्सर, द्वादशाह और षळह साध्य करते हुए संक्षिप्त कर दिया था (जै. ब्रा.१३. मीमांसक १९८६-५.१९८७-८८)।

(२) एतश प्रलाप :

ऐतरेय ब्राह्मण में आई एक अन्य घटना भी इस सम्बन्ध में प्रकाश डालती है। वहां कहा गया है कि किसी समय *'एतश'* मुनि ने *'अग्नेरायु'* मंत्र के अर्थ का दर्शन करके, उसके विज्ञान को उद्घाटित करके, अपने पुत्रों को बताना चाहा था। परन्तु बीच में ही टोक कर मुंह बन्द कर दिए जाने से उनकी एकाग्रता भंग हो गई थी और उन्होंने विक्षेप उत्पन्न करने वालों को शाप देते हुए कहा था—"तुमने मेरी वाणी को मार दिया है, अन्यथा मैं गाय के आयुष्य को सौ वर्षों का और मुनष्य के आयुष्य को सहस्त्र वर्ष का कर देता — *"त होवाचपेह्यालसोऽ भूर्यो मे वाचमवधीः शतायुं गामकरिष्यं सहस्त्रायुं पुरुषं पापिष्ठा ते प्रजां करोमि यो मे ऽत्थमसक्था इति"* (६.३०.७)। इस प्रकार एतश मुनि का अनुसंधान निष्फल हो गया था और मनुष्यों का आयुष्य देवताओं की तरह दीर्घ न हो सका था — *द्राघीयो हि देवायुषं ह्रासीयो मनुष्यायुषं ..."* (श.ब्रा. ७.३. ११०)। फिर भी पुराकाल में मुनष्य अपरिमित शक्ति, प्रभाव, वीर्य, आयु, आरोग्य, सुख, ऐश्वर्य, धर्म, शुद्ध सत्त्व और तेजस से सम्पन्न हुआ करते थे (वराहमिहिर, बृहत्संहिता ११ पर उत्पल टीका में पराशर संहिता से उद्धृत, मीमांसक १९७७:६४ टि २ क) और उनका अनेक सौ वर्षों की आयु भोगना असम्भव नहीं हो पाया था। प्रारम्भ में ऋषि दीर्घ सन्ध्या, प्राणायाम आदि क्रियाओं के द्वारा दीर्घायुष्य प्राप्त का लिया करते थे (मनु स्मृति ४.९४) किन्तु युग हास के अनुरूप ही क्रमशः उनकी आयु का प्रमाण क्षीण होता गया था— *"ह्येषामायुर्ह्रसति पादश :"* (वही १.८३)। चरक संहिता में भी *'क्रमादपचीयमानसत्वानाम्'* कह कर मनु के आशय को दुहराते हुए कहा गया है कि 'आजकल मनुष्य की आयु का प्रमाण मात्र सौ वर्ष ही रह गया है— *वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणस्मिन्काले "* (शरीर स्थान ६.२६ भगवद्दत्त १९६४:१५५)। क्रमिक ह्रास ही इसी मान्यता के व्यापकत्व का संकेत बाइबिल में भी उपलब्ध होता है। वहाँ कलि काल के प्रारम्भ के समय के सौ वर्ष के आयुमान के घट कर सत्तर वर्ष ही रह जाने का प्राणणिक उल्लेख हुआ है। इस मान्यता के उल्लेख से कलि प्रारम्भ की अपेक्षा बाइबिल की परम्परा की अवर कालिकता भी रेखांकित होती है। जो भी हो, मनु और चरक को ध्यान में रखते हुए ही महामुनि व्यास के शिष्य जैमिनि ने मीमांसा सूत्र (३.१३.३१) में मनुष्य के लिए अपने समय में सहस्त्रवर्ष का आयुष्य प्राप्त करना असम्भव कह दिया था — *सहस्त्रसंवत्सरं तदायुषामसंभवान्मनुष्येषु* (मीमांसक १९८६.५:१९७४)।

(३) आयु पर देवयान का प्रभाव :

जैसा के कहा जा चुका है ,देव दूसरे ग्रह से आए हुए अन्तरिक्ष यात्री थे। अपनी यात्राओं की अवधि में काल विस्फारण (Time Dilation) के नियम के

आधीन, उनके शरीर पर बढ़ती हुई आयु का प्रभाव रुक जाया करता रहा होगा और फलस्वरूप उनका आयुष्य दीर्घ हो जाता था। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि जिन व्यक्तियों पर देवों की कृपा होती है अर्थात् जिन्हें देवों के साथ ही स्वर्ग जाने का सौभाग्य मिल जाया करता था, वे अपने पुत्र पौत्रों से भी अधिक समय तक जीवित रह लिया करते थे (२२५२)। ब्रह्मलोक में मुहूर्त भर ठहर कर लौटने वाले शर्यात वंशी ककुद्मिन, पृथिवी पर अनेक चतुर्युगियां बीत चुकने के बाद भी, युवा ही थे — *मुहूर्त भूंत देवस्य गतं बहुयुंगं प्रभो। आजगाम युवैवाथ स्वां पुरी यादवैर्वृताम्* (भा. पु. ६.३२)। फिर स्वयं देवों की तो बात ही क्या थी ? यह भी असम्भव नहीं हैं कि भिन्न भिन्न समय पर आए और देखे गए देवों को एक समझ कर उनके अतिदीर्घ आयुष्य का अनुमान कर लिया गया हो ! जो कुछ भी हो, मनुष्यों की अपेक्षा से तो उनका आयुष्य प्रमाण अति दीर्घ रहा ही होगा। देवों (और असुरों की भी) की योनि (गृहनाम—निघण्टु ३.४) मुनष्यों से पृथक् कही गई हैं। अतः, भिन्न ग्रह का वासी होना भी दोनों के आयुष्य प्रमाण के अन्तर को समझने में सहायक हो सकता हैं।

(४) अमृत रसायन :

देवों के दीर्घ जीवन का दूसरा कारण उनका खानपान भी रहा होगा। उन्हें अमृत सेवी कहा गया हैं। काठक ब्राह्मण में कहा गया हैं कि देवों ने "आपः" के रस का मन्थन करके अमृत प्राप्त किया था— *"देवाश्च वा असुराश्चापां रसममन्थंस्तस्मान्मध्यमानादमृतमुदतिष्ठति "* (काठक ब्राह्मण संकलनम्, ऊमा ब्राह्मण—भगवद्दत्त १९६४ : १४८ ; आयुर्वेदीय काश्यप संहिता : १५३)। अन्यत्र, इसी को सोम भी कहां गया हैं — *"एतद्वैदेवानां परममन्नम्। यत्सोमः"* (तै ब्रा. १.३.३.२)। ऊपर, चरक संहिता के वचन के आधार पर देवों के अमृत और असुरों के सुधा—सेवी होने का उल्लेख किया जा चुका हैं। वहीं यह भी कहा कहा गया हैं पुराकाल में प्रजापति ब्रह्म ने किसी रसायन का निर्माण किया था— इदं *रसायनं चक्रे ब्रह्मा वर्ष साहस्त्रिकम्'*— जिसके सेवन से सहस्त्र वर्ष की आयु प्राप्त होती थी और बुढ़ापा, दुर्बलता और रोग ही नहीं, मृत्यु भी दूर रहती थी — *"न जरा न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च"* (चिकित्सा स्थान अ.१ भगवद्दत्त १९६४. १४८)

(५) अन्य दीर्घजीवी पुरुष :

यहां यह बता देना अप्रासांगिक नहीं होगा कि द्वापर के अन्त और कलि के प्रारम्भ में हुए महाभारत युद्ध में भाग लेने वाले अनके योद्धा, आज कल के मान्य आयुष्य प्रमाण को देखते हुए, अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे और इसीलिए बाइबिल के 'Three score and ten' के अभ्यस्त पाश्चात्य अध्येता इन्हें मिथ्या और गल्प कह कर तिरस्कृत कर देते हैं। फिर भी, महाभारत में भरद्वाज के पुत्र द्रोण को तो *"आकर्ण पलितः श्यामो वयसऽशीतिपंचकः। संख्ये पर्यचरद् द्रोणो वृद्ध षोडशवत्'* (म. भा., ७.१२५, ७३; १९२.६४; १९३.४३) कहा गया हैं। यहां *'अशीति पञ्चक'* का अर्थ चार सौ

ही करना होगा। पच्चासी अर्थ जहां संस्कृत भाषा व्यवहार के विपरीत है वहीं महाभारत में अन्यत्र आए वचनों के विपरीत भी है। ऐसा अर्थ ग्रहण करने पर न्यूनातिन्यून पचास वर्ष पूर्व हस्तिनापुर आने के समय उनका *'ब्राह्मणं श्याममापन्नं पलितं कृशम्'* (१.१३१. २०) तथा कुरु कुमारों की परीक्षा के समय *'शुक्लकेशः सितश्मश्रुः'* (१.१३४.१६) होना उत्पन्न नहीं होगा। कृपाचार्य उनकी पत्नी के जुड़वा भाई थे अतः उनकी वयस भी इसी के आसपास ही रही होगी। महाराज द्रुपद भी आचार्य अग्निवेश के आश्रम में उनके सहपाठी थे अतः वे भी लगभग समान वयस् के ही रहे होगें। उन्हें युद्ध के लिए एकत्र राजाओं में *"वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च"* कहा गया हैं। कुरुकुल के शन्तनु के भाई बाह्लिक और भीष्म क्रमशः ढाई और दो सौ वर्ष के रहे होंगे। भारत युद्ध के छत्तीस वर्ष बाद, व्याध के वाण से मरते समय श्री कृष्ण का वयस एक सौ पच्चीस वर्ष का था और उस समय उनके पिता श्री वसुदेव अभी भी जीवित थे (मीमांसक १६८६-५:१६७३-७६ ; भगवद्दत्त १६६४.१५३-५४)। आचार्य महिदास ऐतरेय जिनके नाम से ही ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद प्रसिद्ध हुए हैं भी एक सौ सोलह वर्ष का आयुष्य भोग सके थे – *" स ह षोडशवर्ष शतम् जीवत् "*(छा. उ.३.१६.६) तथा *'स ह षोडशशत वर्षाणि जिजीव"* (कौ. उ. श्री.४.२.४)।

दीर्घ जीवन की परम्परा की ऐसी ही अनुश्रुतियां अनेक आर्येतर जातियों में भी पाई जाती हैं। बाइबिल में जलप्लावन से पूर्व हुए दस पूर्वपुरुषों में लगभग सभी का नौ सौ वर्षों से अधिक का आयुष्य प्राप्त करने का उल्लेख किया जा चुका है (उत्पत्ति १६.८)। उसके बाद की पीढ़ियों में आयुष्य प्रमाण क्रमशः ६००,४३८–४३३–४६४,२३६,२३० तथा १४८ होकर घटता जाने का उल्लेख (वही १.७.११.१.६.२८:१.११.१०-२६) भारतीय आर्ष परम्परा के समनुरूप ही है और युगहास ही अवधारणा की पुष्टि करता प्रतीत होता हैं। इस युगह्रास के अतिरिक्त, आयुष्य प्रमाण के घंटने का एक और कारण भी बताया गया हैं। कहा गया हैं कि देव सत्य निष्ठ हैं परन्तु मनुष्य अनृत में आकण्ठ मग्न हैं – *सत्य संहिता वै देव अनृत संहिता मनुष्या इति* तथा *" व्यक्तिषिक्त एव पुरुषपाप्मान"* (ऐ. ब्रा; १.१.६;५.१६.४)। आगे कहा गया हैं कि अन्य सभी प्रजाएं तो प्रजापति द्वारा निर्धारित परिपाटी का परिपालन करती हैं न देव, न पितर और न पशु ही उसके शाश्वत नियमों का उल्लंघन करते हैं। केवल मुनष्य ही इस मर्यादा का अतिक्रमण करता रहता हैं – *"ता इमा प्रजास्तथैवोप जीवन्तियथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरो न पशवः । मंनुष्य एवैकेऽतिक्रामन्ति"* (श. ब्रा. २.४.२.५-६)। इसीलिए अब इसके अमर होने का अर्थ केवल इतना ही रह गया है कि वह पूर्ण आयु भोग कर ले, *"एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति"* (मै सं. २.२.३) और आयु के पहले ही न मर जाए, *"सर्वमायुरियात। न पुरा ऽऽ युष प्रमीयते* (तै.ब्रा. २.३.६.१)।

ऋग्वेद में जरा और दौर्बल्य की चिकित्सा के अनेक उल्लेख मिलते हैं। पठर्वा और अत्रि की शक्ति क्षीण हो जाने पर उन्हें पुनः शक्ति सम्पन्न करने की चर्चा हुई हैं (१.११२.१७), कलि (१०.३६.४), वंदन (१.११६.६), दीर्घतमा (१.१५८.४;७.७१.५,१०.२५. ११), कक्षीवान (१०.१४३.१) तथा च्यवन का बुढ़ापा दूर कर कर उन्हें अनेक कन्याओं का पतित्व निभाने के लिए समर्थ बनाए जाने का (१.११६.१०,११७.१३;११८.५,७.७१.५,७.६८.६,१०

३६.४) उल्लेख मिलता है। अश्विनी कुमारों से मरणधर्मा शरीर को बार बार यौवन देने के लिए प्रार्थना की गई है (१०.१०६.६)। ऋभुओं द्वारा भी अपने गत यौवन माता पिता को पुनः युवा बनाए जाने का अनेक बार उल्लेख हुआ हैं (१.२०.४.१११.१,४.३३.२,३४.६,३५ ५,३६.३)। इसी प्रकार घोषा और श्यावाश्व का रोग और अनेक पुरुषों की व्याधियां दूर किए जाने की चर्चा भी मिलती हैं। (१.११७.१६,१२२.५,१०.४.५)।

४. शल्य विज्ञान :

आयुर्विज्ञान के अन्य प्रमुख अंग—शल्य—क्रिया के सम्बन्ध मेंऔर भी अधिक विस्मयोत्पादक सूचनाएं मिलती हैं। अथर्ववेद में मानव शरीर का विच्छेद करके उसे फिर से समायोजित करने की तुलना नकुल द्वारा सर्प का विच्छेद करके उसके पुनः समायोजित करने की लोक प्रसिद्धि से की गई हैं (६.१३९.५)। ऋग्वेद में देवभिषक अश्विनी कुमार के अनेक चमत्कारपूर्ण और दुस्साहसी शल्य क्रियाओं का भी उल्लेख मिलता हैं। उन्होंने पंगु परावृज को चलने योग्य बना दिया था और जानु रहित श्रोण को जानु लगाकर गतिमान बना दिया था (१.११२.८,१०.२५.८)। उन्होंने ही विश्पला को आयसी घातु की जंघा लगा दी थी —*'सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै'* (१.११२.१०,११६ १५,११८.८)और वध्रिमती के लिए सोने के साथ लगाए थे — *'वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमाश्विना दत्तम्'* (१.११६.१३,११७.२४)। अन्धे हुए कण्व (१.११७.८,११८.७)और ऋजाश्व को आंखे लगा कर देखने में समर्थ बनाया था — *'आक्षी ऋजाश्वै अश्विनावधत्तं ज्योतिरन्धाय चक्रथुर्विचक्षे''* (१.११२.८,११७.८,१२०.६)। उन्होंने ही नृषद के पुत्र को कान लगा दिए थे — *यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम्'* (१.११७.८)।

·अश्विनी कुमारों के इन कृत्यो के अतिरिक्त, इन्द्र भी चिकित्सा के प्रयोग करते हुए बताए गए हैं। उनकी कृपा से पंगु के दौड़ने और अन्धे के देखने में समर्थ हो जाने का उल्लेख हुआ हैं (२.१५.७)। अश्विनी कुमारों ने विकलांग रेभ (१.११७.४) तथा दीमकों द्वारा क्षत विक्षत उग्रपुत्र को इन्द्र ने सर्वांग पूर्ण करके नव जीवन प्रदान किया था (४.१६.६)।

गर्भ में फंस कर अटके हुए शिशु को भी अश्विनी कुमारों के द्वारा सुरक्षित ही निकाल लिए जाने का भी उल्लेख हुआ हैं (१.१०६.७)। भ्रूण प्रत्यारोपण की घटनाएं तो एतिहासिक काल तक होती रहीं हैं। तीर्थंकर महावीर की माता का भ्रूण हरिणेगमेंसी द्वारा देवनन्दा के गर्भ से निकाल कर त्रिशला के गर्भ में प्रत्यारोपित किया गया था (मजूमदार एंव पुसल्कर १९५३ : ४१३)। बौद्ध साहित्य में जीवक के अद्‌भुत निदानों का उल्लेख हुआ हैं।

इन्द्र द्वारा शिर कट जाने पर रक्तस्राव प्रारम्भ होने से पहले ही, किसी जोड़ने वाले द्रव्य के अभाव में भी, शिर और धड़ जोड़े जाने की चर्चा हुई हैं (८.१.१२)। असुरों ने श्याव ऋषि के शरीर को तीन खण्डों में काट दिया गया था। अश्विनी कुमारों ने उन तीनों भागो को जोड़कर उसे पुनः स्वस्थ औंर निरोग बना दिया था। इसी प्रकार काट कर कुएं में फेंट दिए गए रेभ ऋषि के भी छिन्नभिन्न अंगों को पुनः जोड़ दिया

गया था (१.११७.४.२३)। अभी कुछ दिनों पहले अमरीका में कटे हुए लिंग को जोड़े जाने की घटना को सर्व प्रथम कह कर प्रसारित किया गया था और पिछले दिनों चीन में कुछ घंटों पहले कटे हाथ को प्रथम बार जोड़ा गया प्रचारित किया गया था। अतः वेद में उल्लिखित कृत्यों को असम्भव नहीं ही कहा जा सकता हैं। किन्तु सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण और बहुचर्चित कृत्य था अश्विनी कुमारों का आथर्वण दधीचि के कटे हुए शिर के स्थान पर अश्वशिर के प्रत्यारोपण का सफल प्रयोग, *आथर्वणायश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरःप्रत्यैरयतम* (१.११६.१२,११७.२३,११९.६ इत्यादि)। कालांतर में यही प्रक्रिया दक्ष से कटे सिर के स्थान पर बकरे का तथा गणेश के गज का सिर लगा कर दुहराई गई थी।

शल्य क्रिया की इन सब विस्मयजनक उपलब्धियों को देखते हुए तो नासिका का पुनर्समायोजन, जिसे पाश्चात्स शल्यक्रिया–प्रवणों ने आयुर्वेद ग्रन्थों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ही करना प्रारम्भ किया था (केवर १९१४; नारंग :२६), कुछ भी नहीं हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में शल्य क्रिया में प्रयुक्त शतशः विविध प्रकार के शस्त्रों उपकरणों का उल्लेख मिलता हैं। सुश्रुत संहिता में शल्य क्रिया में प्रयुक्त होने वाले शस्त्रों का रोम को लम्बाई में चीर सकने योग्य तीक्ष्ण होना –*"यथा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम्"* – अनिवार्य बताया हैं (सूत्र स्थान ८.१४)। उसी में, उसका रचना काल कुछ भी क्यों न माना आए, कुछ विशेष स्थानों पर चन्द्राकार और अनेक स्थानों पर अर्धचन्द्राकार छेद करने का सुझाव भी दिया गया हैं (वही ५.७.१३–१४)। यही नहीं, शल्यक्रिया की अवधि में हृदय के ऊपर वक्षस्थल पर चिकनाई युक्त घर्षण–मर्दन का भी विधान किया गया हैं (वही ५.१८ तथा उस पर डल्हण की टीका) यह जान कर आश्चर्य होता हैं कि इन दोनों प्रक्रियाओं का महत्व पाश्चात्य चिकित्सा जगत में अभी कुछ ही वर्ष पूर्ण क्रमशः ईस्वी सन् १९५६ और १९६० में ही स्वीकार किया गया हैं। सुश्रुत आदि ग्रन्थों मेंआतुरालय के रख रखाव तथा रोगियों की परिचर्चा सम्बन्धी अनेक निर्देश आज के किसी श्रेष्ठ अस्पताल के लिए अनुकरणीय हैं। (सिंहल और गौड़ १९६३ :६५ तथा ७२–७३)।

५. पश्वायुर्वेद :

(१) पशुचिकित्सा :

जो देव मनुष्यों के सम्बन्ध मेंआयुर्विज्ञान को इतना विकसित कर चुके थे, वे पश्वायुर्वेद को भी विकसित करने में पीछे नहीं रहे होंगे। इस विषय में भी अत्यन्त आश्चर्यजनक और आज के विकसित विज्ञान के लिए अभी भी असाध्य सिद्धियों का उल्लेख हुआ हैं। अश्विनी कुमारों द्वारा शंयु की प्रसव में असमर्थ वन्ध्या गौ को दुग्ध उत्पादन करने के लिए समर्थ बनाया गया था (१.११२.३, ११६.२२, ११७.२०; ११९, ६.७.६८, ८.१०.३६.३)। अग्नि ने भी बूढ़ी हो जाने के कारण प्रसव के अयोग्य हो चुकी गायों को दुग्ध उत्पादन में सक्षम बना दिया था (१०.६१७)। ऋभुओं ने चर्म उतार ली गई गाय को बहुत दिनों तक सुरक्षित और जीवित ही नहीं रखा था (४.३३.४), वरन अन्ततः उसे चर्म से आच्छादित करने में भी सफलता पाई थी (४.३६.४)।

एक स्थान पर ऋभुओं द्वारा गाय और घोड़े गढ़े जाने – *"य ऊती धेनुं ततक्षुर्ऋभवो ये अश्वा* (४.३५.६) का उल्लेख हुआ है। क्या यह गाय भी, ऊपर कहे जा चुके अश्वों की तरह ही, दुग्ध उत्पादन का कोई यांत्रिक उपकरण थी ?

पशुओं में भ्रूण प्रत्यारोपण की विधि भी अति विकसित अवस्था तक पहुंच चुकी थी। अभी पिछले दिनों समाचार पत्रों में एक विशेष सूचना प्रकाशित हुई थी। कहा गया था कि खाड़ी के देशों में ऊंटनी के हिमीकृत भ्रूण को दूसरी ऊंटनी में प्रत्यारोपित करने सन्तान उत्पन्न कराने में सफलता मिल गई है (पायोनियर १.६.१९९५ (लखनऊ) ९-१-२)। परन्तु ऋग्वेद में तो यहां तक बताया गया है कि इन्द्र ने घोडी में ही गाय का भ्रूण प्रत्यारोपित करके गो वत्स उत्पन्न कराने में सफलता पाई थी – *त्वा मेनामश्वस्य परिमातरं गो :"* (१०१२) । इस कथन से तो यह स्पष्ट होता है कि देवों ने आधुनिक विज्ञान के लिए भी अद्यावधि अप्राप्य सिद्धियां प्राप्त कर लीं थी।

(२) पशु– संकरीकरण :

इसी से सम्बन्धित है निसर्गानुमोदित साजात्य प्रजनन के विपरीत विजातीय प्राणियों का संकरीकरण। वेदों में गदर्भ–रासभ और अश्व के साथ ही अश्वतर–अश्वतरी के उल्लेखों (अथर्व ४.४.८,८.८.२२, तै. सं.७.१.१.२–३, ऐ. ब्रा., ३.४.७ इत्यादि) से स्पष्ट हो जाता है कि गदर्भ और अश्विनी से संयोग से उत्पन्न एक उपयोगी पशु के अस्तित्व का ज्ञान था इस प्रजनन के स्वतः प्रकृति में ही हो जाने की सम्भावना अत्यन्त क्षीण है। अरण्यो में कदाचित् ही कोई पशु अपने सजातीय यूथ को छोड़ कर भटकता हो। सम्भावना यही है कि देवों और फिर उनके ही अनुकरण पर मुनष्यों ने पशुबन्ध में पकड़े गए विविध प्रजातियों के पशुओ को एक ही बाड़े में रख छोड़ा होगा। उसी बाड़े में कभी किसी क्षण सजातीय नर के अभाव से व्याकुल अश्विनी ने गदर्भ से संयुक्त होने की स्वीकृति देकर अश्वतर–अश्वतरी को जन्म दिया होगा। और एक बार इस नवीन प्रजाति की उपयोगिता सिद्ध हो जाने पर, देवों और मुनष्यों ने भी इसी तरह के संकरीकरण को प्रोत्साहित ही नहीं किया होगा, अपितु अन्य पशुओं के साथ भी इस तरह के संकरीकरण के प्रयोग प्रारम्भ किए होंगे। जो कुछ भी हो, कम से कम योरोप के सिसली जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में, जहां आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की चादर अभी भी अत्यन्त झीनी है, एक पर्व मनाया जाता है। यह एक स्वीकृत सत्य है कि रोम से संचालित ईसाई पंथ के लगभग सभी प्रमुख पर्व प्राचीन देवताओं से चमत्कार करने की प्रार्थना करने वाले कृत्यो से ही उपजे है। सितम्बर मास में मनाया जाने वाला यह पर्व सिसली के प्रत्येक ग्राम और नगर में ईस्टर, क्रिसमस आदि पंथ अनुमोदित पर्वों की अपेक्षा आधिक उत्साह से मनाया जाता है और इसमें हमारे यहां समय समय पर जुड़ने वाले मेलों हाटों जैसा ही दृश्य उपस्थित होता है – इसमें विवाह योग्य लड़के–लडकियां देखी–दिखाई जाती है, वर्ष भर के उपयोग के लिए आवश्यक वस्तुएं भी क्रय करके संग्रहीत की जाती है और ऋतु की उपज भी विक्रयार्थ प्रस्तुत की जाती है। इस पर्व की मुकुट मणि गदर्भ और अश्वतरी का सार्वजनिक संयोग होता है (मारियो पुज़ो १९५८:५७–५६)। प्रतीत होता है कि सुदूर भूत काल में किसी चमत्कार

की आशा से किए गए संकरीकरण के ऐसे ही प्रयोगों से अश्वमेघ की प्रवृत्ति हुई होगी।

(३) अश्वमेध :

सम्प्रति अश्वमेध के याज्ञिक कर्मकांड में परम्परा से ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६२ वें = यजुर्वेद २६.१२—२४ तथा १६३ वें = यजुर्वेद २५.२४—४५ सूक्त के मंत्रों का विनियोग किया जाता हैं। इन मंत्रों में एसा कुछ भी नही है जिससे कर्मकाण्ड में किए जाने वाले विविध कर्मो का औचित्य सिद्ध किया जा सके। स्वामी दयानन्द ने "चतुर्वेद विषय सूची" में इन सूक्तों में प्रमुख करके पदार्थविद्या, क्रिया और पदार्थ विधि का उल्लेख माना है (१६७१६)। उन्होंने अपनी "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त के आधार पर, महीधर की व्याख्या की असंगति दिखाते हुऐ, इन सूक्तों की राष्ट्र परक व्याख्या की हैं (१६५८:४४७–५७)। अन्यत्र, ऋग्वेद–भाष्यम् में उन्होंने ही इन सूक्तों की *"अथाश्वस्य विद्युद्रूपेण व्याप्तस्याग्नेश्च विद्यामाह"* तथा *"अथविद्वद्ग्निगुणानाह"* कह कर विद्युत, अग्नि और विद्वान परक व्याख्या की हैं (–३:३०३–४४)। अन्य विद्वानों ने राष्ट्र परक व्याख्या को स्वीकार करते हुए भी, ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुरोध से ही, यज्ञ के सारे कर्मकाण्ड को आदित्य पर घटाते हुए, अश्वमेघ की सूर्यपरक व्याख्या की हैं (मीमांसक १९६२–२४.–४०)। दोनों या तीनों ही व्याख्याएं अत्यन्त श्रेष्ठ और उदात्त भावनाओं से आपूरित तथा परम्परा गत सबल प्रमाणों पर आधारित हैं। इसके विपरीत महीधर की व्याख्या, संदर्भ की हत्या करते हुए, निश्चित ही सर्वथा असंगत हैं।

परन्तु इस असंगत व्याख्या का उत्स भी तो उसी शतपथ ब्राह्मण में ही विद्यमान है जिसमें 'राष्ट्रं वाऽश्वमेंधः' कह कर बताया गया है कि जहां "यह यज्ञ रचा जाता है वहां प्रजाएं सकुशल रहती हैं— *"एतेन यज्ञेन यजन्ते क्लृप्तः प्रजानां योगक्षेमो भवति"* (१३.१.६.४ तथा १.६.१०)। उसी ब्राह्मण में थोड़ा आगे *'महिषीमश्वायोपनिपादयन्त्यथैमावाधिवासेन"* तथा *"अश्वस्य शिश्नं महिष्युपस्थे निधत्ते"* भी लिखा मिलता है और तत्पश्चात् अश्लील संभाषण का भी विधान किया गया है (१३.५.२.२ तथा ५.२.४ और आगे)। अतः महीधर की असंगत व्याख्या को सर्वथा निर्मूल भी नहीं कहा जा सकता हैं। ऐसे असंगत, अतार्किक और अरुचिकर विवरणों को सदा ही वाममार्गी प्रक्षेप कह अस्वीकार करना भी सर्वदा सुकर और उचित नहीं प्रतीत होता है।

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहां किसी बहुत प्राचीन आदिम युग की घटना, जिसका मूल अभिप्राय पूर्णतया विस्मृत हो चुका था, की धुंधली स्मृति को कुछेक शब्दों के आधार पर, वैदिक मंत्रों की खूंटी पर टांग कर सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया हैं। इसमें वेद के शब्दों की अनेकार्थकता के आधार यौगिक वाद को भुला कर, उन्हें रूढ़ मान लेने से भी सहायता मिली होगी। रही सही कमी बौद्ध बिहारों में भिक्षुकों और भिक्षुणियों के सहवास से प्रादुर्भूत वाममार्गी यौनाचारों ने पूरी कर दी रही होगी। इसीलिए मध्यकालीन वाममार्गी भाष्यकार महीधर ने अर्थ का अनर्थ करते हुए जहां एक ओर वेद का वेदत्व नष्ट किया था, वहीं दूसरी ओर कर्मकाण्डों की पाशविकता पूर्ण

व्याख्या करके उनके वैज्ञानिक आधार को भुला कर, मनुष्य की हीन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित भी किया था।

इसी विचार सरणि को आगे बढ़ाते हुए ही हम कहना चाहेंगे कि अश्वमेघ का यह कर्मकाण्ड प्रशिक्षित संज्ञप्त अश्व द्वारा महिषी को संयुक्त कराने का पश्वायुर्वेद का चिरपरिचित प्रायोगिक कृत्य था। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने लिखा हैं — *"यजुष 'उत्सक्थ्या अवगुदं धेहि'* (२३.२१) *इति मन्त्रेण महिषी सङ्गमें यजमानोऽश्वम् अभिमन्त्रयते — हे अश्व। अस्या महिष्या अवगुदं यो योनि: तस्यां स्वलिङ्गं संचारय। 'मानुषी स्त्रीणां योनि प्रदेशो गुदप्रदेशादूर्ध्व भवति न तु नीचै। पशुस्त्रीणां गुदेन्द्रियम् उर्ध्व भवति,योनि प्रदेशस्तु नीचै। अतोऽश्व महिष्योः सङ्गमें उक्तमन्त्रेण यजमानस्याश्वस्याभिमन्त्रणं दृष्टि विरोधादप्रमाणं"* (१६६२-२४३८)। आश्चर्य हैं कि यजमान की अश्व को अभिमंत्रित करने की इतनी स्पष्टोक्ति देख कर भी मीमांसक जीने महिषी का अर्थ भैंस न करके रानी का अर्थ ही लिया और 'दृष्टि विरोधादप्रमाणम्' लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा। पंडित जी का उपरोक्त कथन सर्वथा ठीक नहीं हैं। पशु यदि द्विपाद अवस्था में खड़ा हो सके अथवा मानुषी ही यदि पशु की तरह चतुष्पाद स्थिति मेंआ जाए तो उन दोनों के अंगो की आनुपातिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं होगा। इसी भूल के कारण ही, जीवित अश्व का रानी के साथ सम्पर्क न हो सकने के कारण ही; कर्मकाण्ड की औपचारिकता निभाने के लिए ही सदा से एक सुन्दर प्रशिक्षित अश्व, जो जीवित रहते हुए न जाने कितने ही वीर अश्वों का पिता बनता, वाममार्गी मूर्खता की बलि चढ़ता रहा हैं। क्या अब भी मध्यकाल मेंइस्लामी आक्रमणों केसमय अश्वसाद वाहिनियों की कमी के कारण अप्रतिम शौर्य के धनी होते हुए भी हिन्दुओं की पराजय पर आश्चर्य किया जाएगा? महीधर और उसके वाममार्गी साथियों ने अपने गुह्य दुष्कर्मो को सार्थकता प्रदान करने के उद्देश्य से वेद—सम्मत दिखाने के लिए महिषी का अर्थ भैंस न करके, रानी अर्थ किया तो आश्चर्य ही क्या। रही अश्लील सम्भाषण की बात, तो जिसे मेंले—हाट मेंअश्व और महिषी का ही क्यों किसी भी पशु का संयोग सार्वजनिक रूप से समारोह पूर्वक दिखाया जा रहा हो, वहां वायुमण्डल में निश्चित ही सात्विक भावनाएं नहीं होंगी और वहां का दृष्य देखने के लिए समुत्सुक समुदाय में धर्म चर्चा के स्थान पर काम—चर्चा का ही प्राधान्य होना ही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता हैं। पतनोन्मुखी रोम साम्राज्य का आभिजात्य वर्ग भी पशु समागम के दृश्य देख देख कर ही उत्तेजना का अनुभव करते हुए रत्योत्सुक हुआ करता था (होवर्ड फास्ट—स्पार्टैकस)।

देवों को अपने इन विजातीय पशुसंकरीकरण के प्रयोगों मेंकितनी सफलता मिल पाई थी कहना आज कुछ कठिन हैं। किन्तु यदि पुराणों और मिस्त्र यूनान आदि देशों की अनुश्रुतियों में वर्णित मिश्र और विचित्र पशुओं के अस्तित्व पर विश्वास किया जा सके, तो निश्चित ही उनके कुछ प्रयास अवश्य सफल हुए होंगे।

६. कृन्तकीकरण और भ्रूण प्रत्यारोपण :

कहा गया हैं कि प्रजापति ने मनन किया और तब मनुष्यों की रचना की। इसीलिए मनस्वी (मनन शक्ति से युक्त—सायण) होने के कारण ही वे मनुष्य

कहलाए—*स (प्रजापतिः) पितॄन्सृष्ट्वाऽमनस्यत्। तदनु मनुष्यानसृजत। तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्। मनस्व्येव भवति* (तै.ब्रा. २.३.८.३)। अब तक वेदों में उपलब्ध जीव विज्ञान और आयुर्विज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं उनको देखते हुए देवों द्वारा वानर पशु को शल्य क्रिया द्वारा मनुष्य में उत्परिवर्तित किया जाना स्वीकार कर लेने से अपने इतिहास के ही नहीं, वरन अन्य संस्कृतियों की अनुश्रुतियों में सुरक्षित अनेक तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाते हैं।

ब्रह्मा द्वारा अपने शरीर के दो भाग करके एक से पति और दूसरे से पत्नी बनाना— *"सऽइममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां।... ततो मनुष्याऽअजायन्त"* (श. ब्रा. १४.४.२.५) और इला का पुरुष और स्त्री दोनों ही होना (श्रीमद् भागवत ६.६.३०–३१) जैसे अनेक उल्लेख इस समस्या पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। कहा गया है कि अश्विनी कुमारों ने मान्धाता को उसके पिता के शरीर से (शल्य क्रिया के द्वारा) बाहर निकाला था (म.भा.७.६२–४)। दक्ष और उसकी पत्नी क्रमशः ब्रह्मा के दाएं और बाएं अगूठे से उत्पन्न हुए थे (वही १.६६.१०–११)। अगस्त्य ने पत्नी पाने की इच्छा से एक दिव्य—देवों के विज्ञान की सहायता से रची गई — स्त्री की रचना करके उसे विदर्भ राज को पालने के लिए सौंपी थी (वही ३.६६.२१)। जहां ये सभी सन्दर्भ कृन्तकीकरण (cloning) की ओर संकेत करते हैं वहीं सूर्य का अश्विनी रूपिणी त्वष्टा की पुत्री संज्ञा से संयोग करके अश्विनी कुमारों को उत्पन्न करना (बृहद्देवता ७.११.३–६, म.भा. १३.१५०–१), कश्यप का गौ सुरभि से नन्दिनी को (म.भा. १.६६.८–१४) तथा कद्रू और वितना से क्रमशः सर्पों और गरुड़ों को उत्पन्न करना (वही १.१६.६) भ्रूण प्रत्यारोपण की प्रक्रिया की ओर इंगित करते हैं। इस प्रकार के कृत्रिम प्रजनन में असम्भव कुछ भी नहीं है। जहां वेद में इन्द्र द्वारा घोड़ी को गाय की माता बनाए जाने का उल्लेख हुआ है, वहीं बौद्धों के शास्ता भगवान बुद्ध के समसामयिक, जैनियों के चौबीसवें तीर्थकार महावीर स्वामी का जन्म भी भ्रूण के प्रत्यारोपण से ही हुआ बताया गया है।

• • • • • • • • • •

६: जीव और ज्ञान की उत्पत्ति

६. जीव और ज्ञान की उत्पत्ति

१. जीव की उत्पत्तिःवेद और विज्ञान :

अब तक हमने देखा कि अलग अलग स्थापित वस्तुओं के मिलाने और मिली हुई वस्तुओं को पृथक करने — *स सन्नयः स विनयः पुरोहितः* — करने में अत्यन्त कुशल देवों ने (२.२४.९) स्वर्ग से आकर स्तोताओं के विविधि वस्तुएं दी थीं — *दिवः शशासुर्विदथा कवीनां* (३.१.२)। उन शोभन दान देने वाले— *सुदानवः* — देवों ने पृथिवी पर आकर गौ, अश्वादि पशु और औषधि—वनस्पति आदि खाद्यान्न उत्पन्न किए हैं— *ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन्* (१०.६५.११)। अब जिस सत्य बात को हम नहीं जानते उसे हमारी बुद्धियों में प्रेरित करने की प्रार्थना की जाती है— *यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्मधियो हिन्वानो धिय इन्नो अव्याः* (१०.१३६.५)। अन्यत्र, इन्द्र से बुद्धि को तलवार की धार जितना तीक्ष्ण करने के लिए अनुरोध किया गया है— *चोदय धियमयसो न धाराम्* (६.४७.१०), और प्रार्थना की गई है कि हमे वह विद्या सिखाओ जिससे हमारी सभी अभिलाषाएं पूर्ण हों — *तां शिक्ष या दोहते प्रति वरं जरित्रे* (१०.१३३.१)। यहां जिस प्रज्ञा को प्राप्त करने की कामना व्यक्त की गई है उसे वेद मूलक आर्ष परम्परा में प्राण का सहभावी अथवा पूरक ही माना जाता है। कहा भी गया है— *यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः* (कौ.ब्रा.उ. ३.३)। यतः प्राण ही जीवं है, अब आगे आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में जीव (और प्राण तथा प्रज्ञा) की उत्पत्ति सम्बन्धी वैदिक अवधारणाओं का आकलन प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

यद्यपि परिणाम में वेद और आधुनिक विज्ञान, इन दोनों ही दृष्टियों में अद्भुत समानता है, किन्तु चरम निष्कर्ष के प्रति दोनों में मौलिक अन्तर है। इस अन्तर के कारण ही आज के वैज्ञानिक की दृष्टि वहां तक नहीं जा पाई है जहां वेद ज्ञान को प्रसिद्ध करने वाले देव पहुंच गए थे। इस अन्तर का कारण आधुनिक विज्ञान की उत्पत्ति और विकास के समय की परिस्थितियों और तज्जन्य मनोवृत्तियों में देखा जा सकता है। ईसाई पंथ संघ की बुद्धि को जड़ कर देनी वाली मान्यताओं और स्वतंत्र चिन्तन को रुद्ध कर देने वाली आस्थाओं के घटाटोप के विरुद्ध विद्रोह के रूप में जन्मा था यह विज्ञान। यहूदी—ईसाई परम्परा में मान्य निरंकुश, स्वेच्छाचारी और किसी माफिया गिरोह के मुखिया जैसे असहिष्णु और प्रतिशोध कामी ईश्वर (कॉलिन मेन १९८५, कोएनराड एल्स्ट १९९३) के वर्चस्व को अस्वीकार करके ही आधुनिक विज्ञान ने प्रयोगशाला में परीक्षण द्वारा प्रत्यक्ष किए जा सकने वाले तथ्यों को ही सत्य मानने और स्वीकार करने की प्रतिबद्धता अपनाई थी। अतः वैज्ञानिक भले ही व्यक्ति के रूप में कितना ही विश्वास न करता हो, उसकी पद्धति उसे जड़ और दृश्यमान प्रकृति के परे जाकर किसी चैतन्य स्वरूप किन्तु अदृश्य सत्ता को स्वीकार करने की अनुमति नहीं देती है। अतः जड़ प्रकृति के घटकों के संयोग वियोग से विकसित संसार में चेतन तत्व को प्रेरक न मानकर, मात्र आकस्मिक घटना ही मान लिया जाता है — *तच्चैतन्य विशिष्ट देव एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्* (सर्वदर्शन संग्रह, चार वाक दर्शन = स्वामी दयानन्द १९७०:१३)। इसीलिए, विज्ञान की विकास वादी विचारधारा

समस्त प्राणि जगत का विकास एक कोशीय प्राणी के आद्य वंशजों की सन्तति उपसन्तति की शाखाओं–प्रशाखाओं से हुआ मानती है और अपनी इस स्थापना की पुष्टि के लिए भ्रूण शास्त्र, तुलनात्मक शरीर रचना शास्त्र आदि कितने ही नये पुराने शास्त्रों की सहायता से प्रमाण जुटाने का प्रयास करती है (स्पेन्सर १९६२:४०३ और आगे)।

कुछ ही समय पूर्व जर्मनी के हिरोनिमस रिश्तर और इंगलैंड के ग्लासगो विश्वविद्यालय के प्राचार्य लार्जेस के लार्ड केल्विन ने जीवन की उत्पत्ति का समाधान खोजते हुए कहा था कि आदि में जीवन पृथिवी पर न उत्पन्न होकर, ब्रह्माण्ड की गहराइयों में परम व्योम से जीवाणुओं के रूप में आया था। उनका मानना था कि जीवन के एक कोशीय बीज परम व्योम का शीत सहते हुए, उल्काओं और उनकी धूलि के साथ ही पृथिवी पर आए थे और प्रकाश की जीवनदायिनी ऊर्जा और ऊष्मा के प्रभाव से यहीं उन्नत प्रजातियों के रूप में विकसित हुए थे (कैरिंगटन १९५८: ६७, डानिकेन १९७५, ६५)। मगर धीरे धीरे अब विश्वास किया जाने लगा है कि 'जड़' में होने वाली किसी अज्ञात रासायनिक प्रक्रिया के फलस्वरूप भी जीवन की उत्पत्ति सम्भव है। जीवाणुओं–विषाणुओं के सम्बन्ध में हुए परीक्षणों से इस मान्यता की पुष्टि होना माना जाने लगा है। इन परीक्षणों से जीवाणुओं–विषाणुओं का अथावसर जड़ और चेतन–दोनों–होना सिद्ध मान लिया गया है। ईस्वी सन१९३५ में डब्ल्यू. एम. स्टेनले ने तम्बाकू के पौदों पर लगने वाले धब्बा रोग के विषाणुओं की पहचान करने में सफलता पाई थी। उसे तब ये जड़ ही प्रतीत हुए थे। परन्तु जब इन्हीं को तम्बाकू के स्वस्थ पौदों में प्रविष्ट कराया गया तो ये बढ़ने लगे और धीरे धीरे उसके सभी अंगों में फैल गए थे। तभी से यह माना जाने लगा है कि ये जड़ होते हुए भी किसी विशिष्ट रासायनिक प्रक्रिया से चेतन अथवा जीवित हो उठते हैं (कैरिंगटन १९५८:६६–७१)। प्रयोगधर्मी वैज्ञानिक अभी इससे अधिक सुपुष्ट निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाए हैं और जीवन की उत्पत्ति की प्रक्रिया को समझ कर उसे प्रयोगशाला में दुहराने के लिए प्रयत्नशील हैं। इस मान्यता के विरोध में कहा जा सकता है कि विष कभी भी जड़ पदार्थ पर प्रभावी नहीं होता है; वह तो केवल चेतन अर्थात जीवित शरीर को ही प्रभावित करता है। और भी, यान्त्रिक भौतिकी के जन्मदाता सुप्रसिद्ध सर आइजक न्यूटन ने प्रतिपादित किया था कि जब तक कोई शक्ति प्रेरणा देकर दिशानिर्देश न दे, तब तक जड़ पदार्थ का प्रत्येक कण अपनी स्वाभाविक स्थिति में ही रहता है और यदि गतिशील हुआ तो एक ही दिशा में गति करता रहता है। इसी प्रकार यहां चेतन के सम्पर्क में आकर ही, उससे प्रेरणा–निर्देश पाकर ही, जीवाणु–विषाणु का क्रियाशील हो उठना क्यों न माना जाए?

अभी भी तत्वबोध की स्थिति नहीं आ पाई है और वाद–संवाद जारी है। हाल ही में इंगलैंड के ज्योतिर्विद फ्रेड हॉयले ने डार्विन के विकासवाद में जीवन की आकस्मिक उत्पत्ति की मान्यता पर प्रश्न चिन्ह लगा कर, रिश्तर और लार्ड केल्विन की मान्यता तो दुहराते हुए कहा है कि जीवन धूमकेतुओं जैसे पदार्थों के साथ पृथिवी पर आया था। उसका कहना है कि खगोल में हुई किसी विश्वस्तरीय व्यापक दुर्घटना के कारण हुए पूर्वसमेकित प्रज्ञा के विनाश के फलस्वरूप ही मनुष्य की उत्पत्ति सम्भव

हो सकी है। इस केन्द्रीभूत प्रज्ञा में हुए विस्फोट के कारण ही उसका कण कण विखर गया था और उन्हीं से पृथिवी पर, अपने विकास का उचित अवसर पा जाने पर, परम व्योम से सतत आते रहने वाले अतिरिक्त आनुवंशिक तत्वों के सहयोग से ही विविध प्राणियों का विकास हुआ है (डानिकेन १६८६:१६१)। दूसरे शब्दों में कहें तो आदि मूल समेकित (कम्प्यूटरीकृत) प्रज्ञा ने विस्फोट के बाद होने वाले विकास की धारा की दिशा निश्चित करके ही अपना सर्वात्म होम दिया था। उसके सभी चुम्बकीय कण निश्चित अवधि तक विलग रहने के पश्चात, पूर्वयोजना के अनुसार एक बार फिर संयुक्त होंगे और तब प्रत्येक घटक आदि प्रज्ञा से प्राप्त ज्ञान को अपने अनुभवों से समृद्ध ही करेगा। परन्तु 'बृहत् विस्फोट' 'सर्वहुत' या 'सर्वमेघ' के समय से पुनः संपृक्त होने की दीर्घ अवधि में किसी भी कण को किसी मूल चेतना द्वारा अनुप्राणित होने का भान नहीं है और न उसके पास अपनी इस महायात्रा के उद्देश्य एवं अपने रचयिता के अस्तित्व जैसे प्रश्नों का उत्तर ही है। इसी से, इस सृष्टि को कार्य और कारण, दोनों ही कहा जा सकता है (डानिकेन १६७५:१६१)।

जीवन के परम व्योम से आकर पृथिवी पर पल्लवित पुष्पित होने की इस स्थापना का समर्थन एक अन्य सुझाव से भी होता है। हार्वड विश्वविद्यालय (अमरीका) के ज्योतिर्विद कार्ल सागां तथा स्टर्नबर्ग संस्थान (मास्को, रूस) के प्राचार्य दिमित्री मार्तिनोव ने शुक्र ग्रह (जहां धरातल का तापमान ४८० सेन्टीग्रेड, वायुमंडल का दबाव ५० से ७०, कार्बन डाई आक्साइड की मात्रा ६३ प्रतिशत से ६७ प्रतिशत, आक्सीजन ०.४ प्रतिशत तथा जल तत्व प्रतिलिटर ४ से ११ मिलीग्राम है) को जीवन धारण में समर्थ बनाने के लिए उस पर नील शैवाल के प्रक्षेपण का सुझाव दिया है। शैवाल की यह प्रजाति अत्यधिक उच्चतापमान में भी पनप सकती है। इसकी उपस्थिति से कार्बन डाई आक्साइड की मात्रा घटेगी, आक्सीजन की मात्रा बढ़ेगी, प्रारम्भ में तापमान घट कर मात्र १०० सेन्टीग्रेड रह जाएगा और शनैः शनैः वर्षा होकर बाढ़ आने लग जाएगी। तब प्रकाश, आक्सीजन और जल के समवेत प्रभाव से जीवन का प्रादुर्भाव हो सकेगा (डानिकेन १६७६-२६२-६४; १६७५:२०५-०६)। प्राचार्य हाब्ज हाबेर तो मानते है कि जीवन निष्क्रिय प्रकृति पर निर्भर न रह कर, अपने विकास के संसाधन स्वयं ही जुटा लेता है और किसी भी ग्रह पर अपने विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर ही लेता है (वही १६७५:६४)।

आधुनिक विज्ञान के इन वाद-विवादों और क्रमशः सत्य के समीप पहुंचते जाने की प्रवृत्ति के विपरीत, वेद-मूलक आर्ष परम्परा तो प्रारम्भ से ही आदि सर्ग की समस्त शरीर रचना को दैवी सृष्टि मानती आ रही है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में कहा गया है कि सभी प्रकार के शरीर धारी आदि सृष्टि में उस अमृत पुरुष के परम चेतन तत्व से आप ही आप उत्पन्न हो जाते हैं (१०.६०.५)। आचार्य प्रशस्तपाद ने वैशैषिक दर्शन के भाष्य में स्पष्ट लिखा है कि आदि सृष्टि में योनि जन्म की अपेक्षा न करते हुए, शुक्र शोणित के बिना ही शरीर अपने विशेष धर्मों के साथ परमाणुओं से ही उत्पन्न हो जाते हैं—*तत्रायोनि जमनपेक्षितं शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो*

जायते (विद्यानन्द १६६२ : ८७० पर उद्धृत)। रक्त, रज और वीर्य भी तो अन्ततः परमाणुओं के और परमाणु स्वयं प्रकृति के सत्व, रजस और तमस् संज्ञक तीन गुणों के विकार ही हैं।

पुरुष सूक्त में उत्पन्न होने वाले चतुष्पाद और द्विपाद प्राणियों के बहुवचनान्त प्रयोग को देखते हुए, आदि सृष्टि में ही अनेक प्राणि युगलों की उत्पत्ति वेदानुमोदित प्रतीत होती है। उसी से साजात्य प्रजनन और अनुरूप प्रजा की उत्पत्ति सम्भव हो सकेगी— *अनुरूपाभ्यां तस्मादनुरूपाः पशवः प्रजायन्ते* (तैस. ५.१३.१)। विविध प्राणियों के एक साथ उल्लेख से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद के अनुसार विविध प्रजातियों के प्राणियों की पृथक् पृथक् स्वतन्त्र सत्ता थी और इसी से इतना सृष्टि वैचित्र्य है। आज ज्ञात असंख्य देहधारी— वे भी जो आज जीवित हैं और वे भी जो लुप्त हो चुके हैं और जिन्हें उनके अश्मास्थि अवशेषों से ही पहचाना जाता है — वे सभी अपनी सृष्टि के आदि से ही उसी रूप में चले आ रहे हैं। वे किसी मूल योनि, एक कोशीय जीव, की शाखा प्रशाखा न होकर, स्वतंत्र योनियां हैं। उनका नाश तो हो सकता है, किन्तु योनि परिवर्तन नहीं हो सकता है। भ्रूण शास्त्र और तुलनात्मक शरीर रचना शास्त्र से प्राप्त होने वाले साक्ष्यों को केवल एक ही सर्जक कलाकार की कृतियों में पाई जाने वाली शैलीगत एकरूपता ही कहा जा सकता है।

२. मानव और ज्ञान की उत्पत्ति : आधुनिक विज्ञान :

शरीर रचना की दृष्टि से मनुष्य के निकटतम सम्बन्धी माने जाने वाले वानर प्रजाति के आद्य पूर्वज—प्राइमेट्स—के अस्तित्व के प्रमाण उत्तर जैविक महायुग के प्रारम्भ से ही मिलने लगते हैं किन्तु अभी भी इसकी संख्या नगण्य ही थी। अनुमान किया गया है कि अन्य पशुओं की अपेक्षा हल्के और अधिक बुद्धिमान होने के कारण ये डूब कर कम मरते थे। अस्थि अवेशेषों के सुरक्षित मिलने के लिए इनका जलाशयों के तल में एकत्र दलदल में दबना आवश्यक होता था, पृथिवी पर तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध जैविक अम्ल इन्हें शीघ्र ही विगलित कर डालते थे। जो कुछ भी हो, मिस्र में काहिरा के पास फयूम के सूखे जलाशय के उत्तर जैविक महायुग के ४ करोड़ ५० लाख से ३ करोड़ वर्ष पूर्व की अवधि में व्याप्त तीसरे ओलिगोसीन युग के ऊपरी स्तरों से *परापिथेकस* प्रजाति के अवशेष मिले हैं। उसी स्थान के कुछ और ऊपरी स्तरों से *प्रोलियोपिथेकस* प्रजाति के अवशेष मिले हैं (सोनिया कोल १६५४: ५४–५५, २०५)। अगले *मिओसीन युग* में तो वानरों की जिन अनेक प्रजातियां के विकास की बात कही जाती है, उनमें तीन प्रजातियां प्रमुख हैं— *प्रोकान्सल*, जिनसे चिम्पांजी, *प्रियोपिथेकस* जिनसे गिबन और *ड्रायोपिथेकस* जिनसे चिम्पांजी से भी लघुतर वानर का विकास माना जाता है। इनमें से प्रथम तो अफ्रीका महाद्वीप में सीमित रह गया था, किन्तु अन्य दो प्रजातियां शीघ्र ही उत्तर में योरोप और पूर्व में एशिया तक फैल गई थीं (कॅरिंगटन १६५८:२१४)।

उत्तर जैविक महायुग के अन्त अथवा चतुर्थ — प्लायस्टोसीन —जैविक

महायुग के १० लाख वर्ष पूर्व हुए प्रारम्भ के साथ ही हम काल की उस सीमा पर आ पहुंचते हैं जहां से पुरुषकार द्विपाद प्राणियों के अस्थि अवशेष मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। इन्हें अनेक वानर प्रजातियों से भिन्न मानने का प्रमुख कारण है इनकी उपकरणों के प्रयोग की ही नहीं, वरन उनके निर्माण की प्रवृत्ति। यद्यपि वानर भी कभी कभी उपलब्ध सामग्री का उपकरणों की तरह प्रयोग करते हुए देखे गए हैं किन्तु उनमें पूर्वनिश्चित आकार के उपकरणों के निर्माण की क्षमता का नितान्त अभाव होता है। इस चतुर्थ महायुग का प्रारम्भ उत्तरी अक्षांशों में युगान्तकारी हिमाक्रान्ति और दक्षिणी अक्षाशों में जलप्लावन से हुआ था। इस हिमाक्रान्ति — जलप्लावन के कम से कम चार चक्रों के बीच की निखरी सुथरी स्थितियों में इन आदि पुरुषों के उपकरणों का सन्धान मिलता है। उपकरणों के निर्माण की विकसित परिवर्तित होती शैलियों के आधार पर विभिन्न काल के विविध संग्रहों को अनेक नाम दिए गए हैं।

वास्तविक मनुष्य के आनुमानित वंश वृक्ष का प्रारम्भ अफ्रीका में होना माना जा रहा है। मनुष्य की निकटतम वानर प्रजातियों ने वहीं अपने विकास के अनेक प्रारम्भिक चरण पूरे किए थे और वहीं से चल कर उन्हें एशिया में फैला बताया जा रहा है। उत्तर जैविक महायुग के एक करोड़ ८० लाख वर्ष पूर्व तक ही अवधि में व्याप्त अन्तिम प्लियोसीन युग के अन्त अथवा चतुर्थ महायुग के प्रारम्भ में अफ्रीका में आने वाली प्रजातियां तथा इसी चतुर्थ महायुग की २ लाख २० हजार से १ लाख ८० हजार वर्ष पूर्व की अवधि में होने वाली तीसरी हिमाक्रान्ति की अवधि में एशिया के किसी अद्यावधि अज्ञात स्थान से चल कर मनुष्य की आधुनिक प्रजातियां योरोप पहुंची थीं (कॅरिंगटन १९५८:२१९)। यहां यह जानना अत्यन्त रोचक होगा कि अभी तक अमरीका और आस्ट्रेलिया में न तो वानर अथवा पुरुष प्रजातियों के विकास के ही संकेत मिलते हैंऔर न ही पाषण कालीन उपकरणों के अस्तित्व के प्रमाण। अभी तक यही स्वीकार किया जा रहा है कि मानव एशिया के उत्तर पूर्वी छोर पर स्थित बेरिंग जलडमरूमध्य के स्थल मार्ग से होता हुआ ही बहुत बाद में अमरीका पहुंचा था और आस्ट्रेलिया में तो उसके २५ सहस्त्र वर्ष पूर्व दक्षिणी पूर्वी एशिया से ही वहां पहुंचने के प्रमाण मिल चुके हैं। (वही २२०)।

शरीर रचना की दृष्टि से दक्षिण अफ्रीका के *आस्ट्रालोपिथेकस* को वानरों और मनुष्यों के बीच की लुप्त कड़ी के रूप में मान्यता दी गई है। यह गुहाओं और शिलाश्रयों में रहता था परन्तु अभी तक इसके द्वारा उपकरणों के प्रयोग और निर्माण का पता नहीं चल पाया है (क्लार्क १९५६:५८—७२)। इसके बाद चीन और जावा के *पिथेकैन्थ्रापस* प्रजाति का अस्तित्व स्वीकार किया जा रहा है। बाइजिंग से ६४ किलोमीटर दक्षिण पश्चिम में चाऊ कोतीन नामक स्थान से ५ लाख वर्ष पूर्व के पुरुषों के अस्थि अवशेष मिले हैं। यह पुरुष अनेक अर्थो मे विलक्षण माना जाता है। इसकी गुहाओं में मिले कणाश्म (क्वार्ज) के उपकरण इसे प्रथम निर्माता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। वहीं अनेक चूल्हे भी मिले हैं जिनसे इसकी यथेच्छ रूप से अग्नि उत्पन्न कर सकने की अर्जित सामर्थ्य का भी परिचय मिलता है। इसके कपाल का

आयतन (८५० सी.सी. से १३०० सी.सी. के बीच) १०७५ सी.सी. था जो कि जावा के पुरुष की अपेक्षा २१५ सी.सी. अधिक और अफ्रीका की वर्तमान वन्य प्रजातियों के समतुल्य है। जावा से मिले अस्थि अवशेष चीन की अपेक्षा अर्वाचीन माने जाते हैं। किन्तु अभी तक इनके द्वारा प्रयुक्त उपकरणों की पहचान नहीं हो पाई है (कैरिंगटन १९५८:२२४-२२६)।

यद्यपि योरोप में मनुष्य *प्लायस्टोसीन*— चतुर्थ महायुग के प्रारम्भ में ही आ चुका था, किन्तु तीसरी हिमाक्रान्ति के पूर्व का अभी तक एक ही अवशेष मिल पाया है। इस *नियन्डरथल* संज्ञक पुरुष की सन्तति ने मध्य पाषाण काल में सम्पूर्ण योरोप पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। पुरुषों की इस प्रजाति को चीनी पुरुष का वंशज और पूर्व में एशिया के किसी अज्ञात स्थान से आया हुआ माना जाता है (कैरिंगटन १९५८:२३१-२)। इसकी शरीर यष्टि छोटी और चौड़ी थी और चाल लटपटी रही होगी। इसमें ठुड्डी का अभाव था। इसके कपाल का आयतन १६२५ सी.सी., आज के सामान्य योरोप वासियों से कुछ अधिक, था। इसके उपकरणों को *माउस्टीरियन* संस्कृति के अन्तर्गत रखा जाता है। ऐसा अनुमान है कि इस प्रजाति का समूल नाश चौथी हिमाक्रान्ति की पराकाष्ठा के दिनों में पड़ी विकट ठंढ और उसके फलस्वरूप हुए खाद्य सामग्री के अभाव के कारण हुआ था (वही २३५)

इसी समय अथवा थोड़ा ही बाद ६० से ५० सहस्रवर्ष पूर्व की अवधि में आधुनिक मनुष्यों के वे पूर्वज जिन्हें 'प्राज्ञ पुरुष' (*'होमो सैप्यन'*) कहा जाता है एक बार फिर पूर्व में एशिया के ही किसी अज्ञात प्रदेश से आकर धीरे धीरे सारे योरोप में फैलने लगे थे। ये पूरी तरह सीधे खड़े हो सकते थे। यद्यपि इनके कपाल का आयतन *नियन्डरथल* संज्ञक पुरुषों से अधिक नहीं था, इनका मस्तिष्क बुद्धि और तर्क का नियन्त्रण करने वाले क्षेत्रों में अधिक विकसित था (वही २३६,२३८)। इनकी प्रजातियों के प्रमुख भेदों में *क्रो—मैग्नन्*, मोराविया का *प्रेड मॉस्ट* और ग्रिमाल्डी से प्राप्त अवशेष, जिन्हें आज कल की अफ्रीकी नीग्रो प्रजातियों का पूर्वज माना जा रहा है, उल्लेखनीय हैं। इनके उपकरणों को ५० से १० सहस्त्र वर्ष पूर्व की अवधि में पाई जाने वाली *औरिगनेशियन*, *सौल्यूट्रियन* और *मैग्डलोनियन* संस्कृतियों का नाम दिया गया है (ओकले १९६२:६२-६४)।

इस अति संक्षिप्त विवरण से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि प्रथम हिमाक्रान्ति के उत्तरार्ध में लगभग ६ लाख वर्ष पूर्व से लेकर चतुर्थ हिमाक्रान्ति की १०—१२ सहस्त्र पूर्व हुई समाप्ति तक की सुदीर्घ अवधि में पुरुषाकार प्राणी आखेट और कन्द—मूल एवं फलों जैसी वनोपज का संग्रह करता हुआ ही जीवन यापन करता रहा था। इससे यह भी पता चलता है कि इसी अवधि में मनुष्य की तथाकथित क्रमशः विकसित होती हुई प्रजातियां समय-समय पर 'पूर्व में एशिया के किसी अद्यावधि अज्ञात प्रदेश' से ही चल कर योरोप आदि सुदूर देशों में फैलती रही हैं। इसके तुरन्त बाद,१०—१२ सहस्त्र वर्ष पूर्व हुई चतुर्थ हिमाक्रान्ति की समाप्ति से प्रारम्भ होने वाले युग,जो कि भूगर्भ शास्त्र की दृष्टि से चतुर्थ महायुग का विस्तार ही है, के सांस्कृतिक वैभिन्नय को रेखांकित करने के लिए, 'वर्तमान' (*होलोसीन*) नाम दे दिया गया है (कैरिंगटन

१०५८:२२१; रिवेन्नेटिन १९५८:१६१)। इस युग के प्रारम्भ की सहस्राब्दी में मनुष्य ने आखेट और कन्द—मूल फल जैसी वनोपज के संग्रह के साथ साथ ही मानवोपयोगी वन्यधान्यों को पहचान करके उनके बीजों को दरांती से काट कर संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया था और फिर एक या दो सहस्राब्दियों में ही कृषि कर्म के द्वारा उनके उत्पादन में भी कुशलता प्राप्त कर ली थी। इसके बाद होने वाले विकास की अति तीव्र गति को देखते हुए ही प्रायः सभी पुरातत्वज्ञ इसे 'विस्फोटक उत्क्रान्ति' मानते हैं (गार्डन चाइल्ड १९५१)।

परन्तु इस विकास को 'विस्फोटक' मानने वाले अध्येताओं ने छठी सहस्राब्दी पूर्व तक बन चुके सुमेर के विशाल जिगुर्तो मिस्र और दक्षिणी अमरीका के विशाल काय चतुरश्र महाचैत्यों और उनके कुछ समय बाद ही पश्चिमी योरोप और इंगलैंड के 'स्टोनहेन्ज' और 'बृहत् शिला शवाधारों (मेगालिथों) और उनकी पृष्ठ भूमि में निहित समुन्नत ज्योतिर्विज्ञान तथा अन्य सहस्त्रों वर्षो के इतिहास को सुरक्षित रखने वाली अनुश्रुतियों का समुचित आकलन — आलोड़न नही किया था। उस समय तक बाइबिल के प्रति पूर्वाग्रह पूर्ण पक्षपात और ईसाई पंथ के प्रचार के उत्साह मे भारत में सुरक्षित आर्ष परम्परा के सारभूत वेदों में परोक्ष कथन के रूप में निहित वैज्ञानिक सत्यों को बालिश मनोवृत्ति की कल्पना मूलक उपज मान कर ईसा पूर्व की १२वीं और उसके बाद की शताब्दियों में असभ्य चरवाहों द्वारा रचा माना जा चुका था (मैक्स म्यूलर १८५६:२६२, ३१३,३३५ तथा ४६७; १८६०:६१ इत्यादि)। परन्तु ६ लाख वर्षो की ठहरी हुई पशुवत जीवन यापन शैली के परिप्रेक्ष्य में नौवीं—आठवीं सहस्राब्दी से लेकर छठी सहस्राब्दी के अन्तराल के २ सहस्त्र वर्षो में हुई अभूतपूर्व प्रगति को तथाकथित वैज्ञानिक विकास वाद के किसी भी तर्क से नहीं समझा—समझाया जा सकता है।इसे समझाने के लिए जीवोत्पत्ति और ज्ञानोत्पत्ति के वेदानुमोदित आर्ष सिद्धान्तों का आकलन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी प्रतीत होता है।

३. शरीर की उत्पत्तिः आर्ष परम्परा :

कहा जा चुका है कि आदि सृष्टि में अमृत पुरुष चैतन्य स्वरूप परमात्मा से ही प्राणियों के शरीर आप ही आप उत्पन्न हो गए थे। पुरुषेतर प्राणियों में जन्म लेते ही लगभग स्वतंत्र रूप से जीवन यापन कर सकने का नैसर्गिक ज्ञान और स्वाभाविक सामर्थ्य को देखते हुए, आदि सृष्टि में प्रादुर्भूत अन्य प्राणियों के वय की ऊहा उतनी आवश्यक नही है जितनी पुरुष के वय की। वेद के अनन्य भक्त और आर्ष साहित्य में अबाधगति रखने वाले अगाध पाण्डित्य के धनी ऋषि कल्प स्वामी दयानन्द सरस्वती का सुचिन्तित निष्कर्ष था कि सर्ग के आदि में मनुष्य पूर्ण युवावस्था में ही उत्पन्न हुए थे (१६७०८—२२३)। बालक के रूप में उत्पन्न होने पर उनके पालन पोषण के लिए किन्ही अन्य समर्थ प्राणियों की अपेक्षा होती है किन्तु सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण उनसे पूर्व किसी अन्य के होने की सम्भावना का तो कोई प्रश्न ही नही उठता है। वैसा मानने पर अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। नौ—दस मास तक गर्भ में संबर्धित होकर जन्म लेने के बाद द्विपाद पुरुष का शिशु इतना असहाय होता है कि उसके स्वतः अपना पालन—पोषण एवं संरक्षण में समर्थ होने की कल्पना भी नहीं की जा

सकती है। दूसरी ओर, यदि वृद्धावस्था में पुरुष का आदि जन्म माना जाए तो वह आगे साजात्य प्रजनन करके वंश वृद्धि करने में असमर्थ ही होगा। अतः आदि सृष्टि में पुरुष का प्रादुर्भाव देह की ऐसी स्थिति में ही हुआ होगा जब वह अपने पालन पोषण एवं संरक्षण के लिए स्वयं ही सर्वथा समर्थ ही न हो, वरन साजात्य प्रजनन करता हुआ सृष्टि क्रम को आगे भी बढ़ा सके। अमरीका के बोस्टन नगर में स्थित स्मिथसोनियन संस्थान के प्राणि विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा. क्लार्क के अनुसार भी मनुष्य का प्रादुर्भाव ऐसी अवस्था में ही हुआ होगा जब वह चल सकता था, सोच–समझ सकता था और अपनी रक्षा स्वयं कर सकता था (स्वामी विद्यानन्द १९८६:६१, १९९२:८७८)।

यह आदि सृष्टि सर्वात्मना ईश्वरीय ही होती है। उस समय सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य विद्यमान ही नहीं होता है। उस समय नर–नारी का परस्पर सम्पर्क ही नहीं हो सकता था क्योंकि तब तक गर्भ स्थिति में सहायक अथवा देह के बाहर निकलने के योग्य योनि मार्ग का अस्तित्व ही नही था। अतः यही मानना पड़ेगा कि ईश्वर की प्राकृत व्यवस्था के अनुसार ही पुरुष के बीजों–रज, वीर्य के मूल तत्वों – को किन्हीं विशिष्ट कोशों में एकत्र करके, उनमें चेतन तत्व–जीव–का प्रवेश करा देते ही शरीर रचना प्रारम्भ हो गई होगी (वही १९९२:८७६,७७)। इसीलिए वेद में भी *'द्यौर्मे पिता जनिता माता पृथिवी महीयम्'* (१.१६४.३३) कह कर द्युलोक से आए पिता के बीज का माता पृथिवी के गर्भ में स्थापित होना कहा गया है। इन्हीं पार्थिव कोशों में पुरुष का शरीर पुष्ट होता रहा होगा और यथा–समय उनमें से पूर्ण शरीर निकल आए होंगे – *सद्यो वृद्धो अजायथा* (तै.सं. ३ ४.११४); *सद्यो जज्ञानो वि ही भिद्धो* (वही ४.२.१.२)।

इस आदि सृष्टि के प्रादुर्भाव के बाद कृमि, कीट, पतंग, पक्षी और पशु आदि प्राणी अपनी जीवन यात्रा में अनेक विस्मयोत्पादक कार्य करते हैं यथा–मधुमक्खी का छत्ता, बया का घोंसला, चीटियों की बांबी तथा ऊदबिलाव का जल में ही खुलने वाला तटभूमि को खोद कर बनाया गया गुहागृह तथा बांध आदि। उन्होंने ये विद्याएं किसी से सीखी नहीं हैं, वे इनके आद्य आविष्कर्ता भी नहीं हैं, वे अपनी ये विद्याएं, साहचर्य और अनुकरण को छोड़ कर, किसी को निश्चयपूर्वक सिखाते भी नहीं है और न ही इन विद्याओं में प्रारम्भ से लेकर आज तक किसी प्रकार का कोई विकास ही परिलक्षित किया जा सका है। असंख्य वर्षो से वर्षानुवर्ष वे निरन्तर एक ही प्रकार का निर्माण करते चले आ रहे हैं। अतः यह मानना ही होगा कि यह रचना धर्मिता उनकी नैसर्गिक प्रवृत्ति और स्वाभाविक सामर्थ्य ही है – *धर्मविशेष सहितेभ्यो जायते* (वैशेषिकदर्शन पर प्रशस्त पाद भाष्य का वचन)।

प्राणि जगत में द्विपाद मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसका काम प्रकृति प्रदत्त इस नैसर्गिक प्रवृत्ति और स्वाभाविक सामर्थ्य से नहीं चलता है। उसे नैमित्तिक ज्ञान की आवश्यकता पड़ती ही है। विकासवाद की मान्यता के अनुसार मनुष्य की बुद्धि अनुभव जन्य ज्ञान के द्वारा ही धीरे धीरे विकसित होकर स्वतः ज्ञान प्राप्ति में समर्थ हो जाती है। यह भी कहा जाता है कि यद्यपि मनुष्य अपने जीवन काल में स्वतः पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है, तद्यपि वह वंशानुक्रम से धीरे धीरे विकसित होते हुए

ज्ञान का संचय करके, स्वयं ज्ञानी बन जाता है। साधारण दृष्टि से देखने पर यह तर्क ठीक ही प्रतीत होता है, परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इसकी निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। अब तक की तथाकथित उन्नति और प्रगति मनुष्य में अन्तर्निहित देवत्व का विकास न होकर, मनुष्य के प्रमाद, आलस्य और तज्जन्य निघृण्य का ही विकास है।

मनुष्य की बुद्धि यदि विकासवाद की मान्यता के अनुरूप ही स्वाभाविक रूप से उन्नति करती रहती तो सृष्टि की उत्पत्ति के अनन्तर द्विपाद पुरुषाकार पशु के जन्म के लाखों वर्ष बाद अब तक ज्ञान की पराकाष्ठा हो गई होती और कहीं भी कोई समुदाय अज्ञानी और अविकसित न रह गया होता। अफ्रीका महाद्वीप की 'डोगोन जनजाति की अनुश्रुतियों में लुब्धक नक्षत्र समूह के सम्बन्ध में विशद जानकारी मिलती है। उन्हें ज्ञात है कि लुब्धक 'ब' नामक एक लगभग अदृश्य तारा मुख्य लुब्धक 'अ' के चतुर्दिक अण्डाकार कक्षा में भ्रमण करता हुआ, ५० वर्षों में एक परिक्रमा पूरी कर लेता है। उन्हें इस समूह के अन्य तारों, जिनका अभिज्ञान भी होना अभी शेष है, के नाम भी ज्ञात हैं। कहा जाता है कि 'नम्मो' देवता ने उन्हें यह ज्ञान दिया था। कहीं से भी मिला हो, सहस्रों वर्षों से इसे दुहराते हुए भी, डोगान जन जाति ने इस ज्ञान में लेश मात्र भी वृद्धि नहीं की गई है (टेम्पल.१९७६, नैटी १९७३)। कौन कह सकता है कि इन अविकसित और अज्ञानी माने जाने वाले समुदायों में चेतना अथवा संवेदना का अभाव है, फिर भी उनकी स्थिति ज्यों की त्यों बने रहना विकासवाद की इस मान्यता का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है। विकास वाद की अवधारणा के अनुसार तो बहुतों को सर्वज्ञ हो जाना चाहिए था और तब समाज और शासन को शिक्षा के लिए इतनी व्यवस्था न करनी पड़ती। वास्तविकता ऐसी नहीं है। यदि आज भी बच्चों को अपने विकास के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाए, तो जैसा कि मिस्र के सैमेटिक्स, जर्मनी के फ्रेडरिक द्वितीय, स्काटलैंड के जेम्स चतुर्थ तथा अकबर द्वारा किए गए प्रयोगों तथा भेड़ियों द्वारा पाले गए बालक रामू के उदाहरणों से (तिवारी १९६२:३०,५७) स्पष्ट होता है, वे उन्नति के स्थान पर अवनति ही करते देखे जाते हैं।

स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक तो हो सकता है किन्तु स्वयं विकसित होकर मनुष्यवत् व्यवहार के लिए पर्याप्त नहीं हो पाता है। स्वाभाविक ज्ञान युक्त प्रतिभा सम्पन्न बालकों को भी ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु के पास जाना ही पड़ता है। कोई भी परिवार कितना भी शिक्षित और ज्ञानवान क्यों न हो, और कितनी ही पीढ़ियों से उसमें शास्त्र ज्ञान की परम्परा क्यों न चली आ रही हो, उस परिवार के बालकों का भी बिना स्वयं पढ़े विद्वान हो जाना सम्भव नहीं है। मध्य काल के शिलालेखों में अगणित महाविद्वान कुलों को उनकी विद्या के लिए भूमि दिए जाने के कितने ही उल्लेख मिलते हैं, किन्तु उनमें से एक भी कुल की विद्वान सन्तति का, उनकी उपाधियों के अतिरिक्त, कुछ भी पता नहीं चलता है।

प्राणि जगत में द्विपाद पुरुषाकार मनुष्य ही एक मात्र ऐसा प्राणी है जिसमें ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में श्रम और तप पूर्वक संक्रमित कराना होता है,

नियमों को स्मृति में धारण कर, जीवन यापन करते हुए अपनी सन्तति को हस्तान्तरित करना होता है और अपने से दुर्बल अथवा हीन बुद्धि वाले व्यक्ति – *ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय* (यास्क १.२०) – की सहायता के लिए संवेदनशील व्यवस्था संयोजित करनी पड़ती है। यद्यपि मनुष्य में ज्ञान का विकास उसकी धारणात्मक चिन्तन शक्ति के साहचर्य से ही होता है, किन्तु जो कुछ ज्ञान वह प्राप्त कर सकता है, करता है, उसका मूल उत्स वह स्वयं नहीं होता है। आज के संगणक (कम्प्यूटर) की भाषा में कहें तो कहा जा सकता है कि मनुष्य का मस्तिष्क किसी अत्यधिक क्षमतावान संगणक की तरह ही पूर्व संयोजित तो है, किन्तु उसे भी खटखटाना तो पड़ता ही है। मनुष्य की बुद्धि प्रकृति प्रदत्त जड़ इन्द्रिय है और उसे अपने विकास के लिए किसी चेतन तत्व से प्राप्त प्रेरणा की अपेक्षा रहती है। बुद्धि प्राकृतिक शाक्ति है परन्तु ज्ञान अर्जित करना पड़ता है। इसीलिए मनुष्य में स्वतः ज्ञान की उद्भावना की प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रारम्भ में गुरु से प्राप्त ज्ञान को ही वह अपने अनुभव, चिन्तन–मनन और संवेदन आदि के द्वारा विकसित कर सकता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य स्वयं सूत्रकार न होकर, मात्र भाष्यकार बने रहने के लिए अभिसंज्ञप्त है।

इसीलिए माता पिता द्वारा हुए योनिज जन्म को उनकी *'आहारनिद्राभय मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्'* आदि नैसर्गिक और पाशविक प्रवृत्तियों के आधीन ही होने वाला सामान्य जन्म कहा गया है – *कामान्मातापिता चैनं यदुत्पादयते मिथः। संभूति तस्य तां विद्याद्योनावभिः जायते* (मनुस्मृति २.१४७)। धर्माधर्म के ज्ञान से हीन व्यक्ति को तो पशु के तुल्य शूद्र ही कहा गया है –*जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते* (वही २.१५३) तथा – *शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते* (वही २.१७२)। विवेक को पाकर ही वह मनुष्य बनता हुआ देवत्व की ओर बढ़ने की तय्यारी करता है। अतः ज्ञानवान आचार्य जिस द्वितीय जन्म का आयोजन करता है – *आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा* (वही २.१४८) – उसी को वास्तविक जन्म माना गया है। तभी साधारण जन्म देने वाले माता पिता की अपेक्षा ज्ञान देकर पशु से मनुष्य बनाने वाले आचार्य को श्रेष्ठ और वरीय कहा गया है – *उत्पादक ब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता। ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्* (वही २.१४६)। इसी से तो पुरुष–पशु मनुष्य बनता है।

४. ज्ञान की उत्पत्तिः आर्ष परम्परा :

यह निश्चय हो जाने पर कि मनुष्य बिना गुरु के ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है, प्रश्न होता है कि सृष्टि के आदि में द्विपाद पुरुषाकार पशु को ज्ञान किसने दिया था? उसका पहला गुरु कौन था? विकास वाद के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। किन्तु माता–पिता और आचार्य से ज्ञान प्राप्त करने की इस श्रृंखला–*मातृमानपितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद* (स्वामी दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश १६७०, समुल्लास २ का शीर्ष वाक्य; तुलना करें – श.ब्रा; १४.५.८.२) – के आदि में निश्चय ही परम चैतन्य स्वरूप परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य शिक्षक के होने की सम्भावना स्वीकार करने पर अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। इसीलिए आर्ष परम्परा के मनीषियों

ने संसार के समस्त ज्ञान का आदि मूल चैतन्य स्वरूप अमृत पुरुष परमात्मा को माना है। महा५ पतंजलि ने योगसूत्र में 'काल के द्वारा अविच्छिन्न–सीमित न होने के कारण परमात्मा ही पहले गुरुओं का भी गुरु हैं – *स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्* – (१२) कहा है। उसी आदि गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान राशि को 'वेद' का नाम दिया गया है।

वेदो में ही वेद चतुष्टय का समीकरण पुरुष कल्प परमात्मा के उत्तमांगों से स्थापित करते हुए कहा गया है कि अथर्वेद उसका मुंह है, सामवेद लोम अर्थात् केश है, युजर्वेद हृदय है और ऋग्वेद उसका प्राण है (अथर्व १०.७.२: ६.६.१–२)। अन्यत्र इन्हें *'महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस'* (बृउ; २.४.१०;४.५. १२; श.ब्रा; १४.५.४.१०) कहा गया है। परमात्मा ने इस निःश्वास को पुत्र के प्रति पिता की ममता से प्रेरित होकर ही– *स नः पितेव सूनवे* (१.१.१६)– उत्सृष्ट किया था। यह उसी परम व्योम में व्याप्त है – *ब्रह्मायं वाचः परमे व्योम, ऋचो अक्षरे परमे व्योम्नि तथा सहस्राक्षरा परमे व्योमन्* (१.१६४.३५,३६,४१)। एक अन्य मंत्र में परमात्मा को ही *'यो नः पिता जनिता यो विधाता'* कहते हुए बताया गया है कि वही सभी पदार्थों अर्थात् पदों और उनके अर्थों अर्थात् गुण धर्मों का नाम रखता है – *यो देवानां नामधा एक एव*। सभी को शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसी के पास जाना चाहिए – *तं संप्रश्नं भुवनायन्त्यन्या* (तै.सं. ४.६.२.१–२)। दूसरे शब्दों में, वही *'पूर्वेषामपि गुरुः'* है।

अन्यत्र भी, सृष्टि के आदि में उसी बृहस्पति द्वारा समस्त पदों और उनके अर्थों को अपने में धारण करने वाली दोष रहित श्रेष्ठ वाणी को इन ऋषियों की (कपाल स्थित) हृदय गुहा में प्रेरित किए जाने का भी उल्लेख हुआ है (१०.७१.१)। ऋषियों में प्रविष्ट हुई वाणी, जिसे उन्होंने अपने अन्तःकरण अर्थात् अभ्यान्तर इन्द्रिय से ग्रहण किया था – *'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यन्ते'* (योग सूत्र १.२७ पर व्यास भाष्य; स्वामी विद्यानन्द १९६१:१८६) को इतर जनों द्वारा प्राप्त किए जाने का भी उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि अग्नि, वायु और आदित्य नामक आद्य ऋषियों ने क्रमशः ऋक्, यजुष और साम लक्षणों वाली (मीमांसा सूत्र २१.३५–३७) वेद वाणी को ग्रहण किया था (अथर्व १०.७.१४;ऐ. ब्रा; २५.७;श.ब्रा; ११.५.८.१–४)। इन तीनों वेदों के प्रथम मंत्र भी इसी ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं (चतुर्वेदी १९६०:६३–६४)। ऋग्वेद के एक मंत्र के आधार पर समस्त वेदों के एक अग्नि द्वारा प्राप्त किए जाने का अनुमान किया गया है (५.४४.१५), परन्तु वहां, अग्नि को किसी व्यक्ति का नाम न बताकर, केवल अविद्या रूपी निद्रा से जाग उठने वाले तेजस्वी मनुष्य की चर्चा ही अभिप्रेत है (स्वामी विद्यानन्द १९६२:७८६)।

मनुस्मृति (१.२३) में भी इन्हीं अग्नि, वायु और आदित्य नामधारी ऋषियों से ब्रह्मा द्वारा यज्ञ अर्थात् श्रेष्ठतम लक्षणों वाली वाणी को प्राप्त किए जाने का उल्लेख हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद (४.१८) में इन तीन आद्य ऋषियों का उल्लेख न करते हुए कहा गया है कि परम पुरुष परमात्मा ने सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया था और उन्हीं को सम्पूर्ण वेद ज्ञान प्रदान किया था – *यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्राहिणोति*। ऋग्वेद में भी समस्त उत्पन्न भूतों और उनके गुण धर्मों का ब्रह्मा द्वारा प्रसिद्ध किए जाने का कथन मिलता है – *ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां* (१०.७१.

११)। अन्यत्र भी, ब्रह्मा को पदों – भूतों को जानने वाला – *ब्रह्मा देवाना पद वी* (६.९६.६) कहा गया है।

अग्नि, वायु और आदित्य नामक आद्य ऋषियों से समस्त वेद–ज्ञान प्राप्त कर इन्हीं ब्रह्म देवं द्वारा लोक हित के लिए विविध शास्त्रें की रचना किए जाने की विशेष प्रसिद्धि है। इन्हीं ने त्रिवर्ग के साधन में सहायक धर्म, अर्थ और काम (वात्स्यायन का.स. १.५–८, भगवद्दत्त १९६४ ११:८), व्याकरण (ऋक्तंत्र १.४; मीमांसक १९८४–१:६२), मीमांसा (मीमांसक १९८४: ६ टि.।), ज्योतिर्विज्ञानं (वराहमिहिर बृ.सं. प्रारम्भ, भगवद्दत्त १९७८:७०) आदि शास्त्रों की रचना करके अपने शिष्य प्रशिष्यों को उनका अध्यापन कराया था – *प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्याऽअसुराः* (श.ब्रा. १४.८.२१)। आंख, कान आदि इन्द्रियों में समान होने पर भी मनुष्य अपने मनोवेग में असमान ही होते हैं– *अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः* (१०.७१.७)। इसी लिए साक्षात्कृत धर्मा अर्थात् प्रयोग शालाओं में पदार्थों के गुणधर्मों का साक्षात्कार कर चुके ऋषियों–वैज्ञानिकों ने अपने से हीन मनोवेग वाले असाक्षात्कृत धर्मा व्यक्तियों को उपदेश के द्वारा ज्ञान कराया था और जिनकी बुद्धि उपदेश से भी ज्ञान प्राप्त करने में अक्षम थी, उनके लिए उन्हीं ऋषियों ने वेदज्ञान का व्याख्यान करते हुए विविध शास्त्रों का प्रवचन भी किया था (यास्क १.२०)। इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए न्याय सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने लिखा है कि वेद के पद और अर्थों का अर्थात् समस्त पदार्थों और उनके गुणधर्मों का प्रत्यक्ष करने वाले आप्त पुरुषों ने ही आयुर्वेद आदि शास्त्रों – *य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेद प्रभृतीनामिति* (वात्स्यायन, न्याय सूत्र भाष्य २.१.६७) का ही नहीं, वरन इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि विधि शास्त्रों– *य एव मन्त्र ब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहास पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति* (वही ४.१.६२) – का भी प्रवचन किया था (भगवद्दत्त १९६४:२४)।

• • • • • • • • •

७. संस्कृति का विकास : तर्क और अनुमान

---

७. संस्कृति का विकास : तर्क और अनुमान

पूर्व पृष्ठों में हमने द्युलोक स्थित किसी ग्रह से प्रजापति और देवों तथा किसी दूसरे ग्रह से असुरों के पृथिवी पर आने के अनेक वैदिक प्रमाणों का उल्लेख और विश्लेषण प्रस्तुत किया है। असुरों ने तो अपनी आसुरी प्रवृत्ति के अनुरूप ही कार्य किया था, परन्तु देवों ने यहां आकर एक ओर तो स्वार्थ सिद्धि के लिए विविध प्रकार के वैज्ञानिक अनुसंधान किए और देवयान बनाकर अपने 'प्रत्नस्यौकसो'(१३०६. ८.६६.७) प्राचीन निवास को लौट गये थे तो दूसरी और उन्होनें पृथिवी पर उपलब्ध पुरुषाकर पशु (वानर) अथवा पुरुषपशु का पशुबन्ध करके उसे पकड़ा और उसका आलम्भन-संज्ञपन किया अर्थात् उसे शल्यक्रिया और कृन्तकीकरण की विधि से उत्परिवर्तित करके मनस्वी मनुष्य बनाया था। और भी, वापस जाते समय इन्हीं देवों ने उस संज्ञप्त उत्परिवर्तित मनुष्य को भविष्य में तर्क को ऋषि मानते हुए उसी का अनुसरण करने की सम्मति भी दी थी (यास्क १३.१३)। इसीलिए हमारे आद्य पूर्वजों ने भी अपने सभी विभिन्न अर्थों में धर्माधर्म का निर्णय तर्क के आधार पर करने का निर्देश दिया- *यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मम् वेद नेतरः* (मनुस्मृति १२.१०६)। हम उनके आदेशों का कितना पालन कर सके हैंयह दूसरी बात है फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि जहां तक हमने उनके आदेशों का पालन करते हुए '*वेदशास्त्रऽविरोधिना* तर्क का अनुसरण किया है, वहां तक उन्नति करते रहें हैंऔर जब से अतर्क्य आस्थाओं अथवा वेद विरोधी कुतर्क का आश्रय लेने लगे हैं, पतन के अतल अंध कूप में गिरते जा रहे हैं। जो कुछ भी हो, अब आगे के पृष्ठों में यह दिखाने का प्रयास किया जाएगा कि इन वैदिक प्रमाणों और उन पर आधारित निष्कर्षो को आधुनिक विज्ञान से कितना समर्थन मिलता है और किस प्रकार पुष्टि होती है।

१. तथाकथित विकासवाद की अपूर्णता :

प्राध्यापक रेनाल्ड पुक्केट्टी, रार्बट बीरी तथा जोसेफ क्राउत जैसे वैज्ञानिकों का मानना है कि ब्रह्माण्ड में विकास के नियम सार्वत्रिक हैं। सभी ग्रहों उपग्रहों पर विकास, चाहे वह जड़ पदार्थ का हो अथवा जीव का, एक ही गति से और एक जैसी धारा में प्रवाहित हुआ होगा। उनका निष्कर्ष है कि प्रज्ञा का नैसर्गिक प्रस्फुटन भी उत्परिवर्तित करके कृत्रिम विकास की दशा में भी, लगभग समान लक्षणों वाले शरीर धारियों में ही हुआ होगा (डानिकेन १९७५ :६६.७१)। अलबर्ट आइन्स्टीन भी, अनजाने में वैदिक मान्यता को दुहराते हुए, कहा करते थे कि प्रकृति अपने को बार-बार दुहराती ही रहती है।

विकासवाद की तथाकथित वैज्ञानिक अवधारणा के अनुसार वानरों की अनेक प्रजातियों में से मात्र एक ही प्रजाति ने आरण्य पशुओं के भय से पिछले पैरों पर खड़ा होना प्रारम्भ किया था। जब उन्होंने पाया कि इस स्थिति में रह कर भोजन प्राप्त करना अधिक सुविधाजनक हैं तब अपनी मूल स्थिति में न लौट कर, वे खड़े ही रह गए थे। यहां एक प्रश्न किया जा सकता है — उन्हीं की देखा देखी, उन्हीं का

अनुसरण करके, अन्य वानर प्रजातियों को ऐसा करने से, खड़े होने से, किसने रोका था? पुनः, पुरुषों के अनुमानित पूर्वजों की भी गणना करते हुए, पृथिवी की सभी वानर प्रजातियां मूलतः ओषधि—वनस्पति जीवी ही हैं। तब उन्हीं से विकसित हुए मनुष्यों ने एकाएक कब, क्यों और कैसे मांस भोजी होना स्वीकार किया था? ओषधि वनस्पति (और कंद मूल) का संग्रह करना अधिक सुविधापूर्ण और निरापद है। फिर इस सुकर और निरापद् जीवन पद्धति को छोड़ कर उन्हें क्षिप्रगति से दौड़ने वाले हरिणों आदि पशुओं का आखेट कैसे भा गया था? पुनः दस लाख वर्षों में अनेक, कम से कम चार हिमाक्रान्ति और जलप्लावन तथा उनके अन्तराल में आने वाले सूखे और सुखद कालचक्रों का भी सन्धान मिलता है। इनके बीच वानरों की सभी प्रजातियां तो अपना अभ्यस्त सामान्य जीवन जीने के लिए, पुरानी जीवन पद्धति का अनुसरण करते हुए, अवशिष्ट अरण्यों में चली जाती रही होगी। फिर ऐसी कौन सी महत्वपूर्ण घटना घटी कि जिसके कारण एक बार वानरों की अन्य सभी प्रजातिया तो अवशिष्ट अरण्यों में चली गंई किन्तु मात्र एक, मनुष्यों के आद्य पूर्वज, प्रजाति के वानर ही खुले में रह गए— विकसित होने की प्रतीक्षा में?

विकास के इतिहास में कहीं कुछ ऐसा नहीं मिलता जिससे वानरों से पुरुषों और फिर प्राज्ञपुरुषों—मनुष्यों की उत्पत्ति समझी —समझाई जा सके। हमें आज तक केवल यही बताया जाता रहा है कि वानरों का मस्तिष्क एकाएक बढ़ने लगा और विकास की इस ऊर्ध्वगामी यात्रा की अवधि में विविध ज्ञान—विज्ञान आ आकर स्वतः उससे चिपटते गए कि अब वह ज्ञानी ही नहीं, अतिज्ञानी होने लग गया है (मंर्थ १९७१: डानिकंन १९७५ : ८१.८३)।

वानरों पर आज बहुत अनुसंधान और प्रयोग हो रहे हैं। अब तो रूस में कृष्णसागर के तट पर एडलर नामक स्थान में एक विशेष संस्थान स्थापित किया गया है। यहां वानरों का प्रशिक्षण होगा, उन्हें ज्ञान दिए जाने का प्रयास किया जाएगा। अब तक के कुशल और सघन प्रशिक्षण के बाद वे मात्र कुछ विशेष खटकों को दबा कर अपनी आवश्यकताओं को बताने की सामर्थ्य अर्जित कर पाए हैं। सुना गया है कि कुछ को अन्तरिक्षयानों के विशेष खटकों को दबाने के लिए भी प्रशिक्षित किया जा रहा है। इन सब प्रशिक्षणों के फलस्वरूप कुछ लोग उनके विकसित होने की सम्भावना स्वीकार भी करने लग गए हैं (डानिकेन १९८१:२३६.४०)। हमें तो इससे यही सिद्ध होता प्रतीत होता है कि आदि काल से अपना विकास करने में स्वतंत्र न होकर, वानर ही क्या, कोई भी पशु प्रशिक्षित किया जाकर ज्ञान प्राप्त कर सकता है— प्रशिक्षण देने वाला होना चाहिए। इस प्रकार नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए जड़ इन्द्रिय—बुद्धि को किसी बाह्य चेतन शक्ति से प्रेरणा की अनिवार्यता की ही पुष्टि होती है। इससे बुद्धि के विकास में गुरु का महत्व पूर्णतः स्थापित हो जाता है। वानरों की इस तथाकथित बुद्धि के विकास को मात्र सहज प्रवृत्तियों का विकास कहा जा सकता है। किन्तु मनुष्य के पास आज जो वाक शक्ति, जिसके अभाव में ज्ञान का संप्रेषण सम्भव ही नहीं हो पाता, है वह तो उनके पूर्व माने जा रहे वानरों में न आज है और न तब ही रही होगी। वह कहां से आई? वाक्शक्ति बुद्धि का विकास मात्र न होकर, शरीर की पेशियों पर

भी निर्भर होती है। आज भी जिन मनुष्यों में किन्हीं कारणों से वाक्तंत्र में दोष अथवा उनका अभाव होता है, वे अवाक् ही रह जाया करते हैं। आज के वैज्ञानिक इस दोष का शल्यक्रिया द्वारा परिहार तो कर लेने लगे हैं किन्तु अभाव की पूर्ति अभी भी नहीं की जा सकी है। वानरों को वाक्शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए उनके वाक्तंत्र में परिवर्तन संवर्धन आवश्यक रहा होगा। यही नहीं, उनके ललाट, शंख और पार्श्विक अस्थियों के नीचे–पीछे पाए जाने वाले मस्तिष्क के पिण्ड–कन्दों, जिनसे वाकतंत्रों का संचालन होता है, में भी समनुपातिक परिवर्तन परिवर्धन करना पड़ा होगा (केतुखं ५२) यद्यपि शरीर के आकार से मस्तिष्क के प्रकार (और आकार) का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है (जुरासिक युग के महाकाय डायनासोर में बहुत छोटे–छोटे दो मस्तिष्क होते थे और हाथी का मस्तिष्क बहुत बड़ा होता है), फिर भी यदि आपाततः यह मान भी लिए जाए कि चार फुट लम्बे वानर का ४०० से ५०० सी०सी० आयतन वाला मस्तिष्क तथा छह फुट लम्बे मनुष्य का १३५० सी.सी. आयतन वाला मस्तिष्क, इन दोनों के आकार के अनुपात में ही है, तब भी बात बनती नहीं प्रतीत होती है। दक्षिण अफ्रीका के अस्ट्रालोपिथेकस– ६०० सी०सी०, पांच लाख वर्ष पूर्व हुए चीन – जावाके सिनेन्थ्रोपस पुरुष – ८५० से १३०० सी.सी., आज की आदिम माने वाली वन्य जातियां १५०० सी०सी० के मस्तिष्कों के आयतन का ही नहीं, उसे घेरने वाले कपाल का सम्बन्ध भी अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है (मान्टेग्यू १९६२ : ३४–४२, कैरिंगटन १९५८'२२४–२५)

यहां केवल आयतन, आकार अथवा भार का ही प्रश्न नहीं है। यहां खान पान, जलवायु आदि बाह्य कारणों पर आधारित मात्रात्मक परिवर्तन की ही नहीं, वरन गुणात्मक परिवर्तन की समस्या भी है। यह गुणात्मक परिवर्तन कब, क्यों और कैसे सम्भव हो सका था? ऐसा परिवर्तन नैसर्गिक नियमों के आधीन ही हुआ हो, ऐसा मानने की प्रवृत्ति अब वैज्ञानिकों में कम होती जा रही है। निश्चित ही ऐसा परिवर्तन उत्परिवर्तन ही रहा होगा और यह शल्यक्रिया के द्वारा तंत्र परिवर्तन करते हुए, आनुवंशिकी का नियमन करने वाले 'जीन', डी.एन.ए.' और 'आर.एन.ए' आदि गुण सूत्रों के प्रत्यारोपण के द्वारा ही सम्भव हो सका होगा।

अब तो नृतत्वशास्त्री भी कहने लग गए हैं कि मस्तिष्क के क्षिप्र विकास के फलस्वरूप ही मनुष्य को पुरुषपशु से विलग किया गया होगा। अमरीका के पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय के नृतत्वशास्त्री, प्रध्यापक लारेन आइज़्ली का मानना है कि "मनुष्य के विस्फोटक विकास को देखते हुए हमें यह मानना ही होगा कि उसकी उत्पत्ति निकटभूत में ही हुई होगी। मनुष्य के मस्तिष्क को विकास के पथ पर डाल देने वाली शक्तियों को स्वीकार करते हुए यह मानने के विश्वस्त कारण हैं कि पुरुष पशु वानर की विभिन्न प्रजातियों के बीच अस्तित्व के लिए हुए किसी दीर्घकालीन सतत संघर्ष से आज पृथिवी पर उपलब्ध अत्युन्नत मानव मस्तिष्क का विकास नहीं ही हो सका होगा। प्रतीत होता है कि सिद्धान्त प्रतिपादित करने की त्वरा में विकासवादी चिन्तकों ने ज्ञान प्राप्ति के अन्य निमित्तों पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है" (१९६६, डानिकेन १९७६.२:२८)।

रुधिर वर्णक के १४६ घटक अणुओं की पहचान हो गई है। ये सभी के सभी

मनुष्य और चिम्पांजी, जिनमें आज किसी भी प्रकार की समानता नहीं ढूढी जा सकती है, दोनों में बिल्कुल समान है। दूसरी ओर, एक दूसरे की प्रति मूर्ति दो मेढ़कों, जो आदि काल से साजात्य प्रजनन करते चले आ रहे हैं, का रक्त, मनुष्य और चिम्पांजी के रक्त की तुलना में ५० गुणा अधिक वैविध्यपूर्ण है। इस आधार पर अमरीका के कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के जीव रसायनी प्राचार्य अलेन सी. विल्सन और उनकी सहयोगी मैरी क्लेयर किंग ने मनुष्य के विकास में किन्हीं अद्यावधि अज्ञात शक्तियों के हस्तक्षेप का अनुमान किया है (१९७५, डानिकेन १९८१–१६६–६८)।

और भी, जर्मनी में पोरटडाम की वेधशाला के निदेशक ज्योतिर्विद कार्क श्वार्त्सचाइल्ड (१८७३–१९१६) ने सफलता पूर्वक सिद्ध कर दिया है कि ग्रह या नक्षत्र पिण्ड अपने गुरुत्वाकर्षण के वश होने पर अत्यधिक घनीभूत हो उठते हैं और तब उनमे से किसी परमाणु तो क्या, प्रकाश का भी उत्सर्जन नहीं हो पाता है। इन्हें कृष्णविवर कहा जाता है और इनमें प्रत्येक स्थिति के नित्य नया होते रहने का अनुमान किया जाता है। इस दशा में समस्त ज्ञान विज्ञान अपनी मूल स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं और कुछ भी विस्मृत नहीं हो पाता है। आज और कल, सभी समाप्त हो जाते हैं — *न नूनमस्ति नो श्वः* (१।१७०।१) और काल अनन्त हो उठता है। जीन ई. शारेन ने गणित द्वारा सिद्ध किया है कि परमाणु में अन्तर्भुक्त एलेक्ट्रान में भी कृष्णविवर जैसे ही गुणधर्म होते हैं। वह भी सभी स्मृतियों को अपने में संजोए रहता है और अपने धारक अणु के ही साथ 'आर.एन.ए.' और डी.एन.ए.' जैसे गुणसूत्रों के माध्यम से एक स्थान से दूसरे स्थान, एक वस्तु से दूसरी वस्तु तथा एक प्राणी से दूसरे प्राणी में संक्रामित कराया जा सकता है (१९७६, डानिकेन १९८३:१०२–०६)। देवों ने मनुष्यों को उत्परिवर्तित करने में इसी ज्ञान का लाभ उठाते हुए ही कृन्तकीकरण की विधि द्वारा गुणसूत्रों में अन्तर्भुक्त ज्ञान विज्ञान की स्मृति को संजोए रखने वाले एलेक्ट्रान का संस्थापन करके, उसके संक्रमण की प्रक्रिया प्रतिष्ठित की होगी। हममें से अनेक को विद्युत गति से एकाएक कोई विचार आ जाता है, किसी स्थिति का चित्र मस्तिष्क में कौंध जाता है। वह सब अनुभूत तो लगता है किन्तु हम उसका स्मरण करने में असमर्थ ही रह जाते हैं। महाकवि कालिदास ने इसे ही *'अबोधपूर्व भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि'* का *'चेतसा* स्मरण किया जाना कहा है (अभिज्ञान शाकुन्तलम् ५.६)। यदि यह हम, सांसारिकता की ध्वनि प्रतिध्वनि और मोह–विमोह के पंक में आकण्ठ निमज्जित व्यक्तियों के साथ हो सकता है, तब उन योगियों का तो कहना ही क्या जो अपने अन्तःकरण को निष्कलुष करके, अपना ध्यान ज्ञान विज्ञान को संजोए रखने वाले एलेक्ट्रान में ही केन्द्रित कर लेते हैं। कृष्णविवर की ही तरह, एलेक्ट्रान में भी काल प्रतिगामी हो उठता है, अतः योगियों को ध्यानावस्था में भूत और भविष्य का ज्ञान हो सकने की बात को असम्भव मानना अब अवैज्ञानिक होकर, अनावश्यक हो गया है (डानिकेन १९७६:९०–६३)।

इन सब तथ्यों और तर्कों का विवेचन करते हुऐ एसा प्रतीत होता है कि मनुष्य वानरों से, प्रचलित मान्यता के अनुसार अनेक लाख वर्ष पूर्व पृथक न होकर, कुछ सहस्त्र वर्ष पूर्व ही विलग किया गया था। वेद में भी पालक, धारक और उत्पन्न करने वाले द्वारा 'उत्पन्न होते हुए भी उत्पन्न कराए जाने'— *यो नः सतो अभ्या*

सज्जजान (१७०.१) — का उल्लेख हुआ है। इस पृथक होने में शल्यक्रिया और कृन्तकीकरण द्वारा किए जाने वाले उत्परिवर्तन की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी। सन्निकट भूत में ही पृथक् होने पर भी मनुष्य आज वानरों में सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकता है किन्तु प्रारम्भ से ही ऐसा न रहा होगा। परन्तु इस प्रकार के संकरीकरण से विकास के प्रतिगामी होने की आशंका को निर्मूल करके, आनुवंशिक गुणों को शुद्ध रूप में स्थिर रखने के लिए, साजात्य प्रजनन किससे कराया गया होगा?

ऊपर हम चर्चा कर आए हैं कि चैतन्य स्वरूप परमात्मा ने द्यौ पिता और माता पृथिवी के माध्यम से आदि सृष्टि के युगलों की रचना कराई थी। इसी के साथ प्राचीन शास्त्रों में एक अन्य सम्भावना की ओर भी संकेत किया गया है। कहा गया कि 'उसे (प्रजापति को) आनन्द नहीं आया। अकेले में आनन्द नहीं आया करता। उसने दूसरे की कामना की — *स वै नेवरेमे। तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्।* उसने अपने शरीर के दो भाग कर लिए। इससे पति और पत्नी हो गए ... उसने उस स्त्री से सहवास किया। उससे मनुष्य उत्पन्न हो गए — *सऽइममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्। तत पतिश्च पत्नी चाभवतां ... तां समभवत्ततो मनुष्याऽ अजायन्त'* (श.ब्रा. १४.४.२.५-५)। इतिहास ग्रन्थों में अनेकशः स्त्री की मानसी सृष्टि करके उससे सन्तान उत्पन्न करने की चर्चा आई है। मानसी सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक धारणाएं हैं। वेदों में सर्वदा कुछ करने के लिए *'अकामयत', 'अपश्यत्', 'आहरत्'* और *'अयजत्'* क्रम का उल्लेख हुआ है (तै.ब्रा., २.१.१.२; ११.१ इत्यादि)। इससे तो यही प्रतीत होता है कि वेदों को इच्छा करना, फिर उस इच्छा के क्रियान्वयन की विधि पर विचार करके प्रारूप अभिकल्पन, फिर उसे साकार करने और फिर सबसे अन्त में *'अयजत्'* अर्थात उसके संसर्ग लाभ का सुख भोगने का क्रम ही मान्य है। इस दृष्टि से देखने पर सभी सृष्टि अपने मौलिक रूप में मानसी ही होती है। सभी में ये ही सब क्रम अन्तर्भुक्त होते हैं। अतः आश्चर्य नहीं कि उस प्रथम मनुष्य के एकाकीपन को दूर करने और साजात्य प्रजनन कराकरके वंशवृद्धि कराने के लिए उसके अंगों से मूल तत्व लेकर कृन्तकीकरण की विधि से ही प्रथम स्त्री उत्पन्न कराई गयी हो। बाइबिल में भी यही कथा दुहराई गई है। वहां कहा गया है। कि आदम (आदि मनु?) को बनाकर परमात्मा याहोबा ने सोचा कि 'उसका अकेला रहना अच्छा नहीं है। मैं उसके लिए एक ऐसा सहायक बनाऊंगा जो उससे मेल खाए। "तब परमेश्वर याहोबा ने आदम को भारी नींद में डाल दिया और जब वह सो गया तब उसने एक पसली निकाल ली और उसके स्थान पर मांस भर दिया। और परमेश्वर याहोबा ने उस पसली को, जो उसने आदम से निकाली थी, स्त्री बना दिया और उसको आदम के पास ले आया" (उत्पत्ति १.२.१८; २१.२२)। पसली की हड्डी से स्त्री बनाए जाने की इस अनुश्रुति की पृष्ठभूमि में निहित वैज्ञानिक तथ्य यही है कि अस्थि की जीवाणु प्रतिरोधक क्षमता का उपयोग करते हुए ही उसको माध्यम बनाकर पुरुष के शुक्राणुओं से स्त्री गुणसूत्र पृथक् करके उन्हें विकसति पल्लवित किया गया होगा। अन्य अनुश्रुतियों में भी आदि पुरुष के अन्दर ही नर और नारी, दोनों ही तत्वों के निहित होने का उल्लेख मिलता है। दक्षिण अमरीका के पेरू देश की प्राचीन गाथा में 'वीरकोच तचयचाचिक' ('सांसारिक पदार्थों का स्रष्टा') को एक साथ पुरुष

और स्त्री, दोनों ही कहा गया है (डानिकेन १९७६.२७८)। हमारे यहां, भारतीय आर्षपरम्परा में भी 'अर्धनारीश्वर' की अवधारणा मिलती है। ग्राम्य लोगों में पुत्री को जन्म देने के लिए माता को दोषी ठहराए जाने की अवैज्ञानिक अवधारणा अत्यधिक रूढ़ हो चुकी है, परन्तु अब वैज्ञानिक अनुसंधानों से वैदिक मान्यता की पुष्टि हो गई है कि नर वास्तव में अर्धनारीश्वर होता है, उसमें पुरुष और स्त्री, दोनों के गुणसूत्र पाए जाते हैं और स्त्री में केवल स्त्री के ही होते हैं। इससे यह भी समझ में आने लगता है कि देवों ने पहले पुरुष को ही क्यों बनाया था। स्त्री को पहले बनाए जाने पर उससे पुरुष का बनाया जाना सम्भव नहीं होता।

२. सांस्कृतिक विकास की प्रस्तावित रूपरेखा :

यदि पुरुष पशु वानर को शल्य क्रिया, कृन्तकीकरण और जीन आदि गुणसूत्रों के प्रत्यारोपण की विधि द्वारा ही उत्परिवर्तित किया जाकर ही मनुष्य बनाए जाने की बात — *यो नः स तो अभ्या सज्जजान* — स्वीकार कर ली जाए—अस्वीकार करने का पूर्वाग्रह के अतिरिक्त कोई दूसरा कारण तो है नहीं— तो अगला प्रश्न होगा कि यह उत्परिवर्तन कब किया गया होगा? पुरुष सूक्त के एक मंत्र में साध्यों और ऋषियों के आविर्भाव के साथ ही देवों के भी आविर्भाव का कथन हुआ (१०.९०.७)। अतः यह माना जा सकता है कि लगभग उसी समय से, जब पुरुष पशु ने खाद्य की खोज में संचरण प्रारम्भ किया होगा, देवों के पृथिवी पर आने के इतिहास का प्रारम्भ होता है। रूस में कृष्ण सागर के तट पर एडलर नामक स्थान में वानरों पर हो रहे प्रयोगों के परिप्रेक्ष्य में यह स्वीकार करना कोई कठिन नहीं है कि उस समय व्योम से आए हुए देवों (इनके अतिरिक्त किसी प्रशिक्षित करने वाली शक्ति के अस्तित्व की कोई सम्भावना भी नहीं है) ने ही उस समय के पुरुष पशु को आकार में अपने समान — *पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टम्* — और सम्भावना पूर्ण समझ कर कुछ उपयोगी उपकरणों के निर्माण और प्रयोग की विधि सिखा दी होगी। किन्तु पाषाण काल की ६ लाख से २ लाख २० सहस्र वर्ष पूर्व की दीर्घ अवधि में विकास की अवरुद्ध गति को देखते हुए यह स्वीकार करना होगा कि इस समय केवल प्रशिक्षण ही हुआ था, उत्परिवर्तन नहीं। अभी भी वह पशु ही था।

इसके बाद लगभग २ लाख २० सहस्र वर्ष पूर्व, सम्भवतः चीनी पुरुष के वंश की ही एक शाखा *नियन्डरथल* प्रजाति का प्रादुर्भाव माना जाता है। कहा जाता है कि यह प्रजाति पूर्व में एशिया के किसी अद्यावधि अज्ञात प्रदेश से चल कर शीघ्र ही सारे योरोप में फैल कर ७५ सहस्र वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होने वाली तीसरी हिमाक्रान्ति—जलप्लावन के पूर्वार्ध में उच्छिन्न हो गई थी। प्रतीत होता है कि पृथिवी पर अपने प्रारम्भिक प्रशिक्षण के फल का आकलन करने के लिए लौट कर आए देवों ने प्रशिक्षित पुरुष पशु वानरों के अवरुद्ध विकास को देख कर ही, उन्हें थोड़ा और प्रशिक्षित करने का प्रयास किया होगा और ये नियन्डरथल संज्ञक प्रजाति इसी के फलस्वरूप अस्तित्व में आई थी। पर इस बार भी जो कुछ विकास हुआ, क्या उसे वास्तविक विकास कहा जा सकता है? इनके उपकरणों के आकार प्रकार में हुए परिवर्तन अथवा उनके पुरुषाद हो उठने

को ही विकास नहीं मानना चाहिए। उपकरणों में हुए या होने वाले परिवर्तनों की चर्चा आगे की जाएगी, किन्तु मुर्दों को खाने तथा उन्हें गाड़ने का सम्बन्ध हमें तो अन्योन्याश्रित ही प्रतीत होता है। कभी खाद्य सामग्री के अभाव की स्थिति में, पशुओं को मांस खाते देखकर, उनके अनुकरण पर, अपने मरे हुए साथियों का मांस खाने की प्रथा का जन्म हुआ होगा। इसी प्रकार उसमें से बचे हुए मांस को, आगे भी सुविधा और आवश्यकतानुसार उपयोग करने की इच्छा से, भूमि में दबा कर रखने से ही मुर्दों को गाड़ने की परम्परा का प्रारम्भ होना माना जा सकता है। नर मांस खाने की प्रथा के समाप्त हो जाने के बहुत बाद भी युद्धों में मारे गए प्रमुख योद्धाओं के शवों पर यूनानी होमर के महाकाव्य इलियड में वर्णित तुमुल युद्ध भी विशेष खाद्य सामग्री को अपने लिए ही सुरक्षित रखने की आदिम प्रवृत्ति का ही प्रतिसंस्करण प्रतीत होते हैं। हमें तो इन परिवर्तनों में किसी विकास के लक्षण नहीं दिखाई देते हैं प्रत्युत एक आपद्धर्म की पूर्ति ही प्रतीत होती है। वास्तविक विकास तो जीवनयापन की पद्धति में होने वाले आमूल चूल परिवर्तनों के आधार पर ही आंका जाना चाहिए। आज इस नियन्डरथल प्रजाति को पुरुष पशुओं के विकास की एक विपथगामी शाखा ही माना जा रहा है (कैरिंगटन १९५८:२३०)। अतः असम्भव नहीं है कि ये अपने प्रशिक्षकों के आदेशों की स्पष्ट अवहेलना करते हुए अपनी मूल प्रजाति से सम्पर्क रखने के कारण ही प्रतिगामी हो गए हों।

अपने इस द्वितीय प्रयास कीं प्रगति का आकलन करने के लिए आए देवों को इनके प्रतिगामी हो जाने के कारण अवश्य ही निराशा हुई होगी। क्या देवों ने स्वयं ही उन्हें विपथगामी हो जाने के दण्ड स्वरूप ही उच्छिन्न कर दिया था या फिर उनका उच्छेद प्राकृतिक कारणों से ही हुआ था? इस सम्बन्ध में निश्चय से कुछ कह सकना कठिन है परन्तु यदि पश्चिमी एशिया की सुरक्षित अनुश्रुतियों का विश्वास किया जा सके तो प्रथम विकल्प ही सत्य के निकट प्रतीत होता है। जो भी हो, इस बार भी देवों ने नए सिरे से पुरुष पशु को प्रशिक्षित करने का प्रयास किया होगा। परन्तु इस बार कुछ विशेष सावधानी रखी गई होगी। फिर भी, इन सामान्य उत्परिवर्तित मनुष्यों में बुद्धि का विकास और ज्ञान विज्ञान का आधान अभी पूरी तरफ से सफल नहीं हो पाया था। इन प्रयोगों से उत्पन्न मनुष्यों को छोड़ कर देवों के छिप जाने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कछुए को ही यज्ञ मान लेने और अंतड़ियों से रहित पशु को देखकर यज्ञ में वपा का होना अवश्यक समझ लेने वाले यही पुरुष रहे होंगे। इस बार के उपरिवर्तित मनुष्य देवों के चले जाने के बाद किसी निर्देशक के अभाव में व्रात्य होकर अर्थात् समूहों में बंट कर पृथिवी के विभिन्न प्रदेशों में फैल गए होंगे। इस काल के उत्तरार्ध में लगभग ४० सहस्त्र वर्ष पूर्व ही यह प्रजाति एशिया के पूर्वोत्तर भाग में स्थिति मार्ग से होती हुई अमरीका पहुंची थी (फॉन हागेन १९५८:३०), इसी काल में दक्षिण पूर्व एशिया में फैलते हुए अन्ततः १५ सहस्त्र वर्ष पूर्व आस्ट्रेलिया और न्यू जीलैण्ड में पहुंच सकी थी। प्रतीत होता है कि यही पूर्व में एशिया के किसी अज्ञात स्थान से आए हुए तथा कथित 'प्राज्ञ पुरुषों' की पहली खेप थी जिसने पास ही के योरोप में शीघ्र पहुंच कर *औरिगनेशियन, सौल्यूट्रियन* और *मैग्डलेनियन* आदि उपकरण संस्कृतियों को

जन्म दिया। माना जाता है कि अपने अस्तित्व के ६० सहस्त्र वर्षों में इन्होंने कुछ प्रगति की थी। परन्तु प्रगति के प्रमाणस्वरूप उपकरणों के आकार प्रकार का परिवर्तन ही प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रत्यक्ष परिवर्तन का एक अन्य कारण भी हो सकता है — स्थानीय स्तर पर उपलब्ध शिलाओं का प्रकार। आग्नेय, रूपान्तरित और अवसाद जैसे तीन प्रमुख भेदों के अतिरिक्त, शिलाओं के असंख्य आवान्तर भेद भी होते हैं जिनकी गुणक्ता पर ही उपकरणों के आकार–प्रकार का निर्धारण होता है। जिस प्रकार प्रत्येक धातु या काष्ठ के गुण धर्मो के विभेद के कारण ही, उनका सभी प्रयोजनों के लिए एक समान उपयोग नहीं हो सकता है, उसी तरह सभी तरह के पत्थरों से सभी तरह के उपकरण भी नहीं बनाए जा सकते हैं। अतः रूप परिवर्तन के इस कारण को ध्यान में रखते हुए ही उपकरणों के रूप और आकार का महत्व और उनके प्रयोक्ता व्रात्यों के द्वारा की गई प्रगति और उनके विकास का आकलन करना होगा। अभी हाल ही में अमरीका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के पीबडी पुरातत्व संग्रहालय के डा० अलेक्ज़ैन्डर मार्शक ने इस काल के सहस्त्रों अस्थि खण्डों पर उत्कीर्ण चिन्हों का अध्ययन करके उन्हें लिपि मानने का प्रस्ताव किया है और यह भी कहा है कि इनमें नक्षत्रों की गति के आकलन का भी उल्लेख हुआ है (१९७२:१३.४४५.६१; १९७४:१४६.७४३.४५)। यदि यह स्थापना ठीक भी हो तो इसे गुरु परम्परा से प्राप्त ज्ञान कर स्मरण मात्र माना जा सकता है। परवर्ती काल में इस ज्ञान के विकसित होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं और न ही इन लोगों की जीवन यापन पद्धति में ही कोई महत्व पूर्ण परिवर्तन अथवा अन्तर ही लक्षित किया जा सका है। अभी भी ये व्रात्य अपनी दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वनोपज संग्रह और आखेट पर ही पूर्णतः निर्भर दिखाई देते हैं।

ऊपर हम बता आए हैं कि वेद में सुरक्षित आर्ष परम्परा की मान्यता के अनुसार प्रजापति और उसका अनुग्रह प्राप्त कर सकने में सफल देवों के पृथिवी पर अवतरण के बीच किसी समय असुर पृथिवी पर आकर स्थापित हो चुके थे। यह भी बताया जा चुका है कि शरीर को ही सब कुछ मानने वाले इन लोगों में पर—कल्याण की भावना का नितान्त अभाव था और वे अत्यन्त संकीर्ण मनोवृति वाले स्वार्थी लोग थे। फिर भी, किसी अन्य ग्रह से आया और श्रेष्ठ वैज्ञानिक उपलब्धियों का स्वामी होने के कारण, इन्हें प्रजापति का पुत्र और देवों का ज्येष्ठ कहा गया है। भारतीय, यूनानी और यहूदी, सभी परम्पराओं में इन्हें महाकाय और अत्यन्त बलशाली बतलाया गया है। प्रतीत होता है कि जब एशिया से व्रात्यगण योरोप और अमरीका पहुंचे थे, तभी ही अथवा कुछ समय पूर्व ही, इनका आगमन हुआ होगा। यूनानी और यहूदी परम्परा में आसुरी गुणों से परिपूर्ण और क्रोधी तथा प्रतिशोधाकांक्षी परदैवत के देवपुत्र कहलाने वाले दूतों के सहवास के फलस्वरूप महाकाय और अति प्रसिद्ध असुरों—दानवों के उत्पन्न होने की कथा कही गई है (ग्रेव्ज १९६०:१.३०–४४)। बाइबिल में कहा गया है कि जब मनुष्य भूमि के ऊपर बहुत बढ़ने लगे और उनके बेटियां उत्पन्न हुई तब परमेश्वर के पुत्रों ने मनुष्यों की पुत्रियों को देखा कि वे सुन्दर हैं, सो उन्होंने जिस

जिस को चाहा, उसे ले लिया ... उन दिनों पृथिवी पर विशाल आकार के मनुष्य हुए थे (उत्पत्ति १६.१–८)। भारतीय इतिहास में भी प्रजापति ब्रह्मा के ऋषि पुत्रों और स्थानीय स्त्रियों के सम्पर्क से ही असुरों का उत्पन्न होना कहा गया है। इस सम्भावना की पुष्टि इसी काल में मिलने वाली स्त्री मूर्तियों से भी होती है। पश्चिमी एशिया से योरोप तक के विशाल क्षेत्र में ऐसी बहुत सी नारी मूर्तियां मिली है जिन्हें यूनानी आख्यानों में वर्णित सागरिकाओं जैसी शरीर सौष्ठव सम्पन्न कामिनी अथवा बिहारी की नायिका नहीं कहा जा सकता है। उस दृष्टि से देखने पर ये अत्यन्त विरूप और प्रत्यक्षतः गर्भिणी है। पुरातत्व की एक सर्वमान्य पद्धति है कि जिस तथ्य को साधारण तर्क से न समझा–समझाया जा सके, उसे पंथ, सम्प्रदाय अथवा आस्था से सम्बद्ध कह दिया जाता है (पिगट १९६९:२३)। इसीलिए इन्हें 'मातृदेवी' माना जाता है। इन गर्भिणी मूर्तियों की एक विशेषता है। इनके गर्भ असामान्य रूप से बृहत्परिमाण के है। गर्भ के भार से इनका उदर ही नहीं लटक आया है, प्रतीत तो ऐसा भी होता है कि गर्भोदक और पेशियों का कुछ अंश और नीचे उतर आने से ही इनके नितम्ब, जंघाऐं और पाद भाग भी अस्वाभाविक रूप से स्थूल हो गए हैं और इसलिए अत्यत्न पृथुल दिखाए गए हैं (ब्रेडवुड १९५६:८४ पर दिया गया चित्र)। क्या ये असुरों, बाइबिल के देवपुत्रों, द्वारा गर्भवती की गई स्त्रियों की मूर्तियां हैं जिनसे महाकाय सन्तानों की उत्पत्ति होना बताया गया है? अन्यत्र इथियोपिया में सुरक्षित ईसाई अनुश्रुतियों में बताया गया है कि वे सभी कन्याएं जिन्होंने देवपुत्रों (असुरों) से गर्भधारण किया था, सकुशल प्रसव नहीं कर सकी थीं। कुछ का इसी प्रयास में प्राणान्त हो गया था और कुछ का गर्भ माता के उदर को नाभि के पास विदीर्ण करता हुआ बाहर निकल आया था। ये ही शिशु बड़े होने पर विशाल आकार के असुर हुए थे (वालिस बज १९३२:अ–१००; डानिकेन १९८१–१:१२५)। भारतीय इतिहास में भी जांघों से प्रसव होने का उल्लेख मिलता है। सुमेर से प्राप्त एक कीलाक्षर लेख में भी निनलिन द्वारा इनलिल देव की कामयाचना के, अपने अंगों के अपेक्षाकृत अत्यधिक छोटा होने के आधार पर, प्रत्याख्यान किए जाने की बात कही गई है (डानिकेन १९८१–१:१२८)।

सम्भवतः इन असुरों में सभी प्रजातियों में प्रजनन कर सकने की क्षमता थी। अनेक अनुश्रुतियों में बहुत बाद तक मिश्रित पशुओं का उल्लेख मिलता रहता है। सुमेर के गिलगमेश की गाथा में इन्किडु को सायास मानुषी भेज कर पशुओं से संसर्ग करने से रोके जाने का वर्णन हुआ है (सैन्डर्स १९६०:६२–६३)। वहीं के असुर राजाओं के काल तक अर्ध पशु मानवों के आखेट किए जाने के उल्लेख भी मिलते हैं। क्रीट द्वीप के निमोटौर (अर्ध वृषभ - मानव) को प्रतिवर्ष छह युवतियां भेंट की जाती थी। (हचिन्सन १९६८: कोत्रेल १९५३:११०–११५)। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस लिखता है कि मिस्र में सभी के देखते–देखते एक अर्धबकरे ने एक स्त्री के साथ बलात्कार किया था। उसी ने 'पान' देव के बकरे के सिर और पांवों की उत्पत्ति को लज्जावश लिखने से मना ही कर दिया है (१९५४:१२१)। यूनान में पिरिथौस के विवाह के अवसर पर अर्ध अश्व मानव सेन्टौर ने लपिथई की पत्नी से बलात्कार किया था (डानिकेन १९७६:१५५)। रोम के इतिहासकार तैसितस ने रोम के अभिजात्य परिवारों में होने वाली नैशकाम क्रीड़ाओं

में अर्ध पशुमानवों के सम्मिलित होने की बात लिखी है (१५६-३५० ५५)। यहूदी तालमुड में आदम की पसली से उत्पन्न कराई गई स्त्री 'ईव' के सर्प से संसर्ग करने की अनुश्रुति के आधार पर ही मध्यकाल में ऊपर स्त्री और नीचे सर्पाकार आकृतियों के चित्रण को प्रोत्साहन मिला था (डानिकेन १६७८-२०५७)। भारत में भी अश्विनीकुमारों और शृङ्गी ऋषि के जन्म की तथा किंदम ऋषि की मृत्यु की कथा सुविदित है ही।

असुर—दानवों के हस्तक्षेप और इस प्रकार के अर्ध पशु—मानवों की उत्पत्ति से देवों का यह तीसरा परीक्षण भी असफल हो गया प्रतीत होता है। वेदों में आई असुरों और देवों के संघर्ष की कथा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। क्या संघर्ष के अन्य कारणों में देवों द्वारा वानर को उत्परिवर्तित करके मनुष्य बनाने के परीक्षणो—प्रयोगों में असुरों का हस्तक्षेप भी एक कारण था? कहा नहीं जा सकता किन्तु देवों की रक्षिता स्त्रियों पर असुरों द्वारा हुए बलात्कार की घटनाएं भारतीय इतिहास में अज्ञात नहीं हैं। इस संघर्ष में अन्ततः पराजित हुए असुरों ने अपनी सभी बहुमूल्य वस्तुए समुद्र में फेंक दी थीं। क्या इस कथा में उनके एशिया और योरोप से भाग कर जलमार्ग से, दक्षिणी अमरीका चले जाने का अभिप्राय नहीं ग्रहण किया जा सकता? दक्षिणी अमरीका की अनुश्रुतियों से इसकी पुष्टि होती प्रतीत होती है (डानिकेन १६८-१६०)। जो कुछ भी हो, बाइबिल में कहा गया है कि अपने परीक्षणों को असफल होता देख परमेश्वर "याहोबा पृथिवी पर मनुष्य को बनाकर पछताया था और मन में अत्यन्त दुखी हुआ था .. तथा यहोबा ने सोचा कि मैं मनुष्य को जिसकी मैंने सृष्टि की है, पृथिवी के ऊपर से मिटा दूंगा" (उत्पत्ति १.६.६-७)।

अनेक भारतेतर अनुश्रुतियों में यथा, मिस्त्र की *'मृतकों की पुस्तक'*, यूनान के हेसियॉड की *"थियोगोनी"*, रोम के ओविड की *'मेटामार्फासिस'* आदि पुस्तकों तथा न्यूजी लैण्ड की माओरी तथा अमरीका मे प्यूट आदि जनजातियों की अनुश्रुतियों में अपने द्वारा सृष्ट—विकसित मनुष्यों के विपथगामी हो जाने से कुपित होकर देवों द्वारा उन्हें दण्ड स्वरूप नष्ट किए जाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। भारतीय परम्परा में बहुत पहले से ही अथवा प्रारम्भ से ही, स्वयं को ही स्त्रष्टा समझने की आसुरी प्रवृत्ति के विपरीत, प्रत्यक्ष स्त्रष्टा आगन्तुक देवों के ऊपर भी एक अमूर्त परम चैतन्य स्वरूप पुरुष की सत्ता की अनुभूति हो चुकी थी, अतः उसके पछताने का प्रश्न ही नहीं उठा था। यदि शरीरधारी देवों को पछतावा हुआ भी होगा तो उसे बार—बार दुष्टों—प्रतिगामी तत्वों — को नष्ट करके पृथिवी का भार कम करने के लिए होने वाले अवतारों की अवधारणा में समाहित कर लिया गया था। बारम्बार होने वाले इन अवतारों में द्युलोकस्थ स्वर्ग से देवों के लौट—लौट आने और पुनः नए सिरे से परीक्षणों—प्रयोगों की श्रृंखला प्रारम्भ करने का अभिप्राय भी अन्तर्निहित हो गया है।

अन्य परम्पराओं में सभी अच्छी या बुरी बातें न्यूनाधिक व्यंगार्थ के साथ स्वीकृति पा गई हैं परन्तु भारत की आर्ष परम्परा की आदर्शवादी धारणाओं से अनुप्रमाणित सामयिक युगबोध के अनुसार असुविधाजनक तथ्यों को, महाचीन की तरह, मिटा डाला गया है। जहां, द्रौपदी के पांच पतियों की कथा की तरह, मिटाना सम्भव नहीं हो सका है, वहां विभिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत करके उनके प्रभाव को कम

करने का प्रयत्न अवश्य ही हुआ है। फलस्वरूप जहां महाचीन में लोक कथाएं इस आदर्शवादी दृष्टिकोण से बहुत कुछ अप्रभावित रह सकी है (फेयरसर्विस १९५६:७७–८०), वहीं भारत में वेदार्थ को उपबृंहित करने वाले पुराणों और इतिहास ग्रन्थों के सार्वजनिक वाचन की परिपाटी प्रारम्भ करके लोक को शिक्षित (साक्षर नहीं) करने का जो अभिनव और स्तुत्य प्रयास किया गया था, उससे लोक कथाएं भी अछूती नहीं रह सकी हैं।

जो कुछ भी हो, मनुष्य को विकसित करने के इस प्रयास के भी प्रतिगामी हो जाने पर देवों ने इन्हें नष्ट कर दिया होगा। बाइबिल में याहोबा द्वारा मनुष्य को नष्ट कर देने का निश्चय कर लिए जाने के तुरन्तबाद ही जलप्लावन का उल्लेख हुआ है। जल प्रलय का उल्लेख भारत से लेकर अमरीका की जनजातियों तक (बर्लेज १९७७:४५–५६, डानिकेन १९८६:२५) तक की अनुश्रुतियों में समान रूप से पाया जाता है। प्रतीत होता है कि यहां चक्र क्रम से होने वाली हिमाक्रान्ति—जलप्लावन की अनेक घटनाओं को एक में ही मिला दिया गया है। इतना समझ लेने पर वेदों की जल प्रलय और अवेस्ता में वर्णित *'वार'* का सामन्जस्य स्थापित करने में अतीव सहायता मिलती है। जब उत्तर के लोग हिमाक्रान्ति के भय से दक्षिण की ओर आते रहे होंगे— *हिमाक्रान्ति भयात् जनाः पादं पादं विसृज्यैते श्रयन्ते दक्षिणा पथम्* (काणे,ध.शा.इ. १९५६ : भाग ३: १३६) तभी दक्षिण के लोग जलप्लावन से त्राण पाने के लिए उत्तर के ऊंचे प्रदेशों में चले जाते रहे होंगे। बढ़ते जल स्तर से बचने के लिए ऊंचाई आवश्यक रही होगी। इस ऊंचाई पर ही तो मनु की नौका बांधी गई थी। प्रतीत होता है कि यम का *'वार'* और मनु के नौबन्धन क्षेत्र की शरण स्थली एक ही स्थान थे। यम और मनु, दोनों ही वैवस्वत—विवस्वान के पुत्र कहे भी गए हैं (ज़ेन्द अवेस्ता, वेन्दिदाद, फरगर्द २.२१–३० एस.बी.ई ४:१५–१८)। इसी प्रसंग में गिनाए गए भौगोलिक नामों के आधार पर राबर्ट शाफेर ने पारसीकों का सरयू, सरस्वती, सिन्धु और रसा के उसी उद्गम क्षेत्र, जिसे ताण्ड्य और जैमिनीय ब्राह्मणों में स्वर्ग भी कहा गया है, से निकलकर ईरान पहुंचने की प्रसिद्धि की है (१९५४:३५–४५)।

देव मनुष्य को आकार में ही नहीं, प्रकार में भी अपने स्वरूप के अनुसार ढालना चाहते थे, परन्तु अब तक के प्रशिक्षित करने के सभी प्रयास, कुछ कमी रह जाने के कारण व्रात्य रह जाने अथवा असुरों के सम्पर्क में आने से असफल ही सिद्ध हुए थे। उन्होंने एक और प्रयास करने का निश्चय किया होगा। इस बार उन्होंने मनुष्य के साजात्य प्रजनन करके वंशवृद्धि करने के लिए उसी के अंगों से सारतत्व लेकर स्त्री भी बनाई थी और मनुष्य के मस्तिष्क की ऊतक कोशिकाओं में अपने समस्त ज्ञान विज्ञान को संजोए रखने वाले एलेक्ट्रान को 'जीन' और अन्य गुणसूत्रों के माध्यम से संक्रामित कराते हुए प्रत्यारोपित भी किया होगा। सम्भवतः इसे ही वेद की शब्दावली में 'अन्तःकरण में वाणी का प्रविष्ट कराया जाना' कहा गया है। पिछली बार की ही तरह इस बार भी देवों ने छिपकर इन मनुष्यों की परीक्षा ली थी। परन्तु इस बार नवीन विधि से उत्परिवर्तित मनुष्यों ने रस चूस कर उलटा गाड़े गए यूप को सीधा करते हुए यज्ञ को पहचानने में सफलता पाई थी और अपनी पूर्ण विकसित बुद्धि का परिचय दिया

था। यह सब कब घटा था, कहना कठिन है परन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इस घटना को चतुर्थ हिमाक्रान्ति—जलप्लावन के उत्तरार्ध में ३० से २० सहस्र पूर्व हुआ माना जा सकता है। इसकी अवर सीमा रेखा को ठीक मानने का प्रमुख कारण है हेरोडोटस को मिस्री पुरोहितो द्वारा दी गई आधिकारिक सूचना कि आज से लगभग ३ सहस्र पूर्व हुए राजा अमासिस से १७ सहस्र वर्ष पूर्व से ही पृथिवी पर देवों का अवतरण नहीं हुआ था। ऊपर की सीमा रेखा का अनुमान अमरीकी और आस्ट्रेलिया के आदिवासियों के स्थल मार्ग से वहां पहुंच जाने के बाद हुआ मानने से किया गया है।

३. सांस्कृतिक विकास का केन्द्र : हिमालय की देवभूमि :

संसार की सर्वाधिक प्राचीन और अविच्छिन्न लिखित आर्ष परम्परा में मनुष्यों— 'प्राज्ञपुरुषों'—की उत्पत्ति हिमालय की देवभूमि में हुई मानी गई है। प्रायः सभी प्राचीन परम्पराएं इसी ओर इंगित करती प्रतीत होती है। आधुनिक ईराक की आद्य सुमेरी संस्कृति के प्रणेताओं को पूर्व और उत्तर की ओर से आकर बसा हुआ माना जाता है। उनके नाम में भी मूल अभिजन — सुमेर — सुमेरु की स्मृति अभी भी सुरक्षित है। यूनान के लोगों की देवभूमि, बेक्कस और डायोनिसस की जन्म भूमि, मेरोस मेरु ही है। यहां यह स्मरण कराना आवश्यक प्रतीत होता है कि यूनानी भाषा में 'मेरोस' का एक अर्थ जंघा भी होता है। प्रतीत होता है कि यहां मातृयोनि से भिन्न, किसी जंघा जैसे अस्थिमय अंग से उत्पन्न होने की स्मृति को भी पर्वतीय उत्पति सो जोड़ कर सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है (मजूमदार १९६०: ३८, १०७–८,२१५, २३५, ३८५; शफ़र १९५४: ४५–४७)। अमरीका की जनजातीय अनुश्रुतियों में भी बिना माता—पिता के सहयोग के ही आदि मानव के उत्पन्न होने की बात कही गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों में मेरु—सुमेरु अर्थात् हिमालय की पर्वतमालाओं के क्षेत्र विशेष को ही मानव की उत्पत्ति स्थली माना जाता है।

परम्पराएं ही नहीं, आधुनिक नृतत्वशास्त्री और पुरातत्वज्ञ भी स्पष्ट रूप से ऐसा न मानते हुए भी, परोक्ष रूप से इसी तथ्य को इंगित करते रहे हैं। ढ़ाई लाख वर्ष पूर्व की नियन्डरथल तथा ७५ सहस्र वर्ष पूर्व की 'प्राज्ञ पुरुष' कही जाने वाली प्रजाति, दोनों को ही 'पूर्व में एशिया के किसी अधावधि अज्ञात प्रदेश से योरोप पहुंचा' माना जा रहा है। यद्यपि आज १०—१२ सहस्र वर्ष पूर्व के 'प्राज्ञ पुरुषों' को शरीर रचना की एकांगी दृष्टि से ७५ सहस्र वर्ष पूर्व आए मनुष्यों की स्थानीय सन्तति माना जा रहा है, परन्तु दोनों के बौद्धिक स्तर के विकास के महान अन्तर को देखते हुए यही मानना उचित प्रतीत होता है कि ये भी उसी प्रयोगशाला में विकसित होकर निकले हुए अन्यतम उत्पाद थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका हैअनेक हिमाक्रान्ति और उतनी ही बार हुए जलप्लावन की अवधि में हिमालय से आवेष्टित 'वार' ही ऐसा स्थान था जहां उत्तर से दक्षिण की ओर बढ़ते हुए हिमनदों से बचा जा सकता था और वहीं दक्षिण की ओर से बढ़ते जलस्तर से बचने के लिए नौबन्धन करके शरण ली जा सकती थी। इस पर भी यदि कोई इस सत्य को अस्वीकार करे तो वह उसका दुराग्रह ही होगा। भौगोलिक दृष्टि से भी हिमालय का यह क्षेत्र सभी प्रदेशों के मध्य में स्थित

है और यहीं से सभी भूभागों को जाने फैलने के मार्ग भी खुलते हैं।

हिमालय में हुई मनुष्य की उत्पत्ति के कारण ही सभी परम्पराओं में देवों का सम्बन्ध पर्वतों से स्थापित किए जाने के प्रयासों का औचित्य भी समझ में आने लगता है। सभी प्राचीन सभ्यताओं में देवताओं का निवास स्थान पर्वतों पर माना गया है। वहीं जाकर ही मनुष्य उनको देख पाता था, वहीं जाकर उसे उनके आरोहण और अवतरण के मार्ग दृष्टिगोचर होने लगते थे और वहीं पर उसे देवों का सानिध्य प्राप्त होता था। मनुष्य जब पर्वतों से उतर कर निचले प्रदेशों में , जहां पर्वत नहीं थे, आकर रहने लगा, वहां भी उसने उनके आरोहण अवरोहण के लिए, उन्हें देखपाने और उनसे सम्पर्क साधने के लिए भारत में आस पास के सभी भूभागों से ऊंचे स्थान में यज्ञवेदी, सुमेर में जिंगुर्तो, मिस्त्र और दक्षिणी अमरीका में चतुरश्र महाचैत्यों का निर्माण किया था। यहूदियों ने भी किसी से पीछे न रहते हुए 'आकाश को छूनेवाला' बावेरू का स्तम्भ बनाया था। ये सब देवों से नैकट्य स्थापित करने के साधन ही तो थे। भारत के मध्यकालीन देवालयों के आकाश को छूने की प्रक्रिया में क्रमशः ऊपर उठते जाने वाले गगन चुम्बी शिखर और गोपुर भी तो देवों की ऊर्ध्वस्थिति की अवधारणा को ही तो रेखांकित करते हैं। ईसाइयों के गिरजाघरों और मुसलमानों की ऊंची ऊंची मीनारें और गुम्बद भी उसी परम्परा की स्मृति का ही वहन कर रहे हैं।

इस प्रकार पर्वतों पर, विशेष रूप से हिमालय में, देवों का निवास होने की और वहीं उनसे सम्पर्क साध सकने की इस अवधारणा के पीछे यही कारण रहा होगा कि सर्वप्रथम वहीं मनुष्यों को देवों का परिचय मिला था। देवों से सम्पर्क होने का स्पष्टार्थ यही है कि वहीं पर देवों ने पुरुष पशु का 'आलम्भन' करके उत्परिवर्तित करते हुआ उसका 'संज्ञपन' किया होगा, उसके अन्तःकरण में समस्त ज्ञान विज्ञान को आरोपित किया होगा। महानारायणोपनिषद में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए ही कहा गया है – *उत्तमे शिखरे जाते भूम्यां पर्वतमूर्धनि* (१.५.५)। ऊपर प्रस्तुत किए गए समाधान से ही इस वाक्य की सार्थकता स्पष्ट होती है।

एक अन्य बहुप्रचलित अनुश्रुति भी ऊपर प्रस्तुत किए गए समाधान की पुष्टि करती है। भारत की आर्ष परम्परा तो वेद को देव निस्सृत और वेद की भाषा को देववाणी मानती आ रही है और अन्य भाषाओं को उसी एक मूल भाषा से विकृत होकर उत्पन्न हुआ मानती है (मीमांसक १९८५:१-५७)। बाइबिल में भी यही बात दुहराई गई है। कहा गया है कि 'अब सारी पृथिवी की एक ही भाषा और एक ही बोली थी" (उत्पत्ति ११:१-६) और उसमें थोड़े ही शब्द थे। प्रतीत होता है कि परम्परा से सुनी सुनाई एकाक्षरी, द्व्यक्षरी वाक और असीम शब्द राशि – *बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्ष सहस्त्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द पारायणं प्रोवाच* (पतंजलि म.भा. १.१.१) के बीच भ्रम हो जाने के कारण ही यहूदी लेखक ने 'अक्षर' के स्थान में शब्द लिख दिया है। पृथिवी के दूसरी छोर पर स्थित दक्षिणी अमरीका के क्विचे माया की 'पोपोल बूह' में संग्रहीत अनुश्रुति १५ में कहा गया है – 'उनकी एक ही भाषा थी। वे काष्ठ अथवा प्रस्तर की (मूर्तियों की) उपासना नहीं करते थे।' थोड़ा और आगे चल कर कहा गया है कि 'हम विभ्रम

में पड़ गए हैं। इसका कारण क्या है? आदि में हमारी भाषा एक ही थी' (डानिकंन १९८६:२४)। बाइबिल में याहोबा को ही इस विभ्रम का जनक कहा गया है – 'आओ, हम उतर कर उनकी भाषा में बड़ी गड़बडी फैला डालें कि वे एक दूसरे की बोली को न समझ सकें। इस प्रकार याहोबा ने उनको वहां से सारी पृथिवी के ऊपर फैला दिया" (उत्पत्ति १०७-८.६)। इस एक मूल आदि भाषा और उसी से अन्य भाषाओं की उत्पत्ति की बात तभी सार्थक हो सकेगी जब हम मनुष्य की उत्पत्ति का एक ही केन्द्र स्थल स्वीकार कर लें। यदि प्रत्येक देश और जाति की परम्परा को उस उस भूभाग की स्वतंत्र उत्पत्ति माना जाएगा तो सभी परम्पराओं में मूल भाषा और संस्कृति के एक होने की बात का सामन्जस्य कैसे बिठाया जा सकेगा? आज यह अनुभव सिद्ध है कि इंग्लैंड के सभी क्षेत्रों में बोली जाने वाली अंग्रेजी का उच्चारण सर्वत्र एक सा नहीं हैं। भारत के विभिन्न प्रान्तों में पढ़ाई और बोली जाने वाली हिन्दी की तो बात ही क्या, उत्तर प्रदेश के ही सभी क्षेत्रों में उसका उच्चारण एक सा नहीं है। इससे भी आदि में एक भाषा और एक बोली बोलने वाले मनुष्य की उत्पत्ति का एक ही केन्द्र होने की सम्भावना को परोक्ष रूप से समर्थन मिलता है और उपरोक्त कथन के अनुसार वह केन्द्र स्थल हिमालय क्षेत्र में ही होना चाहिए।

४. असुरों का कृतित्व :

जिन दिनों देव हिमालय के क्षेत्र में पुरुष पशु—वानर का आलम्भन—संज्ञपन करके उन्हें मनुष्य बनाने में प्रयासरत थे, लगभग उन्हीं दिनों किसी अन्य ग्रह से आया होने के कारण 'प्राजापत्य' कहे गए असुरों ने पृथिवी के अनेक भूभागों पर आधिपत्य स्थापित करते हुए अपने उपनिवेश बना लिए थे। उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुरूप ही अपना महत्व उद्‌घोषित करने तथा अपना नाम चिरस्थाई करने के लिए पश्चिमी एशिया और योरोप तथा अन्यान्य देशों में विशाल स्मारक स्थापित किए थे। मनुष्य की अद्यावधि ज्ञात प्राचीन सभ्यताओं में भारत की सारस्वत सभ्यता तो आर्ष परम्परा की साक्षात वाहक होने के कारण निश्चय ही देवों द्वारा प्रतिष्ठापित आर्य संस्कृति का विस्तार है (भगवान सिंह १९८७, १९९१; श्रीकान्त तलगढ़ी १९९३–१२, डेविल फ्राले १९९३, १९९५)। शेष अन्य सभ्यताओं की आसुरी उत्पत्ति के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। कालान्तर में असुरों की पराजय और फलस्वरूप हुए उनके निष्कासन के बाद ही उन उन देशों में देव—आर्य—संस्कृति का प्रचार—प्रसार हुआ होगा। आज जो कुछ स्थापत्य वहां मिलता है, वह असुरों का ही कृतित्व है ओर वहां की परवर्ती संस्कृति असुरों और देवों की मिली जुली संस्कृति है जिसकी अनुश्रुतियों में दोनों परम्पराओं के घुल मिल जाने का अनुमान किया जा सकता है। इन सभ्यताओं में प्रमुख है– १. पश्चिमी एशिया में आधुनिक ईराक की सुमेरी संस्कृति, २. उसके पश्चिम में उत्तर वाहिनी नील नदी के दोनों तटों पर पल्लवित होने वाली मिस्री संस्कृति; ३. पश्चिमी योरोप और इंगलैंड में पाई जाने वाली बृहत् शिलशवाधारों की संस्कृति तथा ४. मध्य और दक्षिण अमरीका की माया संस्कृति।

(१.) सुमेर

सुमेरी सभ्यता के वाहक कहीं अन्यत्र से एकाएक ही आकर स्थानीय तथाकथित सेमेटिक कहे जाने वाले ईराकी आदिवासियों पर अरोपित हो गए थे। वे अपने साथ ही, आज से लगभग छह सहस्त्र पूर्व, एक अतिविकसित सभ्यता और समुन्नत प्राविधिक उपलब्धियां ही नहीं, वरन् एक सुदीर्घ कालीन इतिहास की परम्परा भी लाए थे। उनके 'आकाश से उतरे' दस राजाओं ने जलप्लावन के पूर्व ४५६००० वर्षों तक राज्य किया था। उसके बाद के समय में भी उनके दीर्घ राजत्व का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हमारी कल्प गणना पर आधारित सृष्टि संवत्सर जितनी संख्या उसी तरह के किसी अनुसंधान की ओर इंगित करती प्रतीत होती है। उस संख्या और प्रचलित सृष्टि संवत्सर का अन्तर कल्प की व्याख्या भेद पर आधारित अन्य गणनाओं जितना ही है (मीमांसक १९७३.२८-२९, वीरेन्द्र शास्त्री १९७८.१-११)। पुरातत्वविद् इन्हें उत्तरपूर्व के किसी अज्ञात प्रदेश से आया मानते हैं किन्तु उस उद्गम स्थल का अथवा वहां से आने के मार्ग का निश्चय करने में अभी तक असफल ही रहे हैं (गार्डन चाइल्ड १९५४)। यद्यपि अनेक विषयों में इन पर आर्य संस्कृति की स्पष्ट छाप है, किन्तु प्रतीत होता है कि शीघ्र ही ये पूर्व की ओर बढ़ते हुए असुरों के प्रभाव क्षेत्र में आ गए थे। इनके अनेक कृत्य तथा मुर्दों के साथ ही दास–दासियों और अन्यान्य जीवनोपयोगी वस्तुओं को गाड़ना भी इन पर असुरों के प्रचुर प्रभाव को सूचित करते हैं। कालान्तर में सुमेर से बदल इस प्रदेश के नाम का भी, असुरों के नाम पर ही, अश्शुर–असीरिया–सीरिया हो जाना तो इस प्रभाव को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है।

(२.) मिस्त्र :

सुमेर की तरह ही मिस्त्र मे भी, जैसा कि आज पुरातत्व वेत्ता बता रहे हैं, सभ्यता बिना किसी पूर्व पीठिका के ही, विस्फोटक रूप से ही अवतरित हुई थी। एकाएक ही विशाल नगर, दोनों ओर मूर्तियों से सजे हुए भव्य राजमार्ग, सजीव मूर्ति शिल्प, जलनिष्कासन की समुचित व्यवस्था, सभी सुविधाओं से परिपूर्ण तथा अत्याधिक कठोर पत्थरों की अति सूक्ष्म कटाई करके इंच के हजारवें भाग जितने जोड़ों वाले शवगृह ओर उनकी ढलवां सुरंगें, ४०–४० क्विन्टल भार के असंख्य शिलाखण्डों को जोड़ कर बनाए गए चतुरश्र चैत्य–पिरामिड तथा इतनी ही अद्भुत अनेक वस्तुएं प्राप्त होनी प्रारम्भ हो जाती हैं (डानिकेन १९७६-१:८६ ८७)। यहां भी इन सबके आरम्भ होने की तिथि आज से लगभग छह सहस्त्र पूर्व ही मानी जाती है। इन सब अनुमानों पर आश्चर्य होता है। मिस्त्र में कृषि योग्य उपजाऊ भूमि नील नदी के दोनों तटों पर कुछ ही दूर तक उपलब्ध होती हैं। इस पर भी अधिकारी विद्वान बृहत् चतुरश्र चैत्यों के निर्माण के युग में मिस्त्र की जनसंख्या के लगभग ५ करोड़ होने का अनुमान करते हैं। एक दूसरे आधिकारिक अनुमान के अनुसार उस काल में सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्या मात्र २ करोड ही मानी गई है (डानिकेन १९७६ १:६६-६७)। इन दोनों संख्याओं के सामन्जस्य का प्रयत्न न करते हुए भी, इतना तो पूछा ही जा सकता है कि क्या नील नदी के किनारे उपलब्ध थोड़ी सी उपजाऊ भूमि से असंख्य श्रमिकों–पत्थर

ढोने वाले और काटने वाले और चढ़ाने वाले वास्तु शिल्पियों, व्यापारियों, अधिसंख्य सुविधाभोगी पुरोहितों और राजपरिवार तथा उसके संख्यातीत परिजनों का भरण पोषण हो जाता रहा होगा?

कहा जाता है कि इन महाचैत्यों को बनाने के लिए बृहत्परिमाण के असंख्य शिलाखण्ड काष्ठ के बड़े–बड़े लठ्ठों पर सरकाते हुए लाए जाते थे और कच्ची मिट्टी के ढूहों के सहारे एक दूसरे के ऊपर चढ़ाए जाते थे। यहां यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मिस्र में खजूर और ताड़ के अतिरिक्त लठ्ठे बनाए जाने योग्य वनस्पति होती ही नहीं है। क्या मिस्री लोग खाद्य और उष्ण जलवायु में रक्षा प्रदान करने वाले इन बहुमूल्य उपयोगी वृक्षों को काटने के लिए उद्यत् हुए होगें? यदि नहीं, तो क्या ये लठ्ठे लेबनान से आयात किए जाते थे? मिस्र में रथचक्र का प्रयोग १७ वे राजवंश के काल में आज से केवल ३६ सौ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हुआ माना जाता हैं। उस दशा में सुसंगठित नौ परिवहन की कल्पना करनी होगी और फिर भी काहिरा से निर्माण स्थल तक तो स्थल मार्ग से ले जाने की समस्या तो वैसी ही बनी रहेगी। इस प्रकार लठ्ठों की बात कुछ समझ में नहीं आती है।

फिर, इतने कमरों और दालानों और सुरंगों की योजना बनाने के क्या साधन थे? शिल्पियों ने बृहत् परिमाण के शिलाखण्डों को काटा कैसे होगा और ढलवां सुरंगों को खोदा कैसे होगा? ये सुरंगें निर्माण की अतिश्रेष्ठ गुणवत्ता की प्रविधि का प्रमाण प्रस्तुत करती है। परन्तु छठे राजवंश के राजा टेटी के शवगृह से लेकर नए राजवंश के रामसेस के शवगृह बनने की सहस्त्र वर्षों की दीर्घ अवधि में शैलीगत अथवा पद्धति परक किसी विकास के प्रमाण नहीं मिलते हैं। बाद के शवगृहों में तो अवनति के लक्षण ही सुस्पष्ट होते हैं। सम्भवतः ये प्राचीन शवगृहों की विरूप अनुकृति ही थे। एक बात और, इन शवगृहों के अन्धकार पूर्ण गलियारों और सुरंगों में कहीं भी उल्काओं के धुंए की कालिमा के चिन्ह नहीं मिले हैं, अतः उनके प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसलिए उनमें आवागमन ही नहीं, उनकी दीवांलों के सज्जित करने के लिए चित्र उकेरने के लिए आवश्यक प्रकाश की व्यवस्था कैसे की गई थी?

पुनः, आज हम जानते हैं कि मिस्र के प्राचीन चतुरश्र चैत्य किन्हीं विशेष नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर बनाए गए थे। किन्तु मिस्री ज्योतिष का कोई विशेष प्रमाण न मिलने से यह जानकारी और भी अधिक संदेहास्पद प्रतीत होती हैं। कुछेक नक्षत्र, जिनका प्राचीन मिस्रियों को ज्ञान था, में लुब्धक एक है। मिस्र की नील नदी में बाढ़ आने के दिनों में यह नक्षत्र मेम्फिस से ऊषा काल में बहुत थोड़े समय के लिए ही क्षितिज से बहुत सटा हुआ दिखाई देता है। फिर, लुब्धक के दिखते ही नील में बाढ़ आ जाना भी बहुत सुनिश्चित नहीं है। इससे केवल सम्भावना ही प्रबल हो उठती है। तब फिर, सूर्य, चन्द्रमा और अन्यान्य प्रत्यक्ष ग्रहों को छोड़कर ४२२१ ईस्वी पूर्व में १६ जुलाई से प्रारम्भ होने वाले ३२ सहस्त्र वर्षों के चक्र के पंचांग के प्रति इतना आग्रह क्यों? प्रतीत तो यही होता है कि यह पंचांग किसी अति प्राचीन परम्परा पर ही आधारित था। अफ्रीका की डोगोन जन जाति में अभी भी लुब्धक नक्षत्र के सम्बन्ध में अतिविशद

जानकारी सुरक्षित होने का पता चलने से भी इसी सम्भावना की पुष्टि होती है।

पुनः, काहिरा के पश्चिम में चेओप्स के चतुरश्र चैत्य की ऊंचाई को एक अरब से गुणा करने पर पृथिवी से सूर्य की मीलों की दूरी जितनी संख्या प्राप्त होती है। इसके मध्य से खींची गई खड़ी रेखा ससागरा पृथिवी को दो बराबर भागों में विभाजित करती है। इसके तल भाग के क्षेत्रफल को इसकी ऊंचाई से दुगुनी संख्या से भाग देने पर वृत्त और उसके अर्धव्यास का अनुपात, 'पाई', जिसे रूडोल्फ ने ज्ञात किया था, का मान निकल आता है। इसी से पृथिवी के भार का भी आकलन कर लिया गया था।

और भी, खूफू ने इस चैत्य के लिए यही स्थान क्यों चुना था? यहां तो शिलाओं को काट काट कर भूमि को समतल भी करना पड़ा होगा। पूर्वी खदानों के पास ही बनाए जाने पर पत्थरों की ढुलाई में लगे श्रम और समय, दोनों की ही बचत हो सकती थी। फिर, सम्राट के निवास स्थान के पास बनाए जाने से असंख्य श्रमिकों और उनके द्वारा पत्थरों के तोड़े और चढ़ाए जाने का रोर भी असह्य ही रहा होगा। इसके बीच में खींची गई रेखा का महत्व तो बताया ही जा चुका है किन्तु इसकी स्थिति के स्थान पर ही पृथिवी के गुरुत्व का केन्द्र बिन्दु होना तो और भी अधिक आश्चर्यजनक है (स्मिथ १८६४: डानिकेन १९७६-१:६८)।

इस चैत्य में ४० से १२० क्विन्टल तक के भार के लगभग २६ लाख शिलाखण्डों का समायोजन किया गया है। यदि प्रतिदिन १० शिलाखण्डों को भी चढ़ाया गया हो तो इस चैत्य को पूरा करने में लगभग २५ सहस्र दिन अर्थात् ६६४ वर्ष लगे होंगे। यदि किसी प्रकार से कार्य की गति को द्विगुणित कर दिया जाए तो भी ३३२ वर्ष से कम समय कदापि नहीं लगा होगा। इतने पत्थरों को काटने, छांटने, ढोने और चढ़ाने वाले श्रमिकों के रहने की किसी अस्थाई व्यवस्था के भी कोई चिन्ह नहीं मिलते हैं।

फिर, एडफू के भवन पर हाल ही में मिले एक लेख में इसे आधिदैविक शक्तियों के स्वामी इम होतेप की कृति कहा गया है। इस भवन के चारों ओर लगभग दस मीटर ऊंची प्रस्तर प्राचीर है। इम होतेप स्वयं यहीं गाड़ा गया है। यह व्यक्ति बहुत कुशल और रहस्यपूर्ण व्यक्ति माना जाता है। इसे पुरोहित, लेखक, वैद्य, वास्तुविद, चिन्तक, एक साथ ही सभी कुछ कहा गया है। कहा जाता है कि इसी ने राजा जोसेर के लिए सक्करा का सोपान चैत्य का योजना बद्ध रूप से निर्माण कराया था। बाद के युगों में इस शैली को फिर कभी दुहराया नहीं जा सका है।

(३.) पश्चिमी योरोप :

इंगलैंड के साल्सबरी के मैदानों में बृहत् शिला खण्डों को खड़ा करके बनाई गई एक के अन्दर दूसरी, दो परिधियां मिलती हैं। इनके ऊर्ध्व भागं को जोड़ने के लिए प्रस्तर पट्टिकाएं भी लगाई गई थी। आज इन्हें 'स्टोन हेन्ज़' कहा जाता है। यद्यपि इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में ईस्वी सन् ११३६ से ही विचित्र और विभिन्न अनुमान किए जाते रहे हैं, सन् १६०१ में डब्ल्यू. गोलैन्ड के प्रारम्भिक प्रयासों से लेकर १९५८ में एटकिन्सन के उत्खननों की समाप्ति तक किए गए पुरातात्विक उत्खनन-अनुसंधानों

से इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता माना जा रहा है। अब माना जाने लगा है कि प्राचीन काल में यह स्मारक लगभग २१६ किलोमीटर की सीधी दूरी पर स्थित प्रस्कली की खदानों से ४०–४० क्विन्टल भार के लगभग ८० शिलाखण्डों को ऊंचे–नीचे पहाड़ी क्षेत्र में जल और स्थल मार्गों से लाया जाकर, हरिण के सींगो से बनी कुदालों और पत्थर के हथौड़ों की सहायता से बनाया गया है। उत्खननों में लगभग ८० ऐसी कुदालें मिली हैं परन्तु वहीं यह भी स्वीकार किया गया है कि इंगलैंड के सार्सेन पत्थर पर तो आज के परम्परागत उपकरणों से भी काम करना अत्यत्न कठिन है (एटकिन्सन १९६०१०५–०६, १०३, १२४)। प्राचीन काल में नव पाषाण युग के उपकरणों से इसके निर्माण की तो कल्पना ही की जा सकती है। पुरातत्वविद् उत्खनन में प्राप्त वस्तुओं का उसी स्थल पर हुए निर्माण से सम्बन्ध जोड़ने की त्वरा में अनेक भयंकर और हास्यास्पद भूलें कर जाते हैं। हरिण के सींगों से बनी कुदालें तथा पत्थर के हथौड़े इन स्मारकों के निर्माण के, इनके निर्माता प्रयोक्ताओं के तिरोभूत हो जाने के, बहुत बाद आकर उसी स्थान पर शरण लेने वाले अन्य व्यक्तियों के उपकरण भी तो हो सकते हैं?

ओ.जी. एस क्राफर्ड, जे.एफ.सी. स्टोन, एस. पिगट तथा आर.ए.सी. एटकिन्सन आदि विद्वान एक मत है कि बाहरी परिधि ईस्वी पूर्व २८०० तथा भीतरी परिधि ईस्वी पूर्व २१०० में बनाई गई थी (१९५२:१४–२०)। इन पुरातात्विक अनुसंधानों के अतिरिक्त, प्रारम्भ से ही इस स्टोनहेन्ज ने वैज्ञानिकों का ध्यान भी आकृष्ट किया था। सौर भौतिक प्रयोगशाला के निदेशक सर जे. एन. लाक्येर ने ईस्वी सन् १९०१ में प्रतिपादित किया था कि यह स्मारक २००० से १६०० ईस्वी पूर्व में ज्योतिर्गणना करने की वेधशाला के रूप में स्थापित किया गया था (एटकिन्सन १९६०:६४–६५)। इधर अमरीका के मसाचुसेट के स्मिथसोनियन ब्रह्माण्ड भौतिकी प्रयोगशाला के जेराल्ड हाकिन्स ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है। उनकी गणनाओं से सिद्ध हुआ है कि इसकी सहायता से ज्योतिर्गिणनाओं की श्रृंखला प्रस्तुत की जा सकती है जिनसे चन्द्रमा की उत्तर ओर दक्षिण तम अंशों की यात्रा की १८.६१ वर्षों की अवधि, उत्तरायण और दक्षिणायन के दिन होने वाले सूर्योदय और चन्द्रोदय का काल, तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का भी सटीक पूर्वानुमान किया जा सकता है (१९६३,१९६५)। प्राध्यापक अलेक्जैन्डर थाम भी कम्प्यूटर की सहायता से इंगलैड और पश्चिमी योरोप के ६०० से भी अधिक बृहत् पाषाण शवाधारों का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुंचे है कि इनकी सहायता से सूर्य और चन्द्र ही नहीं, ब्रह्म हृदय, कैस्टर, पुनर्वसु, अभिजित, ज्येष्ठा रोहिणी तथा श्रवणा आदि नक्षत्रों की गति का अध्ययन किया जा सकता है। इन्होंने यह भी पता लगाया कि इन सभी स्मारकों में सामान्य रूप से ८२.६ सेन्टीमीटर लम्बे मान का इस दृढ़ता से प्रयोग किया गया है कि मानों उस समय माप–बांट नियन्त्रक कोई केन्द्रीय निदेशालय रहा हो (१९६७,१९७७)।

रूस के भूगर्भ खनिज शास्त्री ब्लादिमिर इवानोविच अविन्सकी का निष्कर्ष है कि स्टोनहेन्ज के आकार में विन्यस्त पंचतारक, परिधि के ३० पत्थरों और ५६ विवरों की सहायता से पृथिवी के निकटतम बुध, मंगल, बृहस्पति और शनि के परिणाम का

क्रम बताया गया है। इस परिमाण और आज के ज्ञात परिमाण में मात्र एक प्रतिशत का ही अन्तर है (डानिकेन १९८३:७६)। इसी तरह आज के प्रख्यात ज्योतिर्विद फ्रेड हॉयले भी इसे वेधशाला ही मानते हैं (१९६६, १९७२)।

अलेक्जेन्डर थाम के परीक्षणों से प्रेरित होकर ही कुल्मबाख के अभियांत्रिकी विशेषज्ञ रूडोल्फ कुत्जर ने पश्चिमी योरोप के पंक्ति बद्ध खंडे, किए गए 'मेनहीर' संज्ञक स्मारकों को एक विशेष विन्यास क्रम में लगाए गए दूरसंचार के संकेतों को ग्रहण करने वाले 'श्रृंगों की श्रृंखला' माना है। उनका कहना है कि इनसे ब्रह्माण्ड से प्राप्त संकेतों का प्रवर्धन किया जा सकता है। ये सीधे खड़े शिलाखण्ड नीचे की ओर संकरे होते जाते हैं जहां सर्पिल आकर की नालियां उकेरी गई हैं। उसके अनुसार इनमें तार लगा कर सभी शिलाखण्डों को जोड़ दिए जाने पर, उनमें पाया जाने वाला कणाश्म (क्वार्ट्ज) और लौह खनिज के अंश 'स्पर्श श्रृंगिकाओं' के अरण्य में परिवर्तित हो जाएंगे जिनसे ब्रह्माण्ड के किसी भी स्थान से भेजी गई संचार तरंगों का ग्रहण किया जा सकता है (डानिकेन १९८१-१:१३५-४२)।

लन्दन के पास पाए गए 'रोलराइट' शिलाखण्ड भी इसी श्रृंखला की एक कड़ी हैं। इस समूह में तीन विशिष्ट अंग हैं। एक ३१.६ मीटर व्यास की 'राजपुरुष' नामक शिला परिधि है। इससे लगभग ७० मीटर दूर 'राज शिला' कहा जाने वाला एक शिला स्तम्भ है। शिला परिधि के पूर्व में कुछ शिलाखण्ड खड़े है और कुछ गिर गए है। इन्हें 'फुसफुसाने वाला योद्धा' कहा जाता है। यहां अनेक परीक्षणों के बाद डा. जी.बी. राबिन्स ने सिद्ध किया है कि शिला परिधि ऊर्जा उत्प्रेरक केन्द्र थी और इसके निर्माण कर्ताओं ने निश्चित ही इस ऊर्जा का भरपूर उपयोग किया होगा (१९७७, १९७९)।

(४.) माया सभ्यता:

दक्षिण अमरीका की माया सभ्यता के सम्बन्ध में होने वाले अत्याधुनिक पुरातात्विक अध्ययनों तक हमारी पहुंच नहीं है। वे सारे के सारे ही जर्मन अथवा स्पेनी भाषा में हैं और हमारे जर्मन भाषा जानने पर भी उपलब्ध नहीं हो पाते है। फिर भी गौण माध्यमों से जो कुछ भी ज्ञात हो सकता है, हमें चमत्कृत करने और सोचने के लिए बाध्य करने के लिए यथेष्ट है। वहां के स्मारक भी बृहत्परिमाण के प्रस्तर खण्डों से निर्मित हैं। बहुत सी विशिष्ट आकृतियां अपने असम्भव भार के कारण आज भी संग्रहालयों में नहीं ले जाई गई हैं। न तो अब तक वहां बने पुलों में उनका भार सहन करने की क्षमता है और न ही उन्हें उठा सकने योग्य क्रेन गाड़िया ही। पूमा पून्कू नामक स्थान में चबूतरे में लगा एक शिलाखण्ड ४० मीटर लम्बा और ७ मीटर चौड़ा है।भूमि में दबा होने से उसके तीसरे आयाम की माप नहीं हो सकी है। इस अत्यधिक समतल किए गए पत्थर को गढ़ने की टूटन छीलन आस पास न मिलने से अनुमान होता है कि यह कहीं और से गढ़ कर लाया गया होगा। परन्तु पथरीली ऊंची नीची भूमि में ग्यारह मंजिले मकान के आयतन और २ सहस्त्र टन भार वाले इस शिलाखण्ड को लाने की कल्पना कम से कम आज उपलब्ध प्रौद्योगिकी के समक्ष भी चुनौती ही

है (डानिकेन १९८३:२१६)। फिर ७५–७५ मीटर गहरी गुहाएं जिनकी दीवालें हीरे जैसी कठोर और कांच जैसी चिकनी हैं, कैसे बनी होंगी (१९७५,६)? सान आगस्टीन का जलाशय भी जलाशय नहीं लगता है (१९८६:१२४-१२५)। अनेक स्थानों में २ मीटर या अधिक व्यास के पूर्णतः वृत्ताकार और चिकने पत्थर के गोले भी शिल्प की गुणवत्ता की ही नहीं, शिल्पकारों के गणित ज्ञान की भी घोषणा करते प्रतीत होते हैं (१९७६-२१४४ पर दिया गया चित्र)। इन सब आश्चर्य चकित करने वाली वस्तुओं को इन्हीं के साथ मिले मृत्भाण्डखण्डों के आधार पर ईसा की प्रथम सहस्राब्दी से पूर्व का नहीं माना जाता है। परन्तु क्या पत्थर और तांबे के उपकरणों से इतने विशालकाय शिलाखण्डों और गोलों को बनाया जा सकेगा अथवा हीरे से कठोर और कांच जैसे चिकने तल को उत्पन्न किया जा सका होगा? इसके लिए तो अत्याधुनिक अथवा सम्भवतः भविष्य में बनने वाले कुछ विशेष उपकरण ही प्रयोग में लाए गए होगें।

माया सभ्यता के सम्बन्ध में चर्चा समाप्त करने के पूर्व उनकी वेधशाला का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। उनके पंचांग और उसकी सुदीर्घ काल गणनाओं का उल्लेख तो ऊपर किया जा चुका है। माया सभ्यता के वृत्ताकार भवनों में सर्वाधिक प्राचीन मानी जाती है चिचेन की वेध शाला। जंगलों के बीच क्रमशः घटते हुए तीन चबूतरों पर बनी यह वेधशाला आस पास की वनराजि से बहुत ऊपर उठी हुई है और भीतर ही भीतर इसके ऊपर जाने के लिए चक्राकार सीढ़िया बनी हुई हैं। इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसकी अण्डाकर छत में खुलने वाले गवाक्ष अत्यधिक प्रकाशमान नक्षत्रों की ओर न खुल कर, उरेनस और नेप्च्यून तथा अन्य कम प्रकाशवान तारों का अध्ययन करते प्रतीत होते हैं (डानिकेन १९७६–१:१२५–१२६)

५. पुरातत्व के 'पथरिया' प्रमाण :

(१) प्रमाणों के अभाव की प्रामाणिकताः

हमने मिस्र और योरोप के बृहत् शिला चैत्यों और बृहत् शिलाशवाधारों को प्रारम्भ में ही, देवों की तरह परन्तु किसी दूसरे ग्रह से आए, असुर संज्ञक वैज्ञानिकों की कृति कहा है। उसका कारण है। पुरातत्वविदों का सुनिश्चित मत है कि १० लाख तथा ५ लाख वर्षोकी दीर्घ अवधि में जो विकास नही हो सका था, वह विगत १२ सहस्त्र वर्षो में होकर आज पराकाष्ठा को पहुंचता प्रतीत हो रहा है। पुरातात्विक सर्वेक्षणों और उत्खननों से सिद्ध हो चुका है कि १२–१० सहस्त्र वर्ष पूर्व ही 'प्राज्ञ पुरुष' — आधुनिक मनुष्य — ने स्वतः उत्पन्न होने वाले असंख्य वन्यधान्यों में से कुछ विशेष को चुन करके, उनकी बालियों को सूक्ष्म–पाषाण कणिकाओं को अस्थि या काष्ठ खण्डों में संयोजित करके बनाई गई दरांतियों की सहायता से काटकर प्रयोग करना प्रारम्भ किया था (ब्रैडवुड १९५६:१०५ और आगे)। बहुत थोड़ी ही अवधि में यही लोग कृषि कर्म के द्वारा इन्हीं चुने हुए धान्यों को उत्पन्न करने में पारंगत हो जाते हैं। अब इस उपज को वर्ष भर प्रयोग करने के लिए सुरक्षित रखने के लिए भूमिगर्तो अथवा कोठारों की, फिर रहने के लिए वास्तु, दैनिक प्रयोग के लिए मृत्भाण्ड, पहनने के लिए वस्त्र तथा सजने–सजाने के लिए अलंकरणों की बाढ़ सी आ जाती है। मगर अभी भी ये लोग

विशेष प्रकार के प्रस्तर उपकरणों का ही प्रयोग करते आ रहे थे। फिर आज से लगभग छह सहस्त्र वर्ष पूर्व तांबे, फिर संखिया मिश्रित तांबा अर्थात् कांसे का प्रयोग आरम्भ हुआ था। लौह का प्रयोग तो आज से लगभग साढ़े तीन सहस्त्र वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो सका था। अनेक अनुश्रुतियों से, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, भी धातु ज्ञान के इसी क्रम की पुष्टि होती है (वही १७०)।

इस प्रामाणिक क्रम को अस्वीकार करते हुए ही, इधर अनेक विद्वानों ने पुरातत्व के 'पथरिया प्रमाणों' का तिरस्कार करते हुए कहा है कि वेद में पढ़ा होने के कारण लोहा आदि काल मे ज्ञात ही नहीं था, वरन उसका प्रयोग भी होता था। इन विद्वानों का कहना है कि पुरातत्विक उत्खननों में उसके अस्तित्व के प्रमाणों का न मिलना मात्र एक दुर्भाग्य पूर्ण संयोग ही है — वायु में उपस्थित आक्सीजन के सम्पर्क से उसका अन्य धातुओं की अपेक्षा, शीघ्रक्षरण हो जाता है। अतः उसके अभाव को, वेद में स्पष्ट उल्लेख के सम्मुख, प्रमाण नहीं मानना चाहिए (स्वामी विद्यानन्द १९८९:१०४–०५; भगवद्दत्त १९६४ (१९६१) १:३१९–२१)। हम भी स्वीकार करते हैं कि वेद में बीजरूप में निहित ज्ञान विज्ञान अपने में सर्वांग पूर्ण है। परन्तु यह आवश्यक तो कदापि नहीं है कि मनुष्य ने उस सभी ज्ञान–विज्ञान को एक साथ ही सिद्ध कर प्रत्यक्ष कर लिया हो? किसी भी सैद्धान्तिक अथवा प्रयोगात्मक परीक्षण में अन्तिम सिद्धि तक पहुंचने के लिए अनेक चरणों में उनका क्रमिक विकास किया जाना प्रत्यक्ष है। ऊपर देवों द्वारा क्रमशः विकसित की जाती हुई चितियों से (श.ब्रा.८.३.१.१ से ५.१२) और प्रजापति द्वारा क्रमशः विकसित किए जाते पक्षी के आकार (के देवयानों) से ही अन्ततः द्युलोकस्थ स्वर्ग लोक तक आरोहण (श.ब्रा. १०.१.२.१) किए जाने की चर्चा ऊपर की जा चुकी। फिर, इन विद्वानों द्वारा 'पथरिया प्रमाणों' को अस्वीकार करना पुरातत्व की प्रविधि को ठीक से न समझने के कारण ही है। यदि उन्होंने पुरातत्वविदों के निष्कर्षों, जो कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने निजी संस्कारों, ज्ञान, दृष्टिकोण और रुचि पर निर्भर रहते हैं पर ही ध्यान केन्द्रित न करके, उसकी प्रविधि को भी समझने का प्रयास किया होता तो हमें विश्वास है कि वे ऐसा आक्षेप कदापि न करते ।

(२) प्रमाणों के अस्तित्व की अप्रामाणिकता :

प्रस्तुत विषय की ओर लौटते हुए हम बताना चाहेंगे कि ईस्वी पूर्व दूसरी सहस्त्राब्दी के मध्य के वर्षों के पहले लौह के उपकरण अस्तित्व में नहीं आ पाए थे। अब यदि ऊपर वर्णित सभी स्मारक उसी काल में बने हों , जिसमें उनका बनना स्वीकार किया जा रहा है, तो निश्चय ही उन्हें बनाने के लिए मात्र तांबे, पत्थर और हड्डी के ही उपकरणों का प्रयोग हुआ होगा। पर क्या यह सम्भव है? तांबा एक कोमल और मृदु धातु है। उसकी तलवारों और भालों से युद्ध में हाड़ मांस के मनुष्य को काट डालना और बात है, परन्तु उसके उपकरणों से क्या वे पत्थर भी कांटे, छांटे, छीले और चिकने किए जा सके होंगे जिन्हें आज के उन्नत अपकरणों से भी कठिनाई से ही साधा जा सकता है? मिस्र के चतुरश्र चैत्यों की एक इंच के सहस्त्रवें भाग जितनी सूक्ष्म चिनाई तथा माया गुहाओं की कांच जैसी चिकनी दीवारों की घिसाई तो असम्भव

ही प्रतीत होती है। अतः यह निश्चित जान लेना चाहिए कि ये स्मारक उस युग में नहीं बने थे जिनमें इनके बनाए जाने की डिण्डिम पीटी जा रही है।

दूसरी ओर इन स्मारकों में निहित ज्योतिर्विज्ञान के अनेक तथ्यों को क्या उस युग के मनुष्यों की ही उपलब्धि माना जा सकता हैं? हमारी समझ में यदि बात सामान्य ऋतुचक्र तक ही सीमित होती, तो किसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता था। परन्तु जिस ज्ञान का परिचय वेदों से अथवा इन स्मारकों को अध्ययन से मिलता जा रहा है, उनका अन्वेषण उन आदिम मनुष्यों ने स्वयं तो नहीं ही किया होगा। जिन तथ्यों की खोज के लिए कापरनिकस और गैलीलियो को दूरवीक्षण यंत्र का आश्रय लेना पड़ा हो, सौर मण्डल के परे के ज्ञान के लिए हर्षल द्वारा परिष्कृत दूरवीक्षण यंत्र आवश्यक रहा हो, जिस ब्रह्माण्ड के फैलते जाने को अत्याधुनिक रडियोधर्मी दूरसंवेदी उपकरणों से ही जाना जा सका हो, उन और उन जैसे अनेक तथ्यों को विकासवाद के अनुसार दीर्घकालीन विकास के फलस्वरूप वानरों से धीरे धीरे मनुष्य बनने वाले लोगों ने स्वयं आविष्कृत किया होगा, मानना तर्क संगत नहीं प्रतीत होता है।

जो कुछ भी हो, इन स्मारकों के निर्माण काल का निर्धारण उन पर उपलब्ध लेखों और फिर शैली के आनुमानित विकास के आधार पर ही किया जाता रहा है। आज चेओप्स का चतुरश्र चैत्य उस पर उत्कीर्ण प्राचीनतम लेख के आधार पर सम्राट खूफू का निर्माण कहा जा रहा है। हेरेडोटस ने भी इसी कथा को अपने इतिहास में दुहराया है (१६५४.१५१ और आगे)। मगर जिस स्मारक के बनने में ६६४ से ३३२ वर्ष लगने की सम्भावना हो, उसे एक राजा के राजत्व काल से कैसे सम्बद्ध किया जा सकता है? और, इस दीर्घ अवधि के बाद पूर्ण हुए चैत्य के प्रारम्भ और समापन का काल क्या माना जाएगा? किसी स्मारक पर मिलने वाले लेख ही तो उसके निर्माण के काल निर्धारण के लिए अन्तिम प्रमाण नहीं होते हैं। सदा से ही भारतेतर देशों में राजा लोग अपने से पूर्व ही स्थापित किए गए स्मारकों को अपने आत्मगौरव का चिरस्थाई वाहक बनाने के लिए स्वायत्त करते रहे हैं। सभी सम्राट अशोक नहीं हुआ करते। उसने रूपनाथ के शिलालेख तथा सातवें शिलास्तम्भ लेख में अपने समय से पूर्व ही स्थापित किए जा चुके शिलास्तम्भों का अपने लेखों के लिए उपयोग किए जाने का स्पष्ट उल्लेख करके जिस सत्यवादिता का परिचय दिया था वह प्राचीन इतिहास में विरल ही है। सत्य तो यही प्रतीत होता है कि खूफू ने अज्ञात वर्षो पूर्व बने इस विलक्षण चतुरश्र चैत्य का निर्माता होने के श्रेय को चिरस्थाई करने के उद्देश्य से इस पर अपने लेख लगवा दिए थे। पश्चिमी एशिया की अति सामान्य और बहुप्रचलित प्रथा के अनुसार प्रत्येक स्वेच्छाचारी और निरंकुश राजा अपने नाम को स्थायित्व प्रदान के लिए जहां एक ओर पहले से स्थापित स्मारकों को नष्ट करके पूर्वजों की स्मृति को मिटाने का प्रयत्न करता था, वहीं कुछ को अपना निर्माण सिद्ध करने के लिए उन पर अपना नाम भी खुदवा देता था, अपने नाम का खुतबा भी पढ़वा देता था। पूर्व राजाओं को अपमानित करके विस्मृत करा देने के उद्देश्य से ही उनके अन्तः पुर को भी बलात् स्वाधीन कर लिया जाता था। मिस्र ही नहीं, संसार के सभी भागों में जहां उस क्षेत्र से उठी आंधी पहुंची है, वहीं इस प्रथा के असंख्य प्रमाण उपलब्ध हैं। भारत में भी

पश्चिमी एशिया के दस्यु आक्रान्ताओं के आगमन के बाद से ही अजमेर में अढ़ाई दिन का झोपड़ा,दिल्ली में मेहरौली स्थित वेधशाला—कुतुबमीमार (परमात्मा सरन १९८६अ–५५–९५), बाबर द्वारा बनवाया कहा जाने वाला ग्वालियर का चतुष्कोण उद्यान तथा फतेहपुर सीकरी का नगर आदि इसके कुछ ज्वलन्त उदाहरण हैं (सीताराम गोयल १९९१)। अतः किसी भी स्मारक पर खुदे हुए लेखों के आधार पर ही किसी को उसका निर्माता घोषित करने के पूर्व, उसकी शैली के साथ साथ निर्माण कर्ता की योग्यता, उपलब्ध साधन और समय आदि का भी समुचित आकलन अपेक्षित ही नहीं, नितान्त अनिवार्य भी है। यदि हमारी यह अवधारणा सत्य है, और इसको असत्य मानने का कोई प्रबल तार्किक आधार नही है, तो ये चतुरश्र चैत्य और बृहत् शिला शवाधार पुरातत्वविदों द्वारा प्रस्तावित काल खण्ड से शताब्दियों ही नहीं, सहस्त्राब्दियों पूर्व ही बन चुके रहे होंगे।

इंगलैंड के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के बोडलियन पुस्तकालय में सुरक्षित मिस्री लेखक अलमसूदी के एक लेख के अनुसार चेओप्स का चतुरश्र चैत्य जलप्लावन के पूर्व हुए राजा सुरिद ने बनवाया था। उसी ने और भी लिखा है कि इस राजा ने अपने काल तक के समस्त ज्ञान विज्ञान को इसी चैत्य में निगूहित कर दिया था (डानिकेन १९७६–१९७२)। हेरोडोटस द्वारा, पुरोहितों से प्राप्त सूचना के आधार पर, लिखी गई तिथियां भी इसी परम्परा का समर्थन करती प्रतीत होती हैं। यदि से स्मारक मिस्री राजाओं के काल के पूर्व किसी समय में बने थे, तो उस सगय देवयान से आए देवों और उनसे भी पूर्व आकर पृथिवी पर स्थापित हो चुके असुरों के अतिरिक्त किसी अन्य निर्माण कर्ता के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता है। इन स्मारकों में निहित ज्ञान विज्ञान, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, से भी इनके सफल वैज्ञानिक और उतने ही कुशल वास्तुविद होनेकी सम्भावना प्रकट होती है। भारत की आर्ष परम्परा में भी वास्तु शास्त्र को असुरों की ही देन माना गया है। मत्स्य पुराण में उल्लिखित १८ वास्तु शास्त्र उपदेष्टाओं में प्रधान मय, भृगु और शुक्र असुर ही कहे गए हैं (२५२.२–४; भगवद्दत्त १९९४:३२३)।

एक अन्य तथ्य भी हमारे इस अनुमान की पुष्टि करता प्रतीत होता है। ऊपर कहा जा चुका है कि असुर शरीर को ही आत्मा मानते थे। सुमेर, मिस्र और पश्चिमी योरोप के ये सभी स्मारक देह—शवों— के संरक्षण से ही सम्बन्धित हैं। सुमेर और मिस्र में तो शवों के साथ साथ खाद्य और पेय ही नहीं, जीवनोपयोगी वस्त्रलंकरणों के साथ ही दास—दासियों जैसे जीवित प्राणी भी भूमिसात किए जाते थे। एक शवगृह में तो ७२ दास—दासी के शव मिले हैं। इससे असुरों की क्रूरता ही प्रकट होती है। असुरों के इस क्षेत्र से निष्कासित कर दिए जाने के बहुत बात तक ये प्रथाएं मध्य एशिया, ईराक और यूनान आदि प्रदेशों में चलती रही है। उस क्षेत्र में मुर्दे तो आज भी भूमिसात किए जाते हैं और उन पर भव्य भवन भी बनाए जाते हैं।

बाइबिल के याहोबा पर लगे पक्ष धरता और क्रूरता, अहंमन्यता और स्वेच्छाचारिता तथा प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति के आरोपों को देखते हुए (मेन १९८५, कोनराड एल्ट १९९३) उसे परमेश्वर और देव का प्रतिनिधि न मान कर, अन्य ग्रह से आने वाले असुरों का दलनायक ही मानना उचित होगा। देव संस्कृति में ऐसी विकृति नहीं मिलती

है। और न ही उनके ईश्वर के चरित्र का ऐसा चित्रण ही हुआ है। वह तो परम न्यायकारी और मनुष्यों को उनके कर्मानुसार ही फल देने वाला कहा गया है। अतः इन श्मशान चितियों को तथा इन बृहत् शैल निर्माणों को असुरों का कृतित्व ही मानना समीचीन प्रतीत होता है।

६. देवयानों के अस्तित्व के अन्य प्रमाण :

(१) बारह फलकों की गेंद :

अब हम आगे कुछ अन्य प्रमाणों की चर्चा करेंगे जिनसे सुदूर भूत में देवयानों के निश्चित अस्तित्व की सूचना मिलती है। यूनानी वायुसेना के अवकाश प्राप्त ब्रिगेडियर डा० थियोफैनिस एम. मानियास ने कुछ ही वर्ष पूर्व यह दिखाने का सफल प्रयास किया है कि यूनान के सभी प्रमुख मंदिरों और पूजास्थलों का विन्यास भूगणितीय ज्यामिति तथा त्रिभुजनन के आधार पर हुआ है (१९६६)। ब्राउन श्वाइग की कैरोलो विल्हेल्मिना प्राविधिक विश्वविद्यालय के प्राचार्य डा. फ्रिट्ज रेगोवोस्की ने ईस्वी सन १९७३ में इसकी पुष्टि भी कर दी है (डानिकेन १९८१–२:१८२)। यह त्रिभुजनन यूक्लिड के स्वर्णखण्ड के सिद्धान्त पर आधारित है। इससे यूक्लिड की ज्यामिति की परम्परा की प्राचीनता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। प्लेटो ने भी अपने 'तिमाइउस' नाम व्याख्यान के सातवे और आठवें खण्ड में ज्यामिति को ज्ञान का अनिवार्य अंग बताया है। डा० मानियस का यह भी कहना है कि यूनान के ही नहीं, वरन् क्रीट, लेबनान, साइप्रस और मिस्रमें सिकन्दरिया और काहिरा के निकट के चतुरश्र चैत्यों के क्षेत्र—सभी इस त्रिभुजनन की विन्यास परिधि में आ जाते हैं। रूसी अनुसंधान कर्ताओं ने इसी पद्धति को और आगे बढ़ाते हुए ही पता चलाया है कि भारत में मोएनजोदड़ो, उत्तरी मंगोलिया, मिस्र, आयरलैंड, रूस में कीव, प्रशान्त महासागर में पोलीनेशिया और दक्षिण अमरीका में पेरू के प्रमुख स्थल भी इसी विन्यास के अंग ही हैं। उनके अनुसार इन सभी संस्कृतियों के प्रधान विन्दुओं को जोड़ने से १२ फलकों की गेंद का चित्र उभर आता है। उनका यह भी कहना है कि उत्तरी अफ्रीका और ईरान की खाड़ी के तेल क्षेत्र इन फलकों के सन्धि स्थलों पर ही स्थित हैं और यही बात उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के अन्य सांस्कृतिक और खनिज सम्पदा से समृद्ध क्षेत्रों के लिए भी उतनी ही सत्य है (बोदनारुक, कोम्सोमोलसकाया प्रवदा, डानिकेन १९८१–२:१८७ तथा १८०–चित्र)। यहां यह स्मरण रखना आवश्यक है कि 'तिमाइउस' में प्लेटो ने भी लिखा है कि बहुत ऊपर से देखने पर पृथिवी १२ फलकों से बनी गेद जैसी ही दिखाई देती है।

(२) पीरी रईस के मान चित्र :

ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सन १५१७ में तुर्की की नौ सेना के एक वरिष्ठ अधिकारी पीरी रईस द्वारा बनाए गए तथा तुर्की के तोपकापी महल तथा बर्लिन संग्रहालय में सुरक्षित अनेक मानचित्रों की प्रतिलिपियां १९५४ में अमरीकी विशेषज्ञ अर्लिंगटन एचमलेरी को अध्ययन के लिए दी गई थी। उसे इन मान चित्रों में विश्व के सभी स्थान तो मिले किन्तु इनमें से अधिकांश स्थान—भ्रष्ट दिख रहे थे।

अतः उसने संयुक्त राज्य, अमरीका की नौ सेना के जल–तल सर्वेक्षण विभाग के मान चित्र विशेषज्ञ वालटर्स की सहायता ली थी, तब भी उसका संदेह पुष्ट ही हुआ था। बाद में ये सभी मात्र चित्र वेस्टन वेधशाला के निदेशक तथा संयुक्त राज्य, अमरीका की नौ सैना के मानचित्र विशेषज्ञ पादरी लिनेहम को सौंप दिए गए थे। उसका सुचिन्तित निष्कर्ष था कि ये मानचित्र दक्षिणी ध्रुव प्रदेश की उन पर्वत श्रृंखलाओं को भी, जो सन १९५२ तक सर्वथा अज्ञात थी, यथार्थ रूप में दिखाते है। ये पर्वत श्रृंखलाएं १२ सहस्त्र वर्षो से लगभग १५८४ मीटर मोटी हिम की चादर से ढंकी हुई है और सर्वप्रथम अनुगूंज मापक यंत्र की सहायता से ही इनका पता लगाया जा सका है।

इन मानचित्रों में दक्षिण अमरीका के सीरा डेल फ्यूगो प्रायद्वीप से लेकर दक्षिण ध्रुव प्रदेश तक का स्थल मार्ग भी दिखाया गया है और सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि पिछले हिमाक्रान्ति के अन्तिम दिनों– ग्यारह से बारह सहस्त्र वर्ष पूर्व–से ही यह मार्ग जलमग्न है। प्राध्यापक चार्ल्स हैपगुड ने दक्षिणी ध्रुव प्रदेश का सर्वेक्षण करने वाली संयुक्त राज्य,अमरीका की वायुसेना के कमाण्डर हैरोल्ड जेड. ओह्मेयर के १९६० में लिखे पत्रों के सन्दर्भ से लिखा है कि ये मानचित्र आज से लगभग ग्यारह सहस्त्र वर्षो से भी अधिक पहले बहुत ऊपर से लिए गए चित्रों के आधार पर ही बनाए जा सके होंगे (१९७१)। अब आधुनिक उपग्रहों से लिए गए चित्रों से तुलना करने पर स्पष्ट हो गया है कि ये चित्र काहिरा के बहुत ऊपर किसी स्थिर उपग्रह से ही लिए गए होंगे। इन मानचित्रों में काहिरा के चारों ओर लगभग ८ सहस्त्र किलोमीटर तक का क्षेत्र तो ठीक है किन्तु उसके बाहर के सभी भूभाग पृथिवी के परिमण्डलाकार होने के कारण 'डूब' जाने के कारण विरूप होकर स्थान–भ्रष्ट प्रतीत होने लगते हैं (डानिकेन १९७६–१–३० तथा पृष्ठ ७६ के बाद दूसरा और तीसरा चित्र; १९८१–२:१३२–३६)।

(३) कुंजर द्वीप :

और भी, मिस्त्र में विश्वविख्यात आसवान बांध के पास नीलोमीटर के मन्दिर के निकट प्रसिद्ध एलिफैन्टाइन द्वीप को प्राचीनतम अभिलेखों में भी यही नाम दिया गया है (हेरोडोटस १९५४:११२)। मान्यता भी यही है। लेख और मान्यता, दोनों ही बिल्कुल ठीक हैं। ऊपर से देखने पर यह द्वीप ठीक हाथी जैसा ही दिखाई देता है। परन्तु प्राचीन मिस्त्र के लोगों को इस तादात्मता का ज्ञान कैसे हुआ होगा ? इस द्वीप के पास कहीं कोई ऊंची पहाड़ी भी तो नहीं है जिसके ऊपर चढ़ कर इसका यह नाम करण किया जाना माना जा सके! यहां काहिरा के बहुत ऊपर किसी स्थिर उपग्रह से लिए गए चित्रों को ही इस नामकरण का सुनिश्चित और एक मात्र आधार मानने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प समझ में नहीं आता है (डानिकेन १९७६–१:८५)।

(४) 'देव की मछली':

इसी प्रकार प्राचीनतम 'माओरी' अनुश्रुतियों में भी कहा गया है कि कभी मछली पकड़ते समय माउई देव ने एक मछली फंसाई थी। उसके छूट निकलने के लिए किए गए अत्यधिक संघर्ष से कुपित होकर माउई देव ने उसके खण्ड खण्ड करके

समुद्र में फैंक दिए थे। वेही टुकड़े न्यू जी लैंड के अनेक द्वीप हो गए थे। आज भी माओरी लोग उत्तरी द्वीप को 'माउई की मछली' और दक्षिणी द्वीप को 'देव की नौका' कहते हैं। माहिया प्रायद्वीप को 'कांटा', बेलिंग्टन क्षेत्र को 'मछली का सिर' और उत्तरी आकलैंड प्रायद्वीप को 'मंछली की पूंछ' कहा जाता है (डानिकेन १९७५:१३०-२)। जिस काल खण्ड की यह कथा है, उस समय मानचित्रों का अस्तित्व ही नहीं माना जाता है और न ही आकाश में उडने वाले यान का ही अस्तित्व स्वीकार किया जाता है जिनसे देख कर इन द्वीप समूहों का इतना सटीक नामकरण किया गया होगा। यहां भी आकाश में स्थापित उपग्रहों से लिए गए चित्रों का ही स्मरण हो आना स्वाभाविक है।

क्या इन सब अनुश्रुति मूलक प्रमाणों के बाद भी अति प्राचीन काल में देवयानों और उपग्रहों के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगाया जाता रहेगा? इनसे तो यही निष्कर्ष स्वाभाविक प्रतीत होता है कि न्यूनातिन्यून ग्यारह सहस्त्र वर्ष पूर्व, दक्षिणी अमरीका के तीरा डेल फ्यूगो प्रायद्वीप को दक्षिणी ध्रुव प्रदेश से जोड़ने वाले स्थलमार्ग के जलमग्न होने और दक्षिणी ध्रुव प्रदेश की पर्वत श्रृंखंलाओं के मोटी हिम की चादर से ढंकने के पहले ही देवों अथवा उन्हीं की तरह किसी तरह दूसरे ग्रह से आए असुरों ने अपने अन्तरिक्ष यानों– देवयानों– और उपग्रहों की सहायता से ये मानचित्र बनाए होगें और ऐसे सटीक नामकरण किए होंगे। इसी प्रकार मिस्त्र और पश्चिमी योरोप और दक्षिण अमरीका के चतुरश्र चैत्य तथा अन्य बृहत् पाषाण स्मारक भी उन्हीं असुरों की ही कृति माने जा सकते हैं। किसी अन्य में उन्हें बनाने की क्षमता और योग्यता का अभाव जो था।

(५) कुछ देव आकृतियां :

पुराप्राणिशास्त्रीय अनुसंधानों से स्पष्ट हो चुका है कि अमरीका, विशेषतया दक्षिण अमरीका में प्रागैतिहासिक काल में कभी भी हाथी का अस्तित्व नहीं था। अतः वहां के प्रस्तर मूर्ति शिल्प में हाथी जैसी सूंड़ो से युक्त मुखाकृतियों का पाया जाना विस्मयकारी ही नहीं (डानिकेन १९७५:६,चित्र १५;१९८३:२०१,२०३), एक अबूझ पहेली भी है। इसका समाधान ढूंढने के प्रयास में इन्हें दूसरे ग्रहों से आए हुए देवों की आज के अन्तरिक्ष यात्रियों जैसी किसी श्वसन प्रणाली से युक्त मुखौटों की यथादृष्ट अनुकृति मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। एक बार ऐसा स्वीकार कर लिया जाए तो अनेक गरुड़ जैसी मुखाकृति (वही १९८३:११६), चक्षुत्राण युक्त मुखौटों अथवा शिरस्त्राण (वही १९८३ :१९६) तथा, भारतीय शिल्प शास्त्र में बहुप्रयुक्त श्रीवत्स आदि चिन्हों जैसे ही, वक्षस्थल तथा हाथों पर उभार का उत्कीर्ण किए गए चक्र आदि (१९८३:२०७) के प्रतीकों की पहचान अन्तरिक्ष यात्रियों द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले आवरण वस्त्रों पर लगे बन्धे यंत्रों से की जा सकती है।

इस तथ्य की स्वीकृति से विभिन्न परम्पराओं में मिलने वाले विभिन्न पश्वाकृति देवों की समस्या भी सुलझने लगती है। वस्तुतः ऐसे देवता और कुछ नहीं,

मात्र अन्तरिक्ष यात्रियों की देखी पर अबूझी और अपने स्थानीय परिवेश में ढली अनुकृतियां ही थे। इससे एक और प्रश्न का भी हल होता दिखाई देता है। इन्हीं मुखौटों के पीछे छिपे होने के कारण ही देवों के मुख दिखाई नहीं देते थे और वेद में ही नहीं, अन्यत्र यहूदियों की बाइबिल (निर्गमन २.३३.२३) तथा गिलगमेश की सुमेरी गाथा (स्पाइजरः५ वा फलक) में भी देवों के मुंह देखने की इच्छा के अतृप्त ही रहने का उल्लेख मिलता है।

७. भारतेतर अनुश्रुतियों में देवों का व्योम से आना :

ऊपर हम कह आए है कि भारत की आदर्शोन्मुखी आर्ष परम्परा की मान्यताओं और मूल्यों को स्थापित करके उनका प्रचार प्रसार करने के प्रयत्नों ने लोक में व्याप्त अनेक असुविधा जनक तथ्यों को या तो मिटा डाला है अथवा, पुरी के मन्दिर की मूर्तियों की तरह ही, लीपपोत कर ढंक दिया है। महाचीन में हुए इसी तरह के प्रयासों का उल्लेख किया जा चुका है। किन्तु वहां, भारतीय पुराणों और उनके वाचकों की श्रृंखला के अभाव में, लोक कथाएं किसी सीमा तक ऐसे तथाकथित सुधार वादी आन्दोलनों ने अप्रभावित रह गई हैं। अब आगे हम कुछ उन परम्पराओं की अनुश्रुतियों की स्थालीपुलाक न्याय की रीति से चर्चा करने जा रहे हैं जहां वे सन्निकट भूत में ही, किसी बाह्य प्रभाव अथवा सुधारवादी आन्दोलनो से अछूती रह कर, लिपिबद्ध की जा सकी हैं।

(१) महाचीन के प्राचीन ग्रन्थ 'ता ओ ते किंग' में लिखा है – "किसी पद का मान्य अर्थ ही उसका शाश्वत अर्थ नहीं होता है। और न किसी वस्तु का नाम ही उसका शाश्वत नाम ही होता है। पदों की उत्पत्ति उनके स्वीकृत अथवा दृश्यमान नाम रूप के परोक्ष में है" (डानिकेन १९७६-२८०)। दूसरे शब्दों में, हमारे दृश्य जगत का कारण परम व्योम में निहित है और जो कुछ प्रत्यक्ष है वह तो कार्य मात्र है।

(२) स्वीडन के नृतत्व शास्त्री बी.डेनियलसन ने प्रशान्त महासागर में पोलीनेशिया द्वीप समूह की अनुश्रुतियों को संकलित करके प्रकाशित किया है। उसमें संकलित एक अनुश्रुति के अनुसार प्रारम्भ में केवल एक बृहत् शून्य ही था। न अंधेरा था, उजाला, न पृथिवी थी और न समुद्र ही था, न सूर्य था और न आकाश। जो कुछ था वह केवल एक महाशून्य ही था। युग बीतते रहे। अगणित युगों के बाद उस महाशून्य में क्षोम उत्पन्न हुआ और तब 'पो' भी घूमने लगा। अभी भी सब कुछ तमसावृत ही था, परन्तु अब नई और विचित्र शक्तियां प्रकट होने लग गई थी। तब बालू जैसा पदार्थ उत्पन्न हुआ और समय पा कर वह कठोर हो गया। इस प्रकार भूमि का जन्म हुआ था। वह सभी ओर फैलने लगी (पृथिवी हो गई) थी (१९५७)। क्या यह ऊपर कही जा चुकी वैदिक मान्यता से कुछ अधिक भिन्न है?

(३) पोलीनेशिया की एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार नरेऊ देव कहां से आया, उसके

माता पिता कौन थे, कोई नहीं जानता है। कोई यह भी नहीं जानता कि वह व्योम में उड़ता हुआ ही क्यों आया था। परन्तु सारी उड़ान की अवधि में वह सोया पड़ा था। उसी सुप्तावस्था में तीन वार उसका नाम पुकारा गया, परन्तु पुकारने वाला 'कोई नहीं' था। जाग कर जब उसने अपने चारों ओर देखा तो उसे शून्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखा। परन्तु जब उसने नीचे की ओर देखा तो जो कुछ दिखाई पड़ा वह *'ते वो मातेमकी'* अथवा *'रोदसी'* थी। वह उतर आया, उसने वायुवाज, दिक् काल, ज्योति आदि अनेक सज्ञान शक्तियों को उत्पन्न किया .. जब उसका काम पूरा हो गया तो वह यह कहता हुआ कि 'मेरा काम पूरा हो गया है, मैं जा रहा हूं जहां से आया था, वहीं परम व्योम में विलीन हो गया (ग्रिम्बल १६७०)।

(४) उसी क्षेत्र में किरबिती की 'ते बोंगी रो' की एक अनुश्रुति के अनुसार व्योम के लोग मनुष्यों के उत्पन्न होने से बहुत पूर्व ही पृथिवी पर आए थे और जाते समय प्रत्येक द्वीप पर एक एक पूर्व पुरुष छोड़ गए थे। इन्हीं से क्रालक्रम में शेष मनुष्य उत्पन्न हुए हैं (शिक्षामंत्रालय,तरावा १६७६)।

(५) मध्य अमरीका के ग्वाटमेला प्रदेश के अतित्लान सरोवर के तट पर रहने वाली क्विचे जन जातिकी मान्यता है कि मनुष्य में पार्थिव अंश बहुत थोड़ा सा ही है। वस्तुतः इसे देवों ने ही उत्पन्न किया था। इस रचना प्रक्रिया में अनेक आरम्भिक असफल कृतियों को नष्ट करते हुए ही, सबसे अन्त में तर्क शक्ति सम्पन्न प्राणी उत्पन्न हुआ था। ऐसा करने के उपरान्त वे देव 'आकाश के हृदय' अर्थात् परम व्योम में स्थित अपने प्राचीन निवास स्थान को लौट गए थे (डानिकेन १६७६–२:७६.७७)।

(६) दक्षिण अमरीका के पेरू प्रदेश की जनजातियों की 'पोपोल वूह' में संकलित गाथाओं के अनुसार प्रथम बार उत्पन्न किए गए मनुष्यों की न कोई माता थी और न कोई पिता। वे किसी स्त्री से भी नहीं उत्पन्न हुए थे। उनकी उत्पत्ति एक चमत्कार ही थी (डानिकेन १६७५:७७)।

(७) सीरा नेवादा क्षेत्र की जनजातियों में कथा प्रचलित है कि आद्या शक्ति 'गौते ओवन' ने अपने स्राव की सामर्थ्य से ही सूर्य आदि सारे दृश्यमान जगत का निर्माण किया था। प्रारम्भ में उत्पन्न चार पुरोहितों ने, जो सभी पुरोहितों के आद्य पूर्वज हैं (देखें, अग्नि,वायुआदित्य और अंगिरा– इन चार आद्य ऋषियों से सम्बन्धित वैदिक मान्यता), ही उन्हें समस्त ज्ञान विज्ञान दिए थे। यह भी कहा गया है कि उनके चेहरे नहीं थे–अर्थात वे सर्वदा मुखौटे लगाए रहते थे (डानिकेन १६८६:१६०)। उसी में संकलित एक अन्य अनुश्रुति में कहा गया है कि उनके आद्य पूर्वज पूर्व में 'सूर्योदय के देश' से आए थे और अति दीर्घ जीवी थे। उन्हें 'देवों का दास' कहा जाता था। वे यज्ञ करते–कराते थे। उन्होंने ही लिपि का भी प्रचार किया था। वे इतिहास की पुस्तकों को ही 'धर्मशास्त्र' कहते थे (वही:२६)।

(८) एशिया महाद्वीप में उत्तरी ध्रुव प्रदेश की सीमा पर रहने वाले एस्किमो जाति की एक अनुश्रुति के अनुसार 'धातु के पंख वाले' देवों ने ही उनके पूर्वजों को उड़ा ले आकर वहां बसाया था (डानिकेन १९७६–१७५)। जापान, मंगोलिया ही नहीं, वरन मध्य योरोप में हंगरी तक प्रचारित अनुश्रुतियों में भी रहस्य पूर्ण ढंग से प्रकाशित पक्षी (आकार) से आकाश मार्ग से आकर पर्वतशिखरों अथवा ऊंची भूमि पर उतरने वाले देवों से ही मनुष्य उत्पत्ति बताई गई है (वेद १९७८:२८३ – ८८)।

(९) अन्त में दक्षिण अमरीका के ब्राजील देश की अमेजन नदी की तट भूमि पर रहने वाली कयोपो जनजाति, जिससे केवल ईस्वी सन् १९५२ मेंही प्रथम बार सम्पर्क स्थापित हो सका है, की अनुश्रुतियों में पर्वत के फटने जैसी गर्जना और अति तीव्र प्रकाश के साथ ही एक देव के आगमन का उल्लेख मिलता है। उसकी वेशभूषा विचित्र थी और उस पर स्थानीय निवासियों के विषाक्त तीरों, तलवारों और भालों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उसी ने कयोपो जनजाति के पूर्वजों को ज्ञान विज्ञान सिखाने के लिए शालाएं स्थापित की थीं, उन्हें कृषि करना सिखाया था, विविध प्रकार के धान्यों से परिचित करा कर उनके बीज भी दिए थे, और विधि विधान तथा अन्यान्य ज्ञान–विज्ञान सिखाए थे। वह देव बहुत दिनों तक उनके बीच में रहा था, सन्तान–कन्या–उत्पन्न की थी, परन्तु कुछ समय पश्चात जिस तरह आया था उसी तरह, पर्वत के फटने की गर्जना और तीव्र प्रकाश के साथ ही, ब्योम में विलीन हो गया था। आज भी कयोपो जन जाति के लोग उस देव के आने की स्मृति में मनाए जाने वाले पर्व के दिन उसी की तरह के वेशभूषा धारण करके उत्सव में भाग लेते हैं। इनकी यह वेशभूषा ईस्वी सन १९६२ में विश्व के प्रथम अन्तरिक्ष यात्री हुए रूस के यूरी गागारिन के वेश से इतनी समान है कि यदि १९५२ में ही कयोपो लोगों की उत्सव सम्बन्धी वेशभूषा के चित्र न प्रकाशित हो गए होते हो आज उन्हें गागारिन के वेष की अनुकृति ही माना जाता (डानिकेन १९८२:२:६४–६८)।

८. अनुश्रुतियों को मिथ्या शास्त्र कहना ईसाई दुराग्रह है :

अपने जन्म के समय से ही अन्य प्राचीन परम्पराओं की विकृतियों पर आधारित यहूदी संस्कृति को भी समूह के स्थान पर व्यक्ति की स्वार्थ सिद्धि के लिए ही काट–छांट करके और भी विद्रूप कर देने वाली ईसाई परम्परा में पले बढ़े लोग, जिन्हें मनन पूर्वक बुद्धि के प्रयोग के स्थान पर विश्वास करना–आज्ञा मानना ही सिखाया गया है, मध्य काल में ही यूनानी संस्कृति और साहित्य से परिचित हो पाए थे। इसी के फलस्वरूप ही, उनमें विश्वास को अस्वीकार करके तर्क को प्रतिष्ठत करने की प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गई थी, ठीक वैसी ही जैसी कि आज अपने को दूसरे से बड़ा धर्म निरपेक्ष सिद्ध करने के लिए हिन्दुओं को गाली देकर मुस्लिम समुदाय के पृथकतावादी हितों को स्वीकार करने की विभिन्न राजनीतिक दलों में हो रही है। इसी सर्वग्राही अस्वीकार के कारण ही शाश्वत वैज्ञानिक सत्यों को रोचक ढंग से प्रस्तुत करने की पौराणिक विधा को न समझ कर अथवा समझने का प्रयास ही न करके उसे

मिथ्याशास्त्र —Mythology— कह कर तिरस्कृत कर दिया गया है। इस घोर तिरस्कार के बाद भी जन—जन,कुल—कुल और व्यक्ति — व्यक्ति में दुहराई जाने वाली ये जीवन्त कथांए जिज्ञासु के प्रति आत्मसर्मपण करने के लिए सर्वदा प्रस्तुत हैं। यह भी सत्य है कि बारम्बार दुहराए जाने की इस प्रक्रिया में कुछ जुड़ता गया है और कुछ छूटता भी रहा है, फिर भी मूल सत्य में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। अपराध शास्त्र के अध्येता जानते हैं कि एक ही घटना के सभी प्रत्यक्ष दर्शी भी उसका एक जैसा विवरण नहीं प्रस्तुत कर पाते हैं। विविध दृष्टिकोणों से किए गए भिन्न भिन्न प्रस्तुतीकरणों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए, व्यक्तिनिष्ठ तत्वों को ढूढं ढूंढ कर निकाल देने के बाद, ही निर्भ्रान्त सत्य की प्राप्ति हो पाती है।

इस दृष्टि से देखने पर इन अनुश्रुतियों में कहे गए कारण—कार्य, महाशून्य और उसका क्षुभित होना, चार आद्य ऋषियों द्वारा ज्ञान विज्ञान का प्रचार प्रसार आदि सत्य जहां विशुद्ध वैदिक मान्यताओं की ओर इंगित करते हैं, वहीं पूर्व में सूर्योदय के देश से आकर लिपि और ज्ञान विज्ञान देने वाले दीर्घजीवी यज्ञकर्ताओं का इतिहास को ही धर्म शास्त्र मानने की प्रतिबद्धता बरबस पौराणिक परम्परा का स्मरण करा देती है। इन्हीं में देवयान में योगनिद्रा—समाधि अर्थात सम्मोहित कर सुला कर भेजे गए यात्री को गंतब्य के निकट पहुंचने पर अदृश्य वाक्—रेडियों? द्वारा जगाया जाना, पर्वतों के फटने जैसी ध्वनि और तीव्र प्रकाश के साथ अन्तरिक्षयात्रियों जैसी वेषभूषा में 'देव' का प्रकट होना और धातु के पंखों वाले पक्षी में ले आकर 'देवों' द्वारा लोगों को इधर उधर उधर बसाया — जाना ये सब विवरण उन वैज्ञानिक सत्यों के प्रत्यक्ष दर्शन की स्मृति को सुरक्षित रखे हुए हैं जिन्हें परवर्ती काल के युगवोध ने असम्भव मान कर या तो मिटा डाला गया है या फिर, अद्‌भुत रामायण की तरह ही, उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है।

६. पुराण इतिहास देव इतिहास ही है :

(१) इतिहास और उसके काल क्रम के सम्बन्ध में फैलाया गया भ्रम :

इतिहास को ही धर्मशास्त्र मानने वाली दक्षिण अमरीका की अनुश्रुति का उल्लेख किया जा चुका है। यहां इतिहास के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। हमारे इतिहास ग्रन्थों में प्रतिमन्वन्तर (और प्रतिकल्प) की प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण—विवेचन करते हुए संक्षिप्त इतिहास सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। मध्य काल में चीन और फिर इस्लामी इतिहासकारों ने दैनन्दिन घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए इतिहास लेखन किया है। अन्य स्थानों पर भी इन्हीं दोनों के बीच की स्थिति कुछ इधर,कुछ उधर—ही मिलती है। आधुनिक इतिहास लेखन की प्रक्रिया इन दोनों प्राचीन पद्धतियों से भिन्न है। वह स्थानीय मनीषा और उसकी जातीय परम्परा की अवहेलना करते हुए, अपने ईसाई पूर्वाग्रह को आधुनिकता तथा वैज्ञानिक कह कर प्रसिद्ध करने का प्रयास करती है। यह कथन कम से कम उन देशों के सम्बन्ध में पूरी तरह से सत्य है जहां, कभी योरोप के ईसाई साम्राज्य का आधिपत्य रहने के कारण, के इतिहास लेखन पर ऐसे तथाकथित आधुनिक वैज्ञानिक इतिहासकारों

का वर्चस्व रहा था। इस सम्बन्ध में महाचीन का उदाहरण ज्ञानवर्द्धक होगा । यद्यपि वह भी योरोप के ईसाई साम्राज्यवाद का आखेट क्षेत्र रहा है, किन्तु वहां कभी भी विदेशी शासन नहीं स्थापित हो पाया था। अतः वहां के स्थानीय इतिहासकारो ने योरोपीय प्रभाव ग्रहण करते हुए भी, कभी अपने जातीय परम्परा प्राप्त काल क्रम को तिलांजलि नहीं दी और और अन्ततः योरोपीय इतिहासकारों को भी उसे स्वीकार करना पड़ा है। इसके विपरीत, भारत में तथाकथित आधुनिक और वैज्ञानिक इतिहास लिखने के प्रायःसभी प्रयास, हमारे पंड़ितों से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित होते हुए भी, विदेशी साम्राज्य संस्थापकों द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों के सम्वर्धन के लिए ही किए गए थे। अतः इसमें ईसाई साम्राज्यवाद को अरुचिकर प्रतीत होने वाले तथ्यों को मिटाया, छिपाया और उलटाया ही नहीं गया, हमारे परम्परा प्राप्त काल क्रम को अस्वीकार ही नहीं किया गया, वरन उसे सायास मिथ्या और कपोल कल्पित सिद्ध करने के अनवरत और अथक प्रयत्न भी किए गए हैं (भगवान सिंह १९८७:१९९१, तलगढ़ी १९९३; फाले १९९३, १९९४; वर्मा १९७१,१९८४, भगवद्दत्त १९९४)। उन्हीं के द्वारा प्रशिक्षित और उन्हीं के कृपा से जीविका लाभ करने वाले स्थानीय विद्वान भी उन्हीं का चर्वित–चर्वण करते हुए अपनी चुपड़ी बचाने में लगे रहे हैं। उनके आश्रय में रहते हुए जिस किसी विद्वान नें उनकी तथाकथित वैज्ञानिक मान्यताओं का विरोध करके भारतीय पक्ष को उजागर करने का प्रयत्न किया, उसे आधिकारिक उपेक्षा झेलनी पड़ी थी, यथा—डा० श्री कृष्णामाचारी और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के अन्तर्गत पुरालेख शास्त्र के निदेशक श्री कृष्णामाचारलू। स्वतंत्रता के पचास वर्ष बाद भी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। परन्तु पं जवाहर लाल नेहरू जैसे साम्यवाद के पोषक का संरक्षण हट जाने से ईसाई साम्राज्यवाद से अनुप्राणित तथाकथित आधुनिक और वैज्ञानिक इतिहासकारों में हताशा बढ़ रही है और नेहरू के अन्तर्राष्ट्रवाद के स्थान पर राष्ट्रवाद की आहट से परिवर्तन की समीर बहने लगी हैं।

जो कुछ भी ऊपर कहा गया है, उसके परिप्रेक्ष्य में देखने पर भारतीय इतिहास लेखन के क्षेत्र में हुए और हो रहे प्रयासों की मूल दृष्टि को दो स्पष्ट वर्गो में रखा जा सकता है : १. आर्ष परम्परा जो वेदों को अपौरुषेय और नित्य मानते हुए, उनमें मानुषी इतिहास होने की सम्भावना अस्वीकार करके, उसके लिए पुराणों को प्राचीन, रामायण को मध्य कालीन और महाभारत को अर्वाचीन इतिहास मानती है; २. दूसरी ओर है पाश्चात्य ईसाई पूर्वाग्रह कि ईश्वरीय शब्द बाइबिल को छोड़ कर अन्य कोई ग्रन्थ परमात्मा का निःश्वास नहीं हो सकता है, ४००४ ईस्वी पूर्व सृष्टि रचे जाने के पूर्व का इतिहास होना सम्भव ही नहीं है और सृष्टिरचना और जलप्लावन का घटना स्थल इस्राइल के पास, उत्तर की पहाड़ियों में ही रहा होगा। अतः उनकी सुचिन्तित कुटिलतापूर्ण स्थापना है कि मनुष्य की उत्पत्ति इसी उत्तरी भूभाग में हुई है और इसी के उत्तरी क्षेत्र से चल कर ही आव्रजक आर्य ईसा पूर्व १२ वीं शताब्दी में भारत पहुंचे थे। और उसके बाद की कुछ शताब्दियों में ही वेद और उसके आनुषांगिक साहित्य की रचना हुई थी। इस स्थापना के अनुसार आर्यो का सत्य इतिहास इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा जा सकता है। इनमें भी, संहिताओं को, उनकी आनुपूर्वी में इतने

वर्षों बाद भी किसी अन्तर के न आने के सत्य को अस्वीकार कर सकने का कोई अवकाश न रहने से, अधिक महत्व दिया गया है। अपने इन प्रयत्नों में इन्हें मध्यकालीन भाष्यकारों, जिन्होंने एक ओर तो समान नामों के आधार पर इतिहास के राजाओं को वेद पर आरोपित कर दिया है, वहीं दूसरी ओर वेद की मान्यताओं को उपबृंहित करने के लिए वेद के शब्दों को लेकर प्ररोचनार्थ रची गई अनेक कथाओं को इतिहास कह कर प्रसद्धि किया है, से भी अप्रत्यक्ष सहायता मिली है। सर्वाधिक विचित्र बात तो यह है कि इन काल्पनिक कथाओं का आधार ग्रहण करने वाले इन्हीं तथाकथित वैज्ञानिक इतिहास कारों ने भरतीय परम्परा के सर्वमान्य इतिहास–पुराण–ग्रन्थों को काल्पनिक और असत्य कह कर अमान्य ही नहीं कर दिया है, अपितु नया 'वैज्ञानिक' काल क्रम निश्चित करने का दुःसाहस पूर्ण अभियान भी चलाया है। यथा– मैक्सम्यूलर ने १२ वीं शती ईस्वी में सोमदेव विराचित कथासरित्सागर में आई एक वेताल कथा के आधार पर ही नन्द वंश का राज्यकाल तथा पाणिनि का काल निर्धारण किया था और ईस्वी सन १७६३ में सर विलियम जोन्स ने यवन आक्रान्ता अलेक्जैन्डर के समसामयिक सेन्ड्रोकोटस की पहचान मौर्य वंशी चन्द्रगुप्त से की थी और 'सर' उपाधि से पुरस्कृत हुए थे।

अनेक विद्वानों ने इनके छल छद्म को पहचान कर, इनकी स्थापनाओं का तार्किक विश्लेषण किया है। (भगवान सिंह १९९१, तलगढी १९९३; फ़ाले १९९३, १९९४; वराडपाण्डे १९८६)। परन्तु जहां ये प्रयत्न इन तथाकथित 'वैज्ञानिक' स्थापनाओं का खण्डन करने में पूर्णतः सफल हैं, वहीं अभी भी भारतीय परम्पराओं का पोषण करने में उतने सफल नहीं हो सके हैं। कारण है काल क्रम के सम्बन्ध में इनका मत वैभिन्न्य। एक बार किसी परम्परा के उच्छिन्न हो जाने पर उसकी पुर्नस्थापना के सभी प्रयास वस्तु–तथ्यनिष्ठ न होकर, व्यक्तिनिष्ठ अहं और उसके द्वारा ग्रहीत संस्कारों से प्रभावित होते हैं। यथा– तिलक, (और याकोबी) आर्यो के बाहर से आने का खण्डन न करके – वे उन्हें इस्राइल के उत्तर में स्थित पर्वतीय प्रदेश के स्थान पर ध्रुव प्रदेश से ले आए हैं – मात्र उनके आने की पूर्व निर्धारित तिथि– १२ वीं शताब्दी ईसा पूर्व– में थोड़ा संशोधन करते हुए ४–५ सहस्त्र वर्ष पूर्व कह कर कृत–कृत्य हो गए थे। इसी प्रकार चौथी सहस्त्राब्दी ईस्वी पूर्व के अन्त में हुए भारत युद्ध (तलगढ़ी १९९३;१९९३) की तिथि को या तो आर्यो के आगमन की ईस्वी पूर्व१२ वीं शताब्दी जैसी पूर्व निर्धारित तिथि के समकक्ष ले आकर (सेठना १९८६), कलि प्रारम्भ को मनुवैवस्वत के व्याज से आर्यो के आव्रजन से सम्बद्ध किया जाता है (पार्जिटर १९२२; पुसाल्कर १९५२) अथवा सातवीं सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व निर्धारित किया जाता है (सेठना १९८६)। ज्योतिषीय प्रमाणों के आधार पर भी १६ वीं–२१ वीं सहस्त्राब्दी (राव १९७६;१९८६ इत्यादि) अथवा लाखों वर्ष पूर्व (स्वामी विद्यानन्द १९८६:६०) की तिथियां कही गई हैं। अवेस्ता में गौतम (बुद्ध) को मिथ्यादृष्टि कह कर शास्त्रार्थ में उनकी पराजय का उल्लेख (फर्वर्दिन यश्त–१३:एस. बी.ई.२३ भाग २. १८४) होने के बाद भी, भगवान बुद्ध की तिथि निर्धारण में स्पष्ट और निर्भ्रान्त भारतीय साक्ष्य की उपेक्षा करके, विभ्रमपूर्ण विदेशी प्रमाणों का आधार ग्रहण किया जाता है। कुछ अन्य विद्वान, जिनकी भारतीय आर्ष परम्परा के प्रति प्रतिबद्धता

पर उंगली नहीं उठाई जा सकती है, स्वीकार करने लगे हैं कि ' भारतीय इतिहास तो १८ से २० सहस्त्र वर्षो का क्रम बद्ध इतिहास है' (मीमांसक १६७७:१६१; और भी देखिए-भगवद्दत्त १६६१,१६६४; गुरुदत्त १६६३ इत्यादि)। यद्यपि इनमें स्पष्ट स्वीकारोक्ति तो नहीं मिलती, पर हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस निष्कर्ष के पीछे कहीं न कहीं हेरोडटस के कथन तथा आधुनिक विज्ञान की स्थापनाओं का प्रभाव हैं।

इतिहास लेखन के इन विभिन्न प्रयासों में पुरातत्त्व और पुरातत्त्वविदों की भूमिका अत्यन्त नगण्य रही है। वे अपने 'पथरिया' प्रमाणों के आधार पर प्राज्ञपुरुष के १०–१२ सहस्त्रवर्ष पूर्व हुए आविर्भाव से लेकर आज तक के प्राविधिक परिवर्तनों का क्रमबद्ध लेखा प्रस्तुत करते हुए, और यदा कदा राजाओं के नामों को गुंफित करके, ही संतुष्ट हो जाते हैं।

ऊपर उल्लिखित –अनुल्लिखित सभी प्रयासोंमेंनिहित श्रम और सद्भावनाकी प्रशंसा करते हुए भी हम कहना चाहेंगे कि सत्य इतिहास प्रस्तुत करने के प्रयास तभी सफल हो सकेगें जब पुरातात्त्विक प्रविधि से अन्वेषित और संग्रहीत तथ्यों का पारम्परिक इतिहास की अनुश्रुतियों से यथातथ्य सामन्जस्य बिठा लिया जाएगा । पुरातत्व के सर्वेक्षणो और उत्खननों से साक्षात् सम्बद्ध रहने के कारण प्राप्त अनुभव के आधार पर ही हमारा विश्वास है कि पुरातत्व के तथ्य–न कि पुरात्त्वविदों द्वारा प्रस्तुत की गई उनकी व्याख्याएं, जिन पर हम स्वयं प्रश्नचिन्ह लगाते रहें हैं– पारम्परिक इतिहासकारों की उच्छृखंल कल्पना पर अंकुश लगाते हुए, उन्हें श्रेष्ठ सामंजस्य स्थापित करने के लिए बाध्य कर सकते हैं। निम्न कुछ पक्तियों में इस ओर संकेत करने का प्रयास किया जा रहा है।

(२) सत्य इतिहास जानने का उपायः

हमें ऐसा प्रतीत होने लगा है कि पुराणों में जो कुछ भी प्राचीन इतिहास मिलता है, वह सबका सब इस पृथिवी पर घटा हुआ इतिहास नहीं है। उसका अधिकांश भाग देव इतिहास है, जो देवों के प्राचीन निवास स्थान–किसी अन्य ग्रह पर जहां से वे आते रहे थे– में घटा था। निश्चित ही पृथिवी पर हुए मनुष्यों का इतिहास, पुरातत्व के साक्ष्य के अनुसार १०–११ सहस्त्र वर्ष पूर्व हुए 'प्राज्ञ पुरुषों' – मनुष्यों के प्रादुर्भाव से पूर्व का नहीं हो सकता है। इस दशा में मानना ही होगा कि देवों ने अपने द्वारा उत्परिवर्तित मनुष्यों का संज्ञपन करके उन्हें वेदशास्त्र के साथ साथ धर्मशास्त्र और अपना इतिहास भी दिया था। इतिहास किसी का भी क्यों न हो, उसके धर्म (कर्तव्य) शास्त्र की सोदाहारण व्याख्या करने की सामर्थ्य का महत्व कम नहीं आंका जाना चाहिए। हमें अपने बचपन में पढ़ी हुई श्री एफ. जे. गाउल्ड द्वारा संकलित – सम्पादित 'यूथस् नोबल पाथ' की इतिहास की प्रेरक कथाएं सहज ही आत्मसात होकर आज भी याद हैं, जब कि गत ४० वर्षो में बारम्बार पढ़े हुए धर्म और अन्य शास्त्र ग्रन्थ सायास स्मरण रखने पड़े हैं। फिर, देवों के इतिहास को दूसरों का इतिहास भी तो नहीं कहा जा सकता है। हमें भी तो स्वतंत्रता प्राप्ति के अनेक वर्षो बाद भी छोटी कक्षाओं में भी इंगलैड का इतिहास पढ़ाया ही गया है और ईसाई संस्थानों में तो आज

भी शैशव काल से ही पढ़ाया जा रहा है। हमारे चारों ओर ही नहीं, हमारे बीच भी ऐसे व्यक्तियों और समुदायों की भरमार है जो मध्यकाल में दुर्दान्त दस्युओं द्वारा बलात्कार पूर्वक इस्लाम पंथ में दीक्षित किए जाने के तुरन्त बाद से ही अपने नए स्वामियों के इतिहास को ही अपना मान कर, अरब में मारे गए हजरत अली और हुसेन की याद में तो छाती पीटते हैं और आंसू बहाते हैं किन्तु अपना गौरवपूर्ण इतिहास भुला कर, अपने ही पूर्वजों की स्मृति का अपमान करने से भी चूकते हैं। ईसाईयों की बात भी कुछ भिन्न नहीं है। फिर, देव तो अपने माता, पिता और गुरु, सभी कुछ थे। ऐसी दशा में यदि पुरुष पशु ही मनुष्य बन कर अपनी पशुता का इतिहास भुला बैठा हो, तो कुछ बुरा भी तो नहीं कहा जा सकता। कम से कम वह अपने पाशविक कृत्यों से अपनी अन्तर्निहित पशुता का स्मरण तो कर ही लेता है, जब कि उपरोक्त दोनों धर्मावलम्बी कभी स्वप्न में भी अपने आर्यत्व का स्मरण नही करते है।

जो कुछ भी हो, ऊपर हम पुराणों के अनुसार १४ मन्वन्तरों के नाम लिख आये है। इनमें से प्रथम सात मनुओं के वंश का वर्णन उपलब्ध है। इनमें से प्रथम स्वायंभुव मनु की सृष्टि के आदि में हुई उत्पत्ति से आज तक के सौर वर्षों की गणना भी दी गई है। पुनः, वेद और आधुनिक विज्ञान, दोनों के ही प्रमाणों के आधार पर यह भी बताया जा चुका है कि उस समय तो पृथिवी मात्र धूम्र और वाष्प का ज्योतिर्मय पुंज ही थी और उस पर मनुष्य तो क्या, जीवन की ही उत्पत्ति बहुत बाद में ही हुई थी। ऐसी दशा में स्वायंभुव और उसके बाद के अन्य छह मनुओं को पृथिवी पर ही हुआ मानने का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता है। दूसरी ओर, पृथिवी पर पुरुषाकार पशु ही मात्र दस लाख वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ था। अब पुरुष पशु की संस्कृति—सभ्यता और इतिहास, विशेषतया राजवंशों के इतिहास, की बात तो वृथा ही प्रतीत होती है। हां, १०—११ सहस्त्र वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए मनुष्य के प्रादुर्भाव के साथ ही यदि सम्राट नहीं, तो भी कुल और गण प्रमुखों की सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है। अनेक लोगों का विचार है कि मनुओं का इतिहास कल्पित इतिहास है और कुछ सहस्त्रवर्षों की घटनाओं को ही कृत्रिम रूप से बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया है। परन्तु व्यास, कपिल, कणाद, बोधायन और पतञ्जलि जैसे श्रेष्ठ ऋषि न केवल इतना बड़ा झूठ पचा ही सके वरन उसका प्रचार भी करते रहे होंगे, स्वीकार करने का मन नहीं होता है।

मिस्त्री पुरोहितों ने हेरोडोटस को बताया था कि 'राजा अमासिस से सत्रह सहस्त्र वर्ष पूर्व अष्ट (वसु?) देवों से द्वादश (आदित्य?) देवों की उत्पत्ति हुई थी। इन द्वादश देवों में से एक हर्कुलीज भी था'। और भी कि 'पान देव अष्ट (वसु?) देवों में एक और भी अधिक प्राचीन है.... डायोनिसस द्वादश (आदित्य) देवों के कुल में उत्पन्न हुआ था.... उसे भी अमासिस से पन्द्रह सहस्त्र वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है (हेरोडोटस १६५४ :१२०, १५४)। इन वचनों के आधार पर पं. भगवद्दत्त हर्कुलीज का समीकरण सुरकुलेश विष्णु से और डायोनिसस — बेक्कस का विप्रचित्ति दानव से स्थापित करते हैं (१६६४:२२०—१)। हेरोडोटस ने अन्यत्र अपने समय तक हो चुके ३४१ राजाओं के सत्रह सहस्त्र पचास वर्षों की दीर्घ अवधि में किसी देव का अवतरण न होना

भी लिख दिया है (वही १५८)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्तरिक्ष से अवतरित होने वाले देवों में विष्णु अन्तिम था। अब यदि पृथिवी पर पुरुष १०—११ सहस्त्र वर्ष पूर्व ही मनुष्य बन कर इतिहास का नायक होने योग्य हुआ है, तो उसके पूर्व के वर्षो का इतिहास निश्चित ही उसके पूर्व पुरुषों — अन्तरिक्ष से आए देवों — का ही होना चाहिए।

यदि देव अन्तिम बार पृथिवी पर आज से लगभ २० सहस्त्र पूर्व ही आए थे तो उनके और असुरों के बीच होने वाले १२ देवासुर संग्रामों में (वायु पुराण ६७.६७; त्रिपाठी १९६०:६२–६३) अधिकाशं काल की इस सीमा रेखा के पूर्व ही हुए होंगे। देव और असुर, दोनों ही व्योम से आए होने पर भी, भिन्न भिन्न ग्रहों से आए थे। अतः इनके अधिकाशं युद्ध भी थल सेनाओं के बीच कम और अन्तरिक्ष में ही अधिक लड़े गये होगे। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाये तो पुराणों और महाभारत जैसे इतिहास ग्रन्थों में वर्णित युद्धों की विभीषिका, जिसका ब्राह्मण ग्रन्थों में अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित वर्णन मिलता है, स्पष्ट होने लगता है। ये वर्णन अपनी भयंकरता और विनाशकता में आणविक शस्त्रास्त्रों के प्रयोग से होने वाले विनाश का स्मरण दिला देते हैं (डानिकेन १९७६–१७९–८१)। आश्चर्य नहीं कि इन युद्धों का प्रभाव हमारी पृथिवी पर भी पड़ा हो परन्तु इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि पुराणों और इतिहास ग्रन्थों में वर्णित राजवंश देवों और असुरो के होने के कारण, दूसरे ग्रहों हुए पर सभ्यता के विकास और अन्ततः उसके विनाश की ही कथा कहते प्रतीत होते हैं।

यदि इस दृष्टिकोण से हमारे पुराण ग्रन्थों और इतिहास का मन्थन किया जाए तो निश्चित ही उस देवयुग का ही नहीं, वरन परवर्ती देवजात आर्यो का भी सत्य इतिहास स्पष्ट हो सकेगा। यद्यपि यह इतिहास महाचीन और मध्य कालीन मुसलमान इतिहासकारों के ग्रन्थों की तरह दैनान्दिन घटनाओं का ब्योरा नहीं होगा, परन्तु यह मनुष्य के लिए करणीय और अकरणीय का ज्ञान प्रस्तुत करने में समर्थ इतिहास की मूल प्रवृत्तियों का ज्ञान अवश्य करा सकेगा।

यहीं एक अन्य बात भी स्मरण करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। भूगोल के ज्ञान के बिना इतिहास का ज्ञान अधूरा ही रहता है। देव इतिहास कि मुख घटनाओं के विन्यास का भूगोल पृथिवी से अन्यत्र होने के कारण अवश्य ही पृथिवी के भौगोलिक विन्यास से भिन्न रहा होगा। प्रत्येक जातीय परम्परा को दाय में मिले इस दैवी इतिहास को लोक में बोधगम्य बनाने के लिए अपनी ही सीमित भौगोलिक परिस्थितियों में घटा कर प्रस्तुत करना पड़ा होगा। ऐसा न होना ही आश्चर्य जनक होगा। ब्राह्मण ग्रन्थों में सूर्य और पृथिवी की आपेक्षिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए चत्वाल और अग्नि का उदाहरण दिया ही जा चुका है। दक्षिणी पूर्वी द्वीप समूहों में अयोध्या आदि नगरों की स्थिति — स्थापना तथा अमरीका में इग्लैंड और योरोप के अनेक नगरों के नामों के स्थानान्तरण के उदाहरण अनेक और प्रसिद्ध हैं ही।

१०. असुरों और देवों के 'प्रलस्यौकस' की पहचानः विज्ञान के आलोक में :

वेदों में सप्तर्षि मण्डल और वृहस्पति ग्रह का विशेष उल्लेख होने पर भी देवों के सुवर्ग या स्वर्ग नाम से प्रसिद्ध प्रचीन निवास स्थान की पहचान करने में सफलता

मिलती नहीं दिखाई देती है। तथ्य कथन, रूपक कथन और अतिशयोक्ति कथन, इन तीनों में से अन्तिम का आश्रय लेकर लिखे गये पुराणों में दिए गए विभिन्न लोकों के विवरणों से भी हम इस प्रश्न का उत्तर पाने असफल ही रहे हैं। दूसरी ओर आधुनिक विज्ञान की अनेकानेक उपलब्धियां इस समस्या के सम्भावित समाधान की ओर अवश्य इंगित करती हैं। निम्न पृष्ठों में उन्हीं की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

(१) असुर :

ईस्वी सन् १९६२ तक शुक्र ग्रह पर जीवन होने की सम्भावना स्वीकार की जाती रही है। किन्तु उसी वर्ष संयुक्त राज्य, अमरीका के अन्तरिक्षयान मैराइनर—दो ने उस के ३३६०० किलो मीटर पास तक पहुंचकर जो सूचनाएं एकत्र की हैं उनसे यह सम्भावना निर्मूल सिद्ध हो गई है और शुक्र को पृथिवी का जोड़ा मानने का लोक प्रवाद मात्र प्रवाद ही सिद्ध हुआ है।

अभी बहुत दिन नहीं हुए जब वैज्ञानिक मंगल पर जीवन का अस्तित्व असम्भव मान रहे थे। कुछ दिनों से उनके स्वर में परिवर्तन लक्षित होने लगा है। कहा जाने लगा कि 'इस की सम्भावना नहीं है'। अन्तरिक्ष यान में मैराइनर—चार के उत्क्षेपण के फलस्वरूप प्राप्त हुई सूचनाओं के आधार पर अब कहा जाने लगा है कि वहां जीवन के होने या कभी रहे होने की 'सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता'। अतः अब इसकी सम्भावना बलवती प्रतीत होने लगी है कि अनेक सहस्राब्दियों पूर्व मंगल ग्रह पर कोई अत्युन्नत सभ्यता विकसित हुई हो और कालान्तर में प्राकृतिक अथवा युद्धादि कारणों से नष्ट हो जाने के फलस्वरूप ही वहां के निवासी कहीं और ग्रहान्तरित हो गए हों। जो भी हो, उसके उपग्रह हमें कुछ इसी प्रकार से सोचने के लिए बाध्य करते हैं।

कहा जाता है कि पृथिवी के चन्द्रमा की तरह ही, मंगल ग्रह के 'फोबोस'—भय और 'डाइमोस'—आतंक नाम के दो उपग्रह है। ईस्वी सन् १८७७ में अमरीका के ज्योतिर्विद आसफ हाल द्वारा देखे जाने के बहुत पूर्व से हीउनके अस्तित्व का अनुमान किया जा रहा है। ईस्वी सन् १६१० मे जोहान्नेस केप्लर ने मंगल ग्रह के दो उपग्रह होने की सम्भावना व्यक्त की थी। कपूसिया के ईसाई भिक्षु शिर्ले ने उससे भी कुछ वर्ष पूर्व ही इन्हें देख लेने की घोषणा कर दी थी। निस्सन्देह, उसे भ्रम ही हुआ होगा। उस समय तक उपलब्ध यंत्रों से मंगल ग्रह के इन अति लघु उपग्रहों को देखे जाने की कोई सम्भावना नहीं है।

ईस्वी सन् १७२७ में प्रकाशित अपनी औपन्यासिक कृति 'गुलिवर्स ट्रेवेल्स' में जोनाथन स्विफ्ट ने इन दोनों उपग्रहों का विशद वर्णन किया है। उसने लिखा था कि "लापुट के ज्योतिर्विद अपने जीवन का अधिकाशं भाग ग्रह नक्षत्रों के अध्ययन में ही व्यतीत कर देते हैं। इस कार्य में प्रयुक्त उनके दूरवीक्षण यंत्र हमारे यंत्रों की अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ हैं। यद्यपि उनका विशालतम दूरवीक्षण यंत्र तीन फुट से अधिक बड़ा नहीं होता है, तथापि वह योरोप के सौ फुट लम्बे यंत्र की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और विशद करने में सक्षम है। फलस्वरूप उनका ज्ञान योरोप के ज्योतिर्विदों की अपेक्षा

अधिक विस्तृत है। उन्होंने दस सहस्त्र ग्रह—नक्षत्रों की सूची बना ली है जब कि हमारी बड़ी से बड़ी सूची में इसके तृतीयांश से अधिक नाम नहीं हैं। इसी प्रकार उन्होंने मंगल ग्रह की परिक्रमा करने वाले दो उपग्रहों को भी खोज लिया है। उनमें से निकटस्थ उपग्रह मुख्य ग्रह के ब्यास की तिगुनी दूरी पर तथा दूरस्थ उपग्रह उसी की पांच गुनी दूरी पर स्थित है। पहला दस घंटो में और दूसरा साढ़े इक्कीस घंटों में मंगल ग्रह की एक पखिक्रमा पूरी कर लेता है। इस प्रकार प्रत्येक का परिक्रमा काल का वर्ग मंगल ग्रह से उसकी दूरी के घन से समनुपातिक है। इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों उपग्रह अन्य ग्रहों के समान ही गुरुत्वाकर्षण के सामान्य नियमों से ही नियंत्रित हो रहे हैं" (१९६३:१२१)।

आश्चर्य होता है कि खोज के डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही स्विफ्ट को कैसे और कहां से इस वर्णन का आधार प्राप्त हुआ था? उसकी जानकारी का स्रोत क्या था? निश्चय ही ज्योतिर्विद इनके अस्तित्व की आशंका व्यक्त कर चुके थे, परन्तु आशंकाओं के ही आधार पर इतने तथ्यों की कल्पना किए जाने की सम्भावना स्वीकार करना कुछ कठिन है। जो कुछ भी हो, ये दोनों ही उपग्रह हमारे सौरमण्डल के लघुतम और सर्वाधिक विचित्र ग्रह हैं। ये मंगल की विषुवत रेखा के ऊपर लगभग परिमण्डलाकार कक्षा में ही परिक्रमा करते हैं। यदि इनसे प्रत्यावर्तित होने वाला प्रकाश हमारे चन्द्रमा जितना ही हो, तो 'फोबोस' का ब्यास १६ किलामीटर और 'डाइमोस' का ८ किलोमीटर होना चाहिए। परन्तु ये कृत्रिम उपग्रह हैं और यदि अपने आकार की अपेक्षा अधिक प्रकाश प्रत्यावर्तित करते होंगे, तो इनका और भी अधिक छोटा होना सम्भव है। हमारे सौर मंडल के उपग्रहों में यही दो ऐसे हैं जो अपने मातृ—ग्रह की गति से भी अधिक गति से चलते हैं। 'फोबोस' मंगल ग्रह की एक दिन में उसकी दो परिक्रमाएं पूरी कर लेता है और 'डाइमोस' मंगल ग्रह की अपेक्षा कुछ अधिक गति से चलता हुआ उसकी परिक्रमा करता रहता है।

ईस्वी सन् १८७२ में पृथिवी से मंगल के निरीक्षण परीक्षण किये जाने की अभूतपूर्व स्थिति उत्पन्न हो गई थी किन्तु तब भी इन्हें नहीं देखा जा सका था। इन्हें पांच वर्ष बाद ही देखा जा सका था। प्रारम्भ में अनेक ज्योतिर्विदों का अनुमान था कि ये ब्योम से आए हुए वे पिण्ड हैं जिन्हें मंगल ने आकर्षित करके अपनी छत्रछाया में ले लिया था। इसी कल्पना से ग्रहखण्डों का सिद्धान्त विकसित हुआ है। परन्तु अब इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः दोनों ही उपग्रह एक सी स्थिति में हैं। ब्योम से आए एक पिण्ड के सम्बन्ध में तो इस सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता था, परन्तु दो पिण्डों के लिए एक जैसी स्थिति को स्वाभाविक स्वीकार करना सम्भावनाओं के सिद्धान्त का दुरुपयोग होगा। इसके अतिरिक्त, मापने योग्य तथ्यों के मूल्यांकन से इनके कृत्रिम उपग्रह होने की सम्भावना बलवती हो गई है।

अमरीका के विश्वविश्रुत ज्योतिर्विद कार्ल सागां और रूसी वैज्ञानिक आई. एस. श्लोव्सीकी ने 'फोबोस' का कृत्रिम उपग्रह होना स्वीकार कर लिया है। आंकड़ों की श्रृंखला के अध्ययन के आधार पर उनका निष्कर्ष है कि यह उपग्रह खोखला है और खोखला उपग्रह कभी भी प्राकृतिक नहीं हो सकता। वास्तव में फोबोस की अपनी

कक्षा में परिभ्रमण की ऐसी अनेक विशेषताएं हैं जिनका उसके आयतन और भार से कोई सामञ्जस्य नहीं स्थापित किया जा सकता है और ये विशेषताएं खोखली वस्तुओं में ही पायी जाती हैं। श्लोव्सकी, जो मास्को के स्टर्नबर्ग संस्थान के रेडियो ज्योतिष विभाग के निदेशक हैं ने मंगल के 'फोबोस' उपग्रह की, हमारे उपग्रहों की तरह ही, समय समय पर अस्वाभाविक रूप से तीव्र हो जाने वाली गति का अध्ययन करके इस स्थापना की पुष्टि की है (१६६६)।

यदि पूर्व और पश्चिम, दोनों ही क्षेत्रों के मूर्धन्य ज्योतिर्विदों की इस स्थापना को स्वीकार किया जा सके कि कभी मंगल ग्रह पर कृत्रिम उपग्रहों को बना कर अन्तरिक्ष में स्थापित करने में सक्षम एक समुन्नत वैज्ञानिक सभ्यता का अस्तित्व था, तो सोचना ही पड़ेगा कि उसका अब क्या हुआ? प्राकृतिक कारणों से क्षीण होते हुए संसाधनों की समाप्ति की आशंका ने ग्रहान्तरित होने के लिए बाध्य किया था अथवा वे किसी विश्वव्यापी दुर्घटना अथवा युद्धों में नष्ट हो गए थे और कुछ थोड़े से अधिक सुविधा सम्पन्न वैज्ञानिक ही किसी दूसरे ग्रह पर शरण ले सके थे। सूर्य से अन्य ग्रहों की दूरी के अनुपात को देखते हुए मंगल और वृहस्पति का अन्तराल कुछ अस्वाभाविक रूप से अधिक प्रतीत होता है। क्या उपरोक्त दुर्घटना अथवा किसी युद्ध में उस अन्तराल में स्थित कोई ग्रह खण्ड–खण्ड होकर विखर गया है?

ईस्वी सन् १६५० में प्रकाशित एक पुस्तक में डा. एमेनुएल वेलिकोव्सकी ने अनुमान प्रस्तुत करते हुए लिखा था कि कभी किसी धूमकेतु के मंगल ग्रह से टकरा जाने के फलस्वरूप ही शुक्रग्रह की उत्पत्ति हुई थी। अब मैराइनर–दो से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इसकी प्रतिलोम गति के सिद्ध हो जाने से इस स्थापना की पुष्टि होती प्रतीत होती है। शुक्र ही अकेला एसा ग्रह है जो सौर मण्डल के अन्य सभी ग्रहों को मान्य नियमों का उल्लंघन करते हुए, उनसे प्रतिलोम दिशा, में घूर्णित होता है।

मंगल ग्रह पर विकसित सभ्यता को नष्ट होने का जो भी कारण रहा हो, अब सुदूरभूत काल में किसी अन्य ग्रह से आकर जीवन और सभ्यता के पृथिवी पर स्थापित हुआ होना स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। मंगल ग्रह का गुरुत्वाकर्षण पृथिवी की अपेक्षा अत्यधिक कम है, अतः वहां के प्राणियों की देह यष्टि पृथिवी पर आज उपलब्ध प्राणियों के अपेक्षा अधिक स्थूल,दीर्घ और भारी रही होगी (डानिकेन १६७६–१:१५१–५५)। यदि यह ठीक है तो बृहत् शिलाखण्डों से संयोजन से वास्तु शिल्प का निर्माण कर सकने में समर्थ, दूसरों ग्रहों से आए हुए महाकाय असुरों का पता लग जाता है।

(२) देव :

कुछ विशिष्ट वैज्ञानिकों को ही ज्ञात है कि लगभग तेरह सहस्र वर्षो से एक कृत्रिम उपग्रह हमारे सौर मंडल में परिक्रमा कर रहा है। इस जानकारी का प्रचार तब हुआ जब ईस्वी सन् १६२७ के दिसम्बर मास में ओस्लो विश्वविद्यालय के अध्यापक कार्ल स्टार्मर ने सुना कि अमरीका के टेलर तथा यंग ने परमव्योम से रुक रुक कर

आने वाले विचित्र रेडियो संकेतों को ग्रहण करने में सफलता पाई है। तत्पश्चात् अन्य वैज्ञानिकों के सहयोग से उसने २५ सितम्बर १६२८ में तथा फरवरी १६२६ में इसी प्रकार के परीक्षण किए थे। ऐसे ही परीक्षण १६३४,१६४७—१६४६ और १६७० में भी दुहराए गये थे। स्काटलैंड के प्रौद्योगिकी शोध संस्थान के निदेशक डेकन लूनन ने इन सभी आंकड़ों का विश्लेषण करने पर जान पाया है कि ये संकेत १०३ प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित 'इप्सीलोन बूटस' नामक नक्षत्र के उपग्रह से निःसृत हो रहे हैं। उसका निष्कर्ष है कि ज्ञान विज्ञान के सभी क्षेत्रों की सूचनाओं को अपने में समाहित करने वाला एक कृत्रिम उपग्रह हमारे सौर मंडल की विगत १२६०० वर्षों से परिक्रमा कर रहा है। इस उपग्रह का कम्प्यूटर पृथिवी से प्राप्त संकेतों—ध्वनितरंगों को कुछ इस प्रकार रुक रुक कर प्रत्यावर्तित करता रहता है कि पृथिवी पर ये तरंगे सुविधा पूर्वक ग्रहण की जा सकें। अब तक के विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि इस उपग्रह का मूल ग्रह इप्सिलोन बूट्स है। यह एक जुड़वा ग्रह होने के अतिरिक्त अपने मंडल का सूर्य भी है। इस मंडल के सात अन्य ग्रहों में से छठे के निवासी यह संदेश भेजने की व्यवस्था कर रहे हैं। इस ग्रह का एक उपग्रह भी है। इसी प्रकार चौथे ग्रह के तीन और पहले तथा तीसरे ग्रह के एक एक उपग्रह हैं। उनका यह उपग्रह पृथिवी के उपग्रह चन्द्रमा की परिक्रमा कर रहा है (डानिकेन १६८१-२२०६-१२)।

१०३ प्रकाश वर्षों की दूरी पर स्थित किसी ग्रह से उपग्रह का आना प्रायः असम्भव ही है। यह न किसी अन्य साधन या माध्यम द्वारा भेजा जा सकता था और न अपनी ही ऊर्जा से आ सकता था। फिर, इसके भेजे जाने के समय पृथिवी का भी कहीं कोई अस्तित्व नहीं था। ऐसी स्थित में इस उपग्रह के अस्तित्व के कारण का एकमेव समाधान यही है कि कभी 'इप्सिलोन बूटस्' के अन्तरिक्ष यात्री अपने यान के दोष या किसी अन्य कारण से इस पृथिवी पर उतर आए हों और फिर अपने प्राचीन निवास स्थान लौटने के प्रयत्नों में पृथिवी पर ही संस्कृति का विकास कर गये हों और यहीं पर बनाकर १२६०० वर्षों पूर्व इस उपग्रह को कक्षा में स्थापित कर गये हों। क्या ये ही असुरों के बाद पृथिवी पर आ पहुंचने वाले वही देव तो नहीं थे जिन्हें हमारे *"यो नः पिता जनिता यो विधाता"* कहा गया है।

• • • • • • • • • •

उपसंहार

८. उपसंहार

निरुक्तकार महर्षि यास्क ने लिखा है कि प्रयोग शाला में पदार्थो के गुणधर्मो का साक्षात्कार करने के प्रयत्न का तप करने वाले ऋषियों के अतिरिक्त मंत्रार्थ का कोई प्रत्यक्ष नहीं कर सकता — *नैतेषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेस्तपस्ते वा* (१३. १२)। हमने ऐसे ही आधुनिक 'साक्षात्कृत धर्मा' ऋषियों — वैज्ञानिकों — के मन्तव्यों के आधार पर ही वेद के विज्ञान के एक पक्ष को यत्किञ्चित स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इसमें मिलने वाली सफलता का आकलन तो सहृदय पाठक ही कर सकेंगे, फिर भी इतना कह चुकने के बाद हम पाठक के मन में वेद और उसके विज्ञान, दोनों के लुप्त होने के कारण, प्रक्रिया और कालक्रम के सम्बन्ध में उठने वाली स्वाभाविक जिज्ञासा के विषय में भी कुछ कहना चाहेगें। पर इस विषय में कुछ कहने के पूर्व 'वेद' और 'विज्ञान' शब्दों के अर्थ को समझ और समझा लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

१. विज्ञानः

'ज्ञान' शब्द में 'वि' उपसर्ग लगा कर विज्ञान शब्द की निष्पत्ति होती है। 'वि' उपसर्ग यथावसर विशेष, विविध और विरुद्ध अर्थो को प्रकट करता है। श्रीमद्‌भगवद् गीता में कहा गया है कि भिन्न भिन्न प्रकार से विभक्त सब भूतों में जिस प्रक्रिया से एक ही अविनाशी तत्व को देखा जाये वही सत्व गुण का कार्य है और उसे ही ज्ञान कहते हैं — *अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्*(१८.२०)। इसका तात्पर्य यही है कि भिन्न भिन्न प्रकार के अनन्त रूपों में विभक्त पदाथों में अनुस्यूत एक सत्ता या तत्व को देखना ही ज्ञान है और इसे विपरीत, एक ही अविभक्त तत्व से ही अनन्त विभक्त पदार्थो के विस्तार का दर्शन (और निर्माण) करना विज्ञान कहा जायेगा। एक को अनेक रूप देना ही तो शिल्प है। इसीलिए तो अमर कोशकार ने इन शब्दों के अर्थ बताते हुए कहा है कि *'मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः'* — मोक्ष के सम्बन्ध में किया जाने वाले चिन्तन और उससे उत्पन्न बुद्धि को ज्ञान और इसके अतिरिक्त शिल्पादि शास्त्र विषयक विचार और बुद्धि को विज्ञान कहते हैं। इन दोनों ही व्याख्याओं का मूल अर्थ समान होने पर भी, इनका दृष्टि कोण भिन्न प्रतीत होता है। श्रीमद्‌भगवद् गीता जहां वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाती है वहीं कोशकार का पारमार्थिक झुकाव स्पष्ट है। इसी से इन दोनों के रचना काल के बीच का दीर्घ अन्तराल भी सूचित होता है।

२. वेदः

वेद शब्द 'विद् ज्ञाने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर बना है। 'घञ' प्रत्यय का अर्थ भी भाव, कर्म या करण हो सकता है। इसीलिए ज्ञान, ज्ञान का विषय अर्थात ज्ञेय पदार्थ और ज्ञान का साधन, ये तीनों ही वेद शब्द के वाच्य अर्थ हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान पाणिनि ने धातुपाठ में 'विद' धातु के सत्ता, लाभ और विचार करना, ये तीन अर्थ और माने हैं। इनमें तीसरा तो ज्ञान में ही अन्तर्भुक्त हो जाता है, किन्तु सत्ता और लाभ अतिरिक्त ही रहते हैं। इस अर्थो में भी उक्त तीनों ही प्रत्ययार्थ जोड़ने

से बने शब्द का अर्थ – गाम्भीर्य बढ़ जाता है। लाभ आनन्द का उत्स है, इसीलिए सत्, चित् और आनन्द, ये जो तीन ब्रह्म की लक्षण कहे गये हैं, वे भी वेद के शब्दार्थ में आ जाते हैं। अर्थात् विद् धातु के अर्थो में सत्ता से उत्पत्ति, ज्ञान से जीवन धारण और लाभ से प्राप्ति होकर प्राप्त कर्ता में लय बताया जाना भी उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए वेद शब्द ब्रह्म का भी पर्याय हो गया है। प्राचीन वाङ्मय में ब्रह्म, विद्या और वेद, इन तीनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में मिलता है। तीनों वेदों के लिए *' त्रयं ब्रह्म*, *'त्रयी विद्या'* और *'त्रयो वेदाः'* – ये तीनों प्रकार के प्रयोग यत्र तत्र सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। तद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से इनमें किंचित भेद भी हैं। वेद शब्द का जो अर्थ ज्ञान है, वह तीनो अर्थो में समान होते हुए भी, साधनों के भेद से विभिन्न अर्थ प्रकट करने में समर्थ है। यथा – प्रत्यक्ष प्रमाण से हुए ज्ञान को 'ब्रह्म', पूर्व संचित संस्कारों की सहायता से 'विद्या' और शब्द प्रमाण से होने पर 'वेद' कहा जा सकता है (चतुर्वेदी १९६७)।

ऐसे वेद पर हमारी *'यत्परानारित'* श्रद्धा है। पूर्व समय में लोग ४८,३६,२४ और न्यूनातिन्यून १२ वर्षो तक ब्रह्मचर्या करते हुए वेद के अर्थो को उद्घाटित करने का तप करते थे। अनेक तो तीन–तीन आयुष्य पर्यन्त ब्रह्मचर्या ही करते रहते थे और इससे भी अधिक पा जाने पर भी ब्रह्मचर्या ही करने के लिए तत्पर थे परन्तु कहा गया कि तब भी वेदों का पार नहीं पाया जा सकता था। परन्तु दुर्भाग्य से वेदाध्ययन की वह आद्य परम्परा उच्छिन्न हो चुकी है। उसके रहस्यों का उद्घाटन करके लिखे गये अगणित रहस्य और निदान ग्रन्थ इस्लाम के दावानल में उसके ध्वजाधारी दस्युओं द्वारा अग्नि को समर्पित किए जाकर भस्म हो चुके हैं। यदा कदा मिल जाने वाले भारद्वाजीय बृहद् विमान शास्त्र जैसे ग्रन्थ रत्नों के मिल जाने पर उन्हें समझने और समझाने वाले विद्वानों का भी अभाव हो गया है। आगे के कुछ पृष्ठों में इसी स्थिति के लिए उत्तरदाई कारणों को समझने – समझाने का प्रयास किया जा रहा है।

३. वेद और विज्ञान के लोप होने के कारण :

महाभारत युद्ध में भाग लेकर आयुर्विज्ञान के अतिरिक्त अन्य सभी शास्त्रों के ज्ञाता–प्रयोक्ता काल कवलित हो चुके थे। जो कुछ थोड़े बचे भी रह गए हो होंगे, उन्होंने भी युद्ध की विभीषिका से घबरा कर शास्त्रों को, शान्ति प्रियता की दुहाई देते हुए, मंजूषा में बन्द कर दिया होगा और आध्यात्म की ओर उन्मुख हो गए होंगे। कालान्तर में विज्ञान से विमुख हुए पतनोन्मुखी समाज की बढ़ती हुई विषमताओं के कारण उन ज्ञाता प्रयोक्ताओं के वंशजों ने इनके प्रयोग कुशल शूद्र कारुक – शिल्पियों को तिरस्कृत करते हुए क्रमशः वेदाध्ययन और फिर संस्कृत और अन्ततः शिक्षा से ही दूर करा दिया था। ज्ञान का उपयोग क्रिया में है। किसी भी बात को जानकर यदि हम उस ज्ञान के अनुकूल आचरण नहीं करते हैं तो वह ज्ञान निरर्थक हो उठता है। अब शास्त्र ज्ञाता अपने ही बुने जाल में फंसकर, शूद्र हो जाने के डर से, क्रियाहीन और कर्म कुशल शिल्पी ज्ञान–हीन हो गए थे। क्रिया हीन शास्त्र और शास्त्र हीन क्रिया का परिणाम नाश ही होता है और वही हुआ भी– समस्त ज्ञान–वेद और विज्ञान लुप्त हो गया ।

यद्यपि यह पतन महाभारत युद्ध के बाद अत्यधिक तीव्र गति से होता हुआ दिखाई देता है, किन्तु इसके बीज इस युद्ध के बहुत पहले ही बोये जा चुके थे। जिस समय सभी दृष्टियों से अन्धे राजा ही नहीं, उनके तर्कहीन उलटी — सीधी प्रतिज्ञा करने और उन्हें पालन करने के कारण अहंमन्य अभिभावक भीष्म ने राजमद और धनबल से गुरु को क्रय करना और गुरु ने ज्ञान सहित विक्रय होना स्वीकार करके, योग्य किन्तु धनहीन बालकों को कुशल और सुयोग्य अध्यापकों से शिक्षा प्राप्त करने के जन्म सिद्धि अधिकार से वंचित करने की दुरभिसंधि में भाग लेना स्वीकार कर लिया था, पतन के बीज तो तभी बोये जा चुके थे। बृहदारण्यक उपनिषद में वर्णित सत्यकाम जाबाल के गुरुकुल प्रवेश की घटना, जहां व्यक्ति के आत्मिक एवं चारित्रिक गुणों को, न कि उसके हीन जन्म को, देखते हुए ही उसके वर्ण का निश्चय किया गया था, के परिप्रेक्ष्य में देखने पर इस पतन की सीमा का कुछ अनुमान किया जा सकता है। इस पतन की पराकाष्ठा तब हुई होगी जब गुप्त नृपतियों के समय में जीवनोपयोगी वस्तुओं के रूप में कर मुक्त 'ब्रह्मदेय' (कौटिल्य. अर्थशास्त्र, २.१.७) के स्थान पर, बौधायन के स्पष्ट कहने पर भी कि कृषि कर्म वेदार्जन की प्रवृत्ति का विनाशक है — *कृषिर्वेद विनाशाय* (धर्म सूत्र १.१०.३१), विद्वान गुरुओं को भूमि दिए जाने की गर्हित प्रथा का सूत्रपात हुआ और 'ब्रह्मदेय' का अर्थ ही भूमि दान स्वीकार कर लिया गया था।

ऊपर कहा जा चुका है कि आर्ष परम्परा में प्रारम्भ से ही विद्योपजीवी वर्गो के लिए न्यूनातिन्यून ४८ वर्षों की ब्रह्मचर्या का विधान किया गया था। परन्तु महाभारत युद्ध में हुए भीषण नर संहार के फलस्वरूप हुई नर संख्या के अभाव की पूर्ति और वंश वृद्धि की आवश्यकता को देखते हुए, विद्योपजीवी वर्गो में शीघ्र ही विवाह करने के लिए अध्ययन के विषयों और काल में कमी करके प्राचीन विधान शिथिल कर दिया गया होगा। फिर भी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यवन आक्रान्ता सिकन्दर के उत्तराधिकारी सेल्यूकस के समय में भेजे गये यवन राजदूत मेगस्थनीज के साक्ष्य से सिद्ध होता है कि उस समय तक गुरुकुल में प्रवेश के बाद कम से कम ३७ वर्षों के अध्ययन की परम्परा जीवित थी। परवर्ती काल में हुए कलिंग नरेश खारबेल के लेख से ज्ञात होता है कि उसने ६ वर्ष से २४ वर्ष की वयस के मध्य १५ वर्षों की लघु अवधि में अपने समय में आवश्यक समझे जाने वाले समस्त ज्ञान विज्ञान को अर्जित कर लिया था (सरकार १९४२–१:२०७)। ध्यान देने योग्य है कि इस सूची— *ततो लेख—रूप—गणना—ववहार—विधि विसारदेन सव विजावदातेन*— में कहीं भी वेद शब्द नहीं आया है। इस उदाहरण को देखते हुए इतना तो स्वीकार ही किया जा सकता है कि विद्वान को अपनी आयु के मध्याह्न में— न्यूनातिन्यून ५० वर्ष की वयस में— ही राज्य से 'ब्रह्मदेय'— भूमि का दान—मिलता रहा होगा। उस समय तक, घटी हुई अवधि का अध्ययन पूरा कर चुका हुआ, उसका युवा पुत्र पिता को दान में मिली हुई भूमि की व्यवस्था करने में व्यस्त हो जाने के कारण, स्वाध्याय करके अपनी गुरु से प्राप्त विद्या को प्रौढ़ करने का अवसर कम ही पाता रहा होगा। उसका पुत्र भूस्वामित्व के वातारवरण में पल कर अध्ययन की औपचारिकता मात्र ही पूरी पाता होगा। इस प्रकार चौथी पीढ़ी तक तो अध्ययन—अध्यापन की वह परम्परा, जिसके चलते ही 'ब्रह्मदेय'

की प्राप्ति हुई थी, समाप्त होकर, भूस्वामियों का एक वर्ग उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गया था जो जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी, रुचि और कर्म से क्षत्रिय हो चुका था। ये अब, 'करेला,नीम चढ़ा' की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हुए, वास्तविक क्षत्रियों से भी अधिक उद्दण्ड और निरंकुश स्वेच्छाचारी सिद्ध हुए हैं। अब तक तो ब्राह्मण अपने सद्‌गुणों और विद्या के प्रभाव से अर्जित आत्मिक और चारित्रिक शक्ति से राजाओं तक का नियन्ता था। परन्तु अब जहां एक ओर उनका मार्गदर्शन करने वाला कोई नहीं रहा, वहीं दूसरी ओर मार्गदर्शक वर्ग की सन्तानं ब्राह्मण कुल में जन्मी होने के दम्भ से परिपूर्ण ही नहीं हो गई थी, प्रत्युत शस्त्र और धनबल पाकर स्वयं भी निरकुंश हो चुकी थी।

इस घटते हुए अध्ययन की अवधि के युग में वेद ज्ञान का अत्यधिक ह्रास हुआ था। अब तक तो वेद की प्राथमिकता ही विस्मृत हो चुकी थी। व्याकरण महाभाष्यकार भगवान पतञ्जलि ने व्याकरण का प्रमुख प्रयोजन बताते हुए कहा था कि *'रक्षार्थ वेदानामध्येयं व्याकरणम्'*, वेदोंकी रक्षा करने के उद्देश्य से व्याकरण पढ़ना ही चाहिए। इसी प्रकार अन्य सभी शास्त्रों की प्रवृत्ति भी वेदार्थ को प्रत्यक्ष करके, उसे समझाने और समझाकर रक्षा करने के लिए ही हुई थी। परन्तु मध्य काल में इस सिद्धांत को भुला दिया गया था। इतना ही नहीं, महर्षि जैमिनि द्वारा विधि वाक्यों को प्रधान मानकर भी, उनसे सम्बन्ध रखने वाले उपपत्ति, स्तुति आदि प्रस्तावनापरक वाक्यों को 'अर्थवाद' कह कर उनका महत्व प्रतिष्ठापित किया गया था। मगर कालान्तर में उनके ही अनुयायियों ने उन पर चिन्तन मनन को निरर्थक श्रम ही समझ कर, कर्मकाण्ड के सौकर्य के लिए रचे गए श्रौतसूत्र, पद्धति ग्रन्थों में, अनावश्यक समझ कर उन्हें कोई स्थान नहीं दिया था। मध्यकालीन भाष्यकारों ने भी इन्हीं का अनुगमन करते हुए ही, मंत्रों और उनके अर्थो का विनियोग केवल अनुष्ठेय यज्ञों तक ही संकुचित कर दिया था। इस प्रकार जो वेद यज्ञ अर्थात् विभिन्न पदार्थो के संयोग वियोग अर्थात सम्मिश्रण से नई वस्तुओं का निर्माण करने की शिक्षा देने के लिए — *यज्ञसिद्धयर्थ* (मनुस्मृति १.२३) — ही प्रवृत्त हुए थे, उनको, यज्ञ का अर्थ सीमित करके, मंत्र और ब्राह्मणों के अनुष्ठेय यज्ञों से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ ही पुष्ट किये जाने लगे थे। उनमें निहित विज्ञान को पुरोहितों की लाल बुझक्कड़ी ने अभिनय अथवा वैज्ञानिक प्रयोगों को पुरोहितों की दमित काम वासनाओं को प्रतिबिम्बित करने वाली क्रियाओं और अश्लील सम्भाषणों में प्रस्तुत करते हुए, उनके वैज्ञानिक महत्व को नष्ट करने में महती सहायता की। फिर 'जिस समय संसार में कहीं भी विज्ञान की चर्चा ही न हो, तो विज्ञान को प्रकट करने वाले अर्थो पर ध्यान जाना अति कठिन है' (चतुर्वेदी १६६०.६) कह कर इन याज्ञिक भाष्यकारों की रक्षा किया जाना कुछ आश्चर्य जनक ही प्रतीत होता है। माना कि उन भाष्यकारों के समय में विज्ञान की चर्चा नहीं होती थी, पर क्या न्याय सूत्र भी नष्ट हो गये थे? क्या *'वेद शास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणानुसंघत्ते स धर्म वेद नेतरः'* (१२.१०६) कहने वाली मनुस्मृति भी लुप्त हो गई थी?

इन याज्ञिक भाष्यकारों ने बुद्धि और तर्क को तिलाञ्जलि देकर, मात्र पौरोहित्य स्वार्थ सिद्धि के लिए कर्मकाण्डीय कृत्यों का घटाटोप खड़ा करके, भोले, श्रद्धावान किन्तु अशिक्षित अथवा अध्ययन काल की अवधि सीमित कर दिए जाने से अल्पशिक्षित ही

रह गए बहुजन समाज, जो मनस्वी होने के लिए उत्पन्न किया गया था, को मात्र आज्ञाकारी और आस्थावान पशुओं में परिवर्तित कर देने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। इस अविचारपूर्ण आस्था की पराकाष्ठा उस समय हुई थी जब दरबारी पुरोहितों ने अस्तित्व हीन अदृश्य वस्त्रों को स्वर्गीय अथवा दैवी कहकर कथानायक आस्थावान किन्तु बुद्धि और तर्कहीन राजा को पहनाने का प्रवंचना पूर्ण कृत्य करके जनसमुदाय के सम्मुख पूर्णतया नग्न कर दिया था। सायण और उस जैसे अनेक भाष्यकारों द्वारा यजमान से, सीढ़ी द्वारा यूप पर चढ़ा कर, स्वर्ग पहुंचने की घोषणा करवाना भी उपरोक्त कथा से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। इस प्रसंग में एक अन्य कर्मकाण्ड का भी स्मरण करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। स्वर्ग पहुंच चुके व्यक्तियों से संवाद स्थापित करते समय भी नीचे पृथिवी की बात तो ऊपर स्वर्ग में पहुंचाई जाती है, ऊपर की नीचे नहीं। यज्ञ के वैज्ञानिक अर्थ को भुलाकर, पर प्रवंचना का ही नही, आत्म प्रवंचना का भी इससे बड़ा उदाहारण क्या होगा?

४. और काल क्रम :

याज्ञिक व्याख्यायों की इन परम्पराओं का प्रारम्भ कब से हुआ है, इस प्रश्न का सही उत्तर देना कुछ कठिन तो है, पर अनुमान तो किया ही जा सकता है। हमको बताया जाता रहा है कि बौद्धदर्शन निरीश्वर वादी है, नैरात्मवादी है। उसमें आत्मा और परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं है। हमें यह तर्क कुछ समझ में नहीं आता है। लोक में '*मौनं सम्मति लक्षणम्*' माना जाता है। फिर आत्मा और परमात्मा जैसे प्रश्नों के उत्तर में भगवान बुद्ध का मौन रह जाना उनके प्रत्याख्यान का सूचक ही क्यों माना जाये? हां, वे अवश्य ही यह मानते रहे होगें कि प्रश्नकर्ता जैसे आत्मवन्त बहुजन समाज के व्यक्ति को परमात्मा की आवश्यकता तो है, पर उसे परमात्मा की सिद्धि के लिए दिए जाने वाले जटिल तर्कों को समझने की न तो योग्यता ही है और न कोई आवश्यकता ही है। उनका सारा का सारा विरोध तो कर्मकाण्डीय प्रवृत्तियों के प्रति ही है। 'धम्मपद' और अश्वघोष कृत 'वज्रसूची उपनिषद' पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वेद के नाम पर बहुजन समाज को विमोहित करके, अपना और अपने वर्ग का हित साधने के उद्देश्य से, जनता को मरणोपरान्त स्वर्ग पहुंचाने का लोभ दिलाकर, अपना इहलोक संवारने और दूसरों का बिगाड़ने वाले पुरोहितो की ही घोर निन्दा की है, न कि सच्चे ब्राह्मणों की (धम्मपद २६.३८३–४२३)।

उनसे बहुत पहले हो चुके आचार्य कौत्स ने भी इसी अनार्यजुष्ट परम्परा मूलक याज्ञिकवाद द्वारा आरोपित अतर्क्य वेद व्याख्याओं के बढ़ते प्रभाव को देखकर ही तो कहा था कि यदि वेद का यही अर्थ है तो मंत्र निरर्थक ही नहीं, वरन् अनिष्टकारी भी है — *"अनर्थका: हि मन्त्रा:"* (यास्क १.१५)। बृहस्पति अपर नाम चारवाक ने भी इन्हीं बुद्धिहीन और तर्क विरोधी मंत्रार्थ कर्ताओं — वेदभाष्यकारों — अपौरुषेय होने से किसी के मंत्रों का कर्ता होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है— को भण्ड, धूर्त और निशाचर तक कह डाला था— *त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्ड धूर्त निशाचरा:* "(सर्वदर्शन संग्रह, चारवाकदर्शन– स्वामी दयानन्द सरस्वती १९७०:१२.४१६)। उन्होंने पुरोहितों के माध्यम से

मृतपितरों को भोग्य पदार्थ पहुंचाने का विधान स्वार्थी ब्राह्मणों द्वारा अपनी जीविका के लिए ही निर्धारित किया जाना कहा था— *ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणै विहितस्त्विह। मृतानां प्रेतकार्याणि* (वही)।

इससे भी पूर्व, शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि एक बार कुरुपाञ्चाल के ब्रह्मापद प्राप्त अरुण के पुत्र उद्दालक ऋषि को किसी यज्ञ में निमंत्रित करके उदीच्य देश में बुलाया गया था। यज्ञ में उपस्थित विद्वानों को भेंट दिए जाने की प्रथा के अनुसार उन्हें भी एक सुवर्ण निष्क दिया गया था। इस पर उदीच्य देश के ब्राह्मणों ने उसमें से आधा भाग प्राप्त करने के उद्देश्य से षडयंत्र करके, शौनक गोत्रीय स्वैदायन को उनकी योग्यता की परीक्षा लेने के लिए भेजा था। उद्दालक ऋषि से पूछे जाने वाले प्रश्न दांतो के उत्पन्न होने, उनके आकार प्रकार और अन्ततः गिर जाने, विभिन्न अंगों पर रोम उत्पन्न होने, उनके श्वेत हो जाने और वीर्य सेचन की सामर्थ्य उत्पन्न होने और नष्ट हो जाने जैसे आयुर्विज्ञान सम्बन्धी तथा दर्शपूर्णमास के आठ पूर्व के आज्यभाग, पांच बीच के हविर्भाग, छह प्रजापति के भाग और आठ अन्त के आज्य भाग, यजमान के स्वर्ग पहुंचाने वाली तेजोमय, पंखयुक्त गायत्री अर्थात् द्युलोक गामी श्येन के आकार के देवयान की रचना और उसमें क्रमशः प्रयुक्त होने वाली ऊर्जा के स्रोत जैसे वैज्ञानिक प्रक्रिया से सम्बद्ध प्रश्न थे। जब उद्दालक ऋषि ने इन विषयों में अपना अज्ञान स्वीकार करते हुए उन विज्ञानों को जानने के लिए स्वैदायन का शिष्यत्व ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की थी तो उन्हें अनुष्ठेय यज्ञों की मध्यकालीन वेद भाष्यकारों जैसी व्याख्या सुनाकर बहला दिया गया था (११.४.१.१–१६)। यह कथा अकेली नहीं है। पुरोहितों की लालबुझक्क्ड़ी की ऐसी ही अनेक कथाएं ब्राह्मणों में अनेकत्र मिलती हैं। मगर इस से एक बात का पता तो चलता ही है और वह यह कि समय समय पर होने वाले ऐसे यज्ञ—सत्रों के आयोजन का प्रयोजन उनके मध्य की अवधि में होने वाले वैज्ञानिक अनुसंधानों पर चर्चा ही था।

भगवान बुद्ध से प्राचीन इन आचार्यों के इस साक्ष्य का फलितार्थ यही प्रतीत होता है कि देवों और ऋषियों के उत्क्रमण करके चले जाने के बाद, तर्क — बुद्धि को ऋषि मानकर चलने वाले मनीषियों की जब महाभारत युद्ध के पूर्व ही अवमानना होने लगी, जब समाज के प्रत्येक बालक को उसकी स्वाभाविक योग्यता और पात्रता के अनुरूप विद्या प्राप्त करने के ईश्वर प्रदत्त अधिकार से वंचित कर दिया, जब मनीषियों के ज्ञान को क्रय—विक्रय की साम्रगी बना दिया गया, जब मनु के स्पष्ट आदेशों के विपरीत आचार्य ने *'भृतकाध्यापक'* होकर द्विजाधम होना स्वीकार कर लिया, जब धन बल को ही शिक्षा प्राप्त करने की अर्हता का मान — दण्ड स्वीकार कर लिया गया, प्रायः तभी से धनी किन्तु मूर्ख, स्वार्थान्ध और स्वेच्छाचारी शासन तंत्र और उससे जुड़े हुए सम्पन्न और पहुंच वाले व्यक्तियों की स्वार्थ सिद्धि करने वाले दरबारी पुरोहितों को भी निश्चय ही अपना स्वार्थ सिद्ध करने का विचार आया होगा। कभी भी कोई व्यक्ति केवल दूसरे का घर भरने के लिए ही चोरी नहीं करता है। मंत्रियों की व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ति के लिए अनुचित ढंग से धन जुटाने और सरकारी सामान की हेराफेरी करने वाले भ्रष्ट और स्वार्थी अधिकारी अपना घर भरने से भी नहीं चूकते हैं। और दोनों ही एक

दूसरे को चोर न कह कर, परस्पर सहयोग करते हुए देश और बहुजन समाज की जड़ों से मठ्ठा डालते रहते हैं।

इस सब बुद्धिहीन और तर्क विरोधी मान्यताओंऔर प्रवृत्तियों की अभूत पूर्व वृद्धि को देखते हुए भी, उन्हें रोक पाने में अपने को असमर्थ अनुभव करते हुए ही तो महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास ने कहा था कि "मैं दोनों बाहु उठाकर कह रहा हूं कि अर्थ और काम की सिद्धि धर्म से ही होती है किन्तु कोई भी मेरी बात नहीं सुन रहा है, कोई धर्माचरण नहीं कर रहा है"— *ऊर्ध्वबाहूर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे। धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते* (म भा; १८.५.६३)।

५. फिर पुनरुत्थान :

उनका यह अरण्यरोदन नितान्त व्यर्थ नहीं गया, पुकार अनसुनी नहीं रही। आर्ष परम्परा की सरस्वती कुछ काल के लिए अवश्य ही आन्तरिक जड़ता और बाहरी दबावों से उत्पन्न स्वार्थ बुद्धि के घोर बालुकार्णव में लुप्त तो हो गई थी, परन्तु वह अन्तः सलिला सर्वथा सूखी नहीं थी, नीचे नीचे कहीं न कहीं प्रवाहित होती रही थी। इस बार यह प्रयाग से बहुत पहले, मथुरा में ही प्रकट हो गई थी। उसी आर्ष परम्परा, जिसमें कभी महर्षि कणाद ने घोषणा की थी कि वेद के सभी वाक्यों की रचना बुद्धिपूर्वक ही हुई है — *बुद्धिपूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे*, के अन्यतम दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती के भगीरथ प्रयत्नों से उन स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने मनु की घोषणा '*सर्वज्ञान मयो हि सः*' को दुहराते हुए कहा था कि 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' और मध्य कालीन याज्ञिक परम्परा का विरोध करते हुए बल पूर्वक कहा था कि 'वेद का पढ़ना—पढ़ाना और सुनना—सुनाना सभी आर्यो का परम धर्म' (ईस्वी सन १८७६ में बम्बई में स्थापित आर्य समाज का तीसरा नियम)।

१६ वीं शताब्दी ईस्वी में जिस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ था, उस समय तक धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से भारतीय समाज के पतन की पराकाष्ठा हो चुकी थी। वेद ज्ञान के पुस्तक नहीं रह गए थे। उनकी पूजा की जाने लगी थी। पारम्परिक श्रद्धा के कारण उन्हें कण्ठस्थ तो किया जा रहा था, परन्तु उनका वास्तविक अर्थ समझने — समझाने वाला कोई भी नहीं था। मध्य कालीन याज्ञिक भाष्यकारों के आधार पर ही वेदाध्ययन की औपचारिकताएं पूरी कर ली जाती थीं (यदुवंश राहाय १६७१,१६६२)। पाश्चात्य संस्कृतज्ञों को इन व्याख्याओं में वेद के वेदत्व का परिहार करने का एक बहुमूल्य साधन दिखाई दिया, अतः उन्होंने वेद पर से रही सही श्रद्धा को हटा करके, समस्त भारतीय समाज को ईसाई पंथ में दीक्षित करके (वर्मा १६७१ में मैक्सम्यूलर तथा मोनियर विलियम्स के उद्धरण देखे), विदेशी साम्राज्य की नींव सुदृढ़ करने वाले पंचम मार्गियों की सेना खड़ी करने (लार्ड मैकाले का प्रसिद्ध कथन, अरुण शौरी १६६४ द्वारा उद्धृत) के लिए अत्यन्त उपयोगी समझ कर ही, उनके प्रचार—प्रसार में अनन्य श्रम करना प्रारम्भ कर दिया था (भगवद्दत्त. n.d)।

इन भयावह परिस्थितियों में जब वेद का वैज्ञानिक अर्थ लुप्त हो चुका था, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मध्यकालीन भाष्यकारों का तिरस्कार करते हुए, 'वेद को सब

सत्य विद्याओं का पुस्तक' ही नहीं घोषित किया वरन् भावी अनुसंधान का पथ प्रशस्त करते हुए ईस्वी सन् १८७६ के पूर्व ही 'चतुर्वेद विषय सूची' रच कर वेद के सभी सूक्तों और मंत्रों में वर्णित विज्ञान का निर्देश कर दिया था। उन पर आक्षेप लगाया गया है कि उनके 'मंत्र के पूर्वापर सम्बन्ध की भी परवाह न कर खास पदों से कोई वैज्ञानिक संकेत निकाल देने से या तार, रेल, मोटर, वायुयान, बैलून आदि के नाम मंत्रों में दिखा देने मात्र से ही वैज्ञानिकों को सन्तोष नहीं हो सकता हैं'। इन्हीं आक्षेपकों ने मध्यकालीन भाष्यकारों के युग में विज्ञान की चर्चा न होने की दुहाई देकर ही उनकी बुद्धिहीन और तर्कविरोधी मान्यताओं के लिए समर्थन जुटाने का प्रयत्न भी किया है। और भी, कहा गया है कि 'विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को प्रकट करने की अपेक्षा सामाजिक बातों और अपने अभिमत आचरणों को और प्रचलित उपयोग की सामग्री को वेद मंत्रों में दिखाने का उन्हें विशेष ध्यान था'। यह भी कहा गया है कि 'वेद के ब्राह्मण भाग को और पुराणों को स्वामी जी ने बहुत उपेक्षा से देखा। बिना ब्राह्मणों की सहायता से मंत्रों का मुख्य विज्ञान क्रमबद्ध रूप में प्रकट नहीं हो सकता' (चतुर्वेदी १९६०:१८-१९)।

ये सभी आक्षेप निराधार और भ्रामक ही नहीं, पूर्वाग्रहग्रस्त भी हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रतिसूक्त और प्रतिमंत्र सन्निहित विज्ञान का निर्देश करते हुए ही 'चतुर्वेद विषय सूची' की रचना की थी और उसके उपरान्त ही ईस्वी सन् १८७६ में 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' और सन १८७७ में ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य प्रारम्भ किये थे (मीमांसक १९८३:११४-१८७)। कहा गया है कि शस्त्र बल से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र सुरक्षित रह कर पल्लवित-पुष्पित होता है। परन्तु यह भी उतना ही बड़ा सत्य है कि शास्त्र हीन राष्ट्र अधिक दिनों तक स्वतंत्र नहीं रह पाता है और शीघ्र ही शस्त्र हीन होकर सभी दृष्टियों से पददलित हो जाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का सुचिन्तित निष्कर्ष था कि 'भारत की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अवनति का मुख्य कारण वैदिक शिक्षा (और पद्धति) का लोप और पौराणिक शिक्षा का प्रसार होना' ही है (१९७०:११ की अनुभूमिका)। विज्ञान भी सुशिक्षित समाज में ही जन्म लेकर फलता-फूलता है। सहस्राब्दियों की तमिस्रा और बद्धमूल कालिमा को हटाकर उस समाज का निर्माण जिसमें, जन्म के स्थान पर, योग्यता के अनुरूप ही वर्णविभाग हो, उन्हें प्राथमिक आवश्यकता जान पड़ी थी और उचित ही जान पड़ी थी। आज भी तो सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा के नींव पर ही उच्चशिक्षा का प्रासाद खड़ा किया जाने की चर्चा हो रही है। जिस समाज में अधिसंख्य लोगों की योग्यता जन्म की आकस्मिकता के कारण प्रारम्भ में ही कुंठित कर दी जाती हो, उस समाज में विज्ञान प्रतिष्ठित-पल्लवित नहीं हो सकता और यदि हो भी गया तो स्वार्थ लोलुप, परपीड़क आसुरी शक्तियों को ही बल मिलेगा।

ब्राह्मण ग्रन्थों की उपेक्षा का आरोप भी मात्र मिथ्या प्रवाद ही है। उन्होंने 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' और अपने ऋग्वेद भाष्य में यथावसर ब्राह्मणों को उद्धृत करके स्वमत का पोषण ही नहीं किया था, वरन् उन्हें मान्यता भी प्रदान की थी। हां, व्याख्या में सामाजिक प्रक्रिया और वेदानुमोदित (अपना अभिमत नहीं) आचरण को प्रतिष्ठित कराने की प्राथमिकता के कारण ही वे विज्ञान पर अधिक ध्यान नहीं दे सके थे। वैसे, अन्यत्र

वे विज्ञान को प्रतिष्ठित कर ही चुके थे।

रही पुराणों की उपेक्षा की बात, सो वह कुछ अनुचित तो नहीं थी। यह सत्य है कि पुराणों में शिक्षित समाज में सुप्रतिषठित वेद के विज्ञान का अशिक्षित वर्ग में प्रचार प्रसार करने के लिए अतिशयोक्ति कथन और रोचक आख्यायिकाओं के रूप में ही प्रस्तुतीकरण हुआ है, परन्तु शिक्षित समाज में ही विज्ञान का लोप हो जाने के फलस्वरूप, पौराणिक आख्यान निरंकुश होकर, सर्वसाधारण को शिक्षित करने के स्थान पर, उन्हें अवनति के अतल गर्त में ढकेलने लगे थे। पुराणों की वैज्ञानिकता को आज के वैज्ञानिक युग में ही समझा जा सका है। पुराणों में विष्णु के दशावतारों की कल्पना का कहीं न कहीं आज के मान्य विकासवाद से समीकरण स्थापित किया जा सकता है। मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह और वामन आदि प्रारम्भिक अवतार जलचर, उभयचर, फिर धीरे धीरे सूखती धरती के दल—दल में होने वाले पशु और फिर शुष्क धरती पर हुए पुरुष—पशु और अन्ततः छोटे से बढ़कर तीनों लोकों में पैर पसार लेने की क्षमता से परिपूर्ण मनुष्य के ही तो प्रतीक हैं।

विकास वाद की तथाकथित आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में, पुराणों का एक अन्य संदर्भ भी अत्यन्त विचारोत्तेजक है। मार्कण्डेय पुराण के 'युगधर्म' प्रकरण में कहा गया है कि "आदि कृत युग में किसी विशेष कर्म की वृत्ति न थी। उस समय प्रजा नदी, तालाब, समुद्र, पर्वत आदि के समीप ही रहा करती थी। वे मनुष्य इच्छा—द्वेष, सुख—दुःख, प्रिय—अप्रिय, उत्तम—अधम आदि द्वन्दों से रहित थे। ईष्या का नाम भी न था। रहने के लिए घर नहीं होते थे। चोर आदि का डर भी नहीं था। ऋतुओं के फल—पुष्प आदि भी नहीं होते थे। वे सब स्वभावतः ही तृप्त रहा करते थे। रसवती पृथिवी (काई?) ही उनका आहार थी। संकल्प मात्र से संतति होती थी अर्थात गर्भाधान की इच्छा ऋतु कालिक थी और संन्तान की इच्छा से ही मैथुन होता था— वैसा ही जैसा आज भी पशुओं में होता है। क्रमशः वितृप्ति उत्पन्न हो गई। यद्यपि अब तक इच्छा मात्र से ही तृप्ति हो जाया करती थी किन्तु बारम्बार की इच्छा से मानसिक श्रम होने लगा था। अब मनुष्यों की पहली 'मानसी सिद्धि' का नाश हुआ। उसके अनन्तर मेघ उत्पन्न हुऐ, वृष्टि हुई और उत्पन्न हुए कल्पवृक्ष जिनसे मनुष्यों को भोजन, वस्त्र और निवास आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति होने लगी थी। ये वृक्ष किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होते थे, सभी इनका सामान्य रूप से भोग करते थे। धीरे धीरे राग—अभिलाषा उत्पन्न हुई, स्त्रियों के प्रति मास ऋतुस्त्राव होने लगा और वे बारम्बार गर्भ धारण करने लगी। तब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये। इस प्रकार "सोल्लासा" नामक दूसरी सिद्धि का भी नाश हो गया। अब त्रेता युग में दूसरी प्रकार की वृष्टि हुई। इससे चार शाखाओं वाले फलों के वृक्ष उत्पन्न हुए, मधु भी प्राप्त होने लगा। परन्तु अब राग बढ़ कर लोभ हो गया और लोग इन वृक्षो पर अपना स्वांमित्व स्थापित करने लगे थे, और विवाद होने लगा और फिर ये वृक्ष भी नष्ट हो गये। अब लोग माप करके अपना और पराया घर, ग्राम,नगर आदि बनाने लग गए थे। ये घर—वृक्ष की शाखाओं पर (तुलना करें—होमर कृत 'ओडिसी' में उसके कथा नायक के घर का वर्णन) और पर्वत की गुहाओं के अनुकरण पर बनते थे। अब अन्य प्रकार की वृष्टि होने से छोटी बड़ी नदियां उत्पन्न हुई जिनसे ग्राम्य

में उसके कथा नायक के घर का वर्णन) और पर्वत की गुहाओं के अनुकरण पर बनते थे। अब अन्य प्रकार की वृष्टि होने से छोटी बडी नदियां उत्पन्न हुई जिनसे ग्राम्य और आरण्य औषधियां उत्पन्न होने लगी थी। परन्तु अब राग और लोभ के बाद द्वेष भी बढ़ने लगा और वृक्षों और क्षेत्रों पर स्वामित्व के घोर विवाद उत्पन्न हुए थे। इससे ये ओषधियां भी नष्ट हो गई। तब प्रजा की पुकार पर ब्रह्मा ने कर्म सिद्धि से कृषि की प्रक्रिया चलाई और अनेक मर्यादाएं स्थापित कीं (अध्याय ४६ - पार्जीटर कृत आंग्लभाषानुवाद २३८–४५)। आयुर्विज्ञान के मूर्धन्य ग्रन्थ, चरक संहिता में भी *'भ्रश्यति तु कृतयुगे'* कह कर कृतयुग की समाप्ति पर लोभ का उत्पन्न होना और फिर त्रेता में लोभ से अभिद्रोह, अभिद्रोह से अनृत वचन, अनृतवचन से काम, क्रोध, मान, द्वेष, पारुष्य, अभिघात, भय, ताप, शोक, चिन्ता, उद्वेग आदि का उत्पन्न होना कहा गया है (मीमांसक १९७७:६४ पर उद्धृत)।

अन्यत्र, वायु पुराण में यही बात कुछ दूसरी प्रकार से समझाई गई हैं। कहा गया है कि चाक्षुष मन्वन्तर में किसी प्रकार का कोई धान्य नहीं होता था और न पशुपालन अथवा कृषि ही होती थी। किसी प्रकार के विनियम के लिए भी कोई अवकाश नही था— *न सस्यानि न गोरक्षा न कृषिर्न वणिक्पथः। चाक्षुषस्यान्तरे पूर्वमेतदासीत् पुरा किल्।* वे सब तो वैवस्वत मन्वन्तर में ही प्रारम्भ हुए थे— *वैवस्वतेऽन्तरे तस्मिन् सर्वस्यैतस्य संभवः* (६१.७२)। महाभारत में कहा गया है कि पृथुवैन्य के समय में पृथिवी बिना जोते बोये ही सभी आवश्यक अन्न देने लगी थी — *आकृष्टपच्या पृथिवी आसीद्वैन्यस्य कामधुक* (७६६.४)। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पूर्वकाल में पदार्थो के यथाकाम स्वतः ही उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है — *अष्टौ वा एताः कामदुघा आसंस्तामेका समशीर्यत सा कृषिरमवद्धयतेऽस्मै कृषौ य एवं वेद* (तै. ब्रा. ११.५.८)। अन्यत्र, वायुपुराण में आगे कहा गया है कि प्रारम्भ में उत्पन्न औषधियों का अधिक उपयोग अथवा दुरुपयोग के कारण पुनः प्ररोहण बन्द हो गया। तब लोगों की वृत्ति के लिए वार्ता के उपाय किए गए थे। ब्रह्मा ने तभी से कर्म द्वारा सिद्धि प्राप्त करने — *सिद्धिं तु कर्मजां* — वाली कृषिपच्य औषधियों की उत्पत्ति निर्धारित कर दी है— *ततः प्रभृत्यौषध्यः कृष्टपच्यास्तु जज्ञिरे* (८.१५९-६०)। इसी तथ्य का उल्लेख यवन राजदूत मेगस्थनीज ने भी किया है (मजूमदार १९६०.२२१)। इन सभी उल्लेखों में आज के विकासवाद की मान्यता पर आधारित एतिहासिक विकास का लगभग वैसा वर्णन हुआ है जैसा कि गार्डन चाइल्ड और अन्य विद्वानों के अनेक ग्रन्थों में मिलता है। प्रतीत होता है कि इन आधुनिक विद्वानों की तरह ही, हमारे प्राचीन मनीषियों ने भी वैदिक विज्ञान की स्थापनाओं के आधार पर ही, अपने अपने ढंग से क्रमिक विकास का विवरण प्रस्तुत किया था। इन दोनों प्रस्तुतीकरणों में तथ्यों की समानता होते हुए भी जो अन्तर है वह दृष्टिकोण का ही है। जहां पाश्चात्य विद्वान अपने भौतिकवादी दृष्टिकोण से देखते हुए इसे विकास मानते हैं, वहीं भारतीय मनीषा आध्यात्मिक दृष्टि से इसे ह्रास कहती है। भारतीय सृष्टि विज्ञान में अव्यक्त अवस्था को प्रकृति और व्यक्त को विकृति ही तो माना जाता है।

इसी प्रकार भागवत पुराण में राधा—कृष्ण की काम कोलि के पीछे छिपी आध्यात्मिकता की व्याख्या या तो मध्य काल में श्रीधराचार्य अथवा आधुनिक युग में डा०

रसिक विहारी जोशी जैसे विद्वान ही कर सके है। कहीं यह व्याख्या विद्योत्तमा को दिए गए कालिदास के उत्तरों की व्याख्या जैसी ही तो नहीं है? वेद पर से तो बहुजन समाज का अधिकार बहुत पहले ही छीना जा चुका था। मध्यकाल में तो संस्कृत को भी ब्राह्मणों की निजी सम्पत्ति बना दिया गया था। अतः जिन पुराणों की रचना वेद—वंचित बहुजन समाज को शिक्षित करने के के लिए ही हुई थी, उन्हें भी अब वे स्वयं न पढ़कर, पुरोहितों और कथावाचकों द्वारा सुनकर ही समझने लगे थे। वैसे भी सामान्यतया लोग अभिधावृत्ति को ही ग्रहण करते हैं, शब्द के पीछे लक्षणा और व्यंजना को ग्रहण करने के लिए शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में उनको कामशास्त्रीय वर्णन सुनाकर ब्रह्म का अद्वैत — विशिष्टाद्वैत बताना आचार्य रजनीश के 'संभोग से समाधि तक' के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? हम 'भगवान' रजनीश के सुशिक्षित शिष्यों की दशा देख चुके है। इस दशा में ऐसी कथाओं को सुना सुना कर यदि बहुजन समाज का नैतिक पतन और (चढ़ावे के रूप में) आर्थिक शोषण होता हो तो उन्हें, कम से कम वेद विज्ञान की पुर्नस्थापना तक तो, तिलांजलि देनी ही होगी। और जब स्वामी दयानन्द सरस्वती के स्वप्नों का भारत वेद विज्ञान के सार्वभौम प्रचार—प्रसार की सुदृढ़ नींव पर खड़ा हो जायेगा, तब इस रोचक किन्तु अतिशयोक्ति पूर्ण आख्यायिकाओं के संदिग्ध माध्यमों से ज्ञान विज्ञान की शिक्षा का प्रचार—प्रसार करने की कोई आवश्यकता ही नही रह जायेगी। अब यदि ऐसा विचार कर, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पुराणों की उपेक्षा ही नहीं, खण्डन भी किया (स्वामी जी विरचित ग्रन्थों में 'सन्ध्या' के बाद ईस्वी सन् १८६६ में प्रकाशित 'भागवत खण्डनम्' नामक संस्कृत पुस्तक कालक्रम में द्वितीय है - मीमांसक १९८३ १७ ९६) तो बुरा ही क्या था?

६. और उसके बाद - उपाय :

यद्यपि दूरदर्शन पर "अब हम सबके उठ खड़े होने का वक़्त आ गया है" जैसे सस्ते नारे नित्य सुनाए जा रहे हैं, पर उस दिशा में किया जाने वाला कोई सार्थक प्रयास अभी तक दिखाई तो नहीं दिया है। प्रत्युत जो कुछ भी किया जाता दिखाई पड़ रहा है, वह तो सभी को एक साथ बैठाने का ही नहीं, वरन् सुला कर अवनति के अंधकूप में ढकेलने का आयोजन ही अधिक प्रतीत होता है। वस्तुतः भारत और भारतीय बहुजन समाज तभी उठ खड़ा हो सकेगा जब स्वामी दयानन्द सरस्वती का कथन कि "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है और उसका पढ़ना पढ़ाना, सुनना—सुनाना सभी आर्यो (अर्थात् सुशिक्षित और आचरण वान मनुष्यों) का परम धर्म है" सत्य हो जायेगा। परन्तु अभी इसके कार्यरूप में परिणत होने के कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहे हैं। कारण बहुत हैं, अवरोध अनेक है। उनमें से कुछ प्रमुख बाधाओं का उल्लेख करने के साथ ही उनके निराकरण के उपाय भी प्रस्तावित किए जा रहे हैं।

क्षुद्र स्वार्थ बढ़ रहे हैं और उनकी पूर्ति के लिए निकृष्टतम साधन अपनाए जा रहे हैं। देश के तथाकथित कर्णधार वोट पाने के लिए विदेशों से अनुप्राणित विधार्मियों का तुष्टीकरण कर रहे हैं। राष्ट्र नायक उत्कोंच लेकर, देश को बेचते हुए, अपनी जेबें

रहे हैं। जो कुछ स्वर्ण खण्डों के लिए अपनी जननी का ही नहीं हो सका, वह जननी जन्मभूमि का कैसे हो सकेगा? **ऐसे देश, जाति, कुल और मातृद्रोहियों को बलात् हटाना ही होगा।**

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पढ़ने पढाने पर अभूतपूर्व बल दिया था और बल दिया था समस्त देश को एक सूत्र में बांधने में समर्थ हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि पर। स्वयं गुजराती होते हुए भी उन्होंने हिन्दी भाषा का प्रयोग करके अपने इस आग्रह को क्रियात्मक रूप देने में पहल भी की थी। परन्तु आज न केवल विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने वाली, वरन् विदेशी नामों वाली, पाठशालाओं की भीड़ भी बढ़ रही है, वहीं भारतीय बहुजन समाज से एकत्र किए गए धन से चलाए जा रहे दूरदर्शन आदि राजकीय प्रसार माध्यमों से परिवार के लिए प्रसारित किए जाने वाले सभी तथाकथित ज्ञान वर्धक कार्यक्रम आंग्ल अथवा आंग्लबहुला भाषा में ही होते हैं। मात्र कामुक दृश्यों से भरपूर और अवचेतन को सम्मोहित करके सुला देने वाले कार्यक्रम ही हिन्दी भाषा में दिए जाते हैं। यह तो उठ कर खड़ा होने के स्थान पर, बैठे हुए को लिटा ही नहीं, सुला देने का आयोजन ही अधिक प्रतीत होता है। भारतीय समाज को इस षडयंत्र को पहचानना ही होगा और **हठ पूर्वक मातृ भाषा को उसके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कराकर अपनी अस्मिता की रक्षा करनी होगी।**

और भी, पढ़ने पढ़ाने के लिए सुशिक्षा परमावश्यक है। पर अभी भी शिक्षा के क्षेत्र में धन बल और सम्पर्क प्रभाव की जकड़न रंच मात्र भी ढीली नहीं हो पाई है। अपितु, किन्हीं अर्थों में बढ़ी ही है। सुशिक्षा तो दूर, शिक्षा को भी सार्वभौम बनाने के स्थान पर, लोगों को अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित रहते हुए भी उपाधि और पद देने के प्रस्ताव द्वारा उन्हें अशिक्षित ही बने रहने के लिए प्रोत्साहित भी किया जा रहा है। जिस प्रकार प्रत्येक चमक दार वस्तु में यज्ञ को पहचान लेने वालों को, कछुआ पाकर ही सन्तुष्ट हो जाने के कारण, व्रात्य ही रह जाना पड़ा था, उसी प्रकार पीढ़ियों से वंचित लोक को कुछ थोड़ी सी पद— उपाधि की चमक में यह भूलने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है कि विद्या पाकर ही मनुष्य विशिष्ट बनता है— *विद्यातः पुरुष विशेषो भवति* (यास्क १.१६)। उसे पाकर ही सम्पूर्ण कामनाएं सफल होती हैं — *विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः* (श.ब्रा. १०.५.४.१६). इसीलिए महाराज भोज ने अपने प्रबन्ध में लिखा है कि कल्पलता की तरह ही विद्या भी सभी मनोरथों को सिद्धि प्रदान करती है— *किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या* (५)। अतः अब भारतीय बहुजन समाज को इस दुरभिसंधि को भली भांति समझकर, **सम्पूर्ण भारत में एक समान शिक्षा और उसे ग्रहण सामर्थ्य अथवा पात्रता के अनुरूप ही पाने के सार्वभौम अधिकार की मांग उठाकर, जन्म की आकस्मिकता के स्थान पर सायास अर्जित योग्यता को ही वर्ण विभाजन का आधार बनवाना होगा। और इसके साथ ही, पूर्वजों द्वारा अर्जित उपाधियों अथवा उनके व्यवसाय सूचक विशेषणों का बहिष्कार करके, व्यक्ति के निजी नाम के प्रयोग को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य करवाना होगा।**

जब शिक्षा ही नहीं, सुशिक्षा का भी सार्वभौम प्रचार—प्रसार हो जाएगा और पढ़ना—पढ़ना अनिवार्य हो उठेगा, तभी लोगों में वेद पढ़ने और समझने की क्षमता

और योग्यता आ सकेगी। इसी पात्रतानुरूप अनिवार्य शिक्षा के साथ ही सभी स्तरों पर संस्कृत की गहन और गम्भीर शिक्षा अनिवार्य करनी ही होगी। देश की अवनति का श्री गणेश ही तब हुआ था जब बहुजन समाज को वेद वंचित कर दिया गया था। तत्पश्चात् उसे संस्कृत की शिक्षा से भी दूर कर दिया गया था। फिर भी समाज के अवशिष्ट वर्गों में संस्कृत किसी प्रकार जीवित रह गई थी। पर हमारे शत्रुओं को यह भी असह्य हो रहा है और अपने क्षुद्र स्वार्थों में आकण्ठ मग्न हमारे देश और जाति द्रोही राष्ट्र नायक उत्कोच लेकर पंथ परिवर्तन करके पूरी तरह विदेशी बन चुके आत्मद्रोहियों और उनके विदेशी प्रेरणास्त्रोतों की तुष्टि के लिए, उस रही सही संस्कृत का भी लोप करने का षडयंत्र कर रहे हैं। मां के श्रीमुख से सोते समय सुनी सुनाई कहानियों में वृक्षों में जीवन होने की बात का पाश्चात्य वैज्ञानिकों द्वारा प्रत्याख्यान से क्षुमित होकर ही तो आचार्य जगदीश चन्द्र वसु ने परीक्षणों द्वारा सिद्ध करने की प्रेरणा पाई थी। यदि इन्हीं आचार्य की साक्षात् शास्त्रों में गति होती तो उन पर न जाने कितनी वैज्ञानिक सम्भावनाएं प्रकट हो गई होतीं और उन्होंने परम्परागत ज्ञान को सत्य सिद्ध किया होता। इसी प्रकार यदि हमारे 'वयोविद अभियान्त्रिकी' के विशेषज्ञ संस्कृत जानते होते और भारद्वाजीय वृहद् विमान शास्त्र को स्वयं पढ़ कर समझ सकते तो उन्हें पाश्चात्य जगत में अद्यावधि अज्ञात अनेक रहस्यपूर्ण सम्भावनाओं के संकेत मिलते और न केवल स्वदेश और स्वदेशी का मान ही बढ़ता, वरन् देश की रक्षा व्यवस्था भी अत्यन्त सुदृढ़ हो गई होती और '*भ्रातृव्यान.. जनिष्यमाणान्*' भी पराभूत हो गए होते अर्थात् कोई भी देश शत्रुता करने का विचार भी करने का साहस न कर सकता। हमें तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि रैवत ककुद्मिन की ब्रह्म लोक की यात्रा की कथा से परिचित हमारे वैज्ञानिकों ने आइन्स्टीन द्वारा अन्वेषित और प्रचारित सिद्धान्त को पाकर भी लोक प्रवाद समझे जाने के भय से उपेक्षा कर दी होगी। यदि उनका वेदमंत्रों से साक्षात् परिचय होता तो कुछ और ही बात होती। अतः अब भारतीय बहुजन समाज को इन आत्म द्रोहियों और उनके प्रेरणास्त्रोतों से उत्कोच लेकर, उन्हीं के इंगितों पर नर्तन करने वाले राष्ट्र द्रोहियों की दुरभिसन्धि को विफल करते हुए, संस्कृत शिक्षा को उच्चतम श्रेणियों तक सुप्रतिष्ठित करना ही होगा।

जब ये चारों बाते अर्थात् १,देश ,जाति ,कुल और मातृ द्रोही सत्ता से बहिष्कृत कर दिये जायेंगे,२, मातृ भाषा अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित हो जाएगी,३, समान शिक्षा पर पात्रता के अनुरूप सभी बालकों का आधिकार स्वीकृत होकर,जन्म की आकस्मिकता के स्थान पर अर्जित योग्यता ही वर्ण विभाजन का मानदण्ड बन जाएगी और ४,संस्कृत की शिक्षा उच्चतम श्रेणी तक सभी विषयों के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य कर दी जाएगी, तभी हमारे राष्ट्र के नायक गण संविधान की सत्य शपथ ले कर कैकैयराज अश्वपति की दर्प पूर्ण उक्ति — *"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्ना विद्वान्न स्वैरी, स्वैरिणी कुतो"* (छां.उ.५.११.५) दुहरा सकेगें और तभी स्वामी दयानन्द के ही नहीं , हम सबके स्वप्नों का भारत एक साथ उठ कर खड़ा हो जाएगा और *'कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।अपघ्ननतो अराव्णः'* की वैदिक उक्ति सत्य हो जाएगी।

• • • • • • • • • •